उपनिषद् का उपदेश ।

द्वितीय खण्ड

(कठ और मुण्डक)

विस्तृत अवतरणिका सहित शङ्करभाष्यका

सिद्धान्त

मूललेखक—

श्री कोकिलेश्वर भट्टाचार्य एम० ए०

अनुवादक

वाणीभूषण श्रीमान् पं० नन्दकिशोर जी शुक्ल

महोपदेशक

प्रथमवार १००० | सं० १९७२ | मूल्य १)

Printed by B. D. S. at The Brahm Press
Etawah.

समर्पण।

[१]
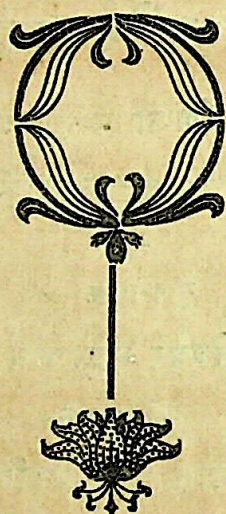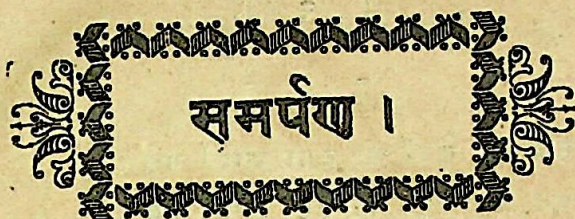
जिसमें प्रभाकर और हैं श्री हर्ष से पण्डित हुए।
स्वामी विशुद्धानन्द से यति शिष्यगणमण्डित हुए॥
जो बौद्ध युग में भी सनातनधर्म का रक्षक रहा।
है यज्ञ में दीक्षित रहा, संसार का शिक्षक रहा॥

[२]

उस कान्यकुब्ज प्रदेश का नामी जिला उन्नाव है।
जिसमें पुराना एक थानायुक्त 'बारा, गांव है॥
श्रीमिश्र कुल दीपक वहां पर 'वैद्यनाथ' सुधी बड़े।
करने लगे दृढ़ भाव से विद्यार्थ तप या व्रत कड़े॥

[३]

बढ़ने लगी विद्या दिनों दिन शास्त्र वे पढ़ने लगे,।
श्री शारदा की ओर पूरे जोर से बढ़ने लगे॥
सन्तोष पर पूरा न उनको जब हुआ तब चल पड़े।
भागीरथी तट ग्राम बक्सर में हुए जाकर खड़े॥

[४]

श्री चंडिका देवी जहां पर जागती दिन रात है।
जगदम्बिका जो पूर्ण करती भक्तगण की बात है॥
उसकी शरण में जा डटे श्रीमिश्र जी निरशन व्रती।
विद्याभिलाषी ब्रह्मचारी श्रद्धया कर्मठ कृती॥

[५]

अति भक्ति के आवेश में जब पूर्ण विह्वल हो गये।
तब एक दिन वे रात्रि में श्री शक्ति के सन्मुख हुए॥
''दुर्गे ? बड़ी विद्या मुझे दे'' बोलकर यों जोश में।
जिह्वा चढ़ा दी काटकर निज मिश्र जी ने होश में॥

[६]

यह देख दारुण कर्म देवी को दया आही गई ।
विश्वास उत्कट प्रेम श्रद्धा की छटा छाही गई ॥
बोली कृपा कर चंडिका विद्या तुम्हें मिल जायगी ।
तुम से अधिक सन्तति तुम्हारी ज्ञानधन को पायगी ॥

[७]

यों भगवती-वरदान से पूरी जिन्हें विद्या मिली ।
उपदेश से जिनके हमारी शेमुषी भी है खिली, ॥
विद्या बृहस्पति जो सुवक्ता साधु सज्जन धीर हैं ।
गम्भीर कवि शास्त्रार्थ में विजयी विवेकी वीर हैं ॥

[८]

वाराणसी में वर्ष बारह ब्रह्मचर्य विधान से ।
बस कर जिन्हों ने बुद्धि को वर्द्धित किया है ज्ञान से ॥
फिर बंबई मद्रास कलकत्तादि में उपदेश कर ।
उपकार भारत का किया है आज तक निज शक्ति भर ॥

[९]

मद चूर्ण नास्तिक निन्दकों का कर दिया शुभ नाद से ।
सद्धर्म का उद्धार सच्चा शुद्ध वैदिक वाद से, ॥
पण्डित जनोचित सरलता है सादगी जिनमें बड़ी ।
सौजन्यता सह शान्ति मानो है सदा सन्मुख खड़ी ॥

[१०]

श्री वैद्यनाथात्मज सुबुध "शङ्करदयालु„ श्रेष्ठ हैं ।
शङ्कर व शङ्कर लेख जिन को प्राण से भी प्रेष्ट हैं ॥
भंडार विद्या को मुझे कृपया जिन्हों ने है दिया ।
अर्पित उन्हीं के कर कमल में ग्रन्थ यह मैंने किया ॥

अनुवादक

* विषयानुक्रमणिका *

प्रथम अध्याय ।

यम और नचिकेता का उपाख्यान

द्वितीय अध्याय ।

शौनक अङ्गिरा सम्वाद

अवतरणिका के विषयों की अनुक्रमणिका बहुत विस्तृत होने के कारण हमने इस सूची में नहीं दी है। इस के सिवाय अवतरणिका के एक २ पृष्ठ में अनेकानेक जटिल विषयों की मीमांसा की गयी है एतदर्थ पाठक उसका आनन्द पूर्ण पाठ कर के ही लाभ करें।

प्रकाशक ।

अद्वैतवादमुकुरः किल शङ्करस्य,
गाढ़ं कुतर्करजसा बहुलावकीर्णः ।
तस्यैव भाष्यमवलम्ब्य मया कृतोऽस्मिन् ,
कामं मलापनयनाय महान् प्रयत्नः ॥ १ ॥

परिचिन्तितमत्र तत्पदं,
ग्रथिता ब्रह्मकथा पुरातनी ।
इदमद्य करे समर्पितम्,
भवतः सादरमात्मतुष्टये ॥ २ ॥

श्रीकोकिलेश्वर भट्टाचार्य
कूचबिहार

परब्रह्म विद्या फिलासफी का वर ग्रन्थ अगार,
श्रीशङ्कराचार्य के मत का सार ज्ञान का हार ।
मुण्डक और कठोपनिषद् का शुद्ध सूक्ष्मतर तत्व,
मनोयोगपूर्वक प्रिय पाठक देखें वेद महत्त्व ।

[२]

वर्णित इस में हुआ पूर्ण है आत्मज्ञान पवित्र,
अद्वितीय अद्वैतवाद का यह है सुन्दर चित्र ।
इससे होगा शान्त अविद्याज्वाला-ताप प्रचंड,
जगमें एकमात्र दीखेगा सोऽहं ब्रह्म अखंड ॥

अनुवादक ।

सूचना।

१—हर्ष है कि भगवत्कृपा से हम द्वितीय खण्ड को लेकर पाठकों के निकट उपस्थित होते हैं।

२—प्रथम खण्ड के अनुवाद से प्रसन्न होकर ग्रन्थकार श्रीयुक्त पण्डितवर श्री कोकिलेश्वर भट्टाचार्य विद्यारत्न एम० ए० महोदय ने द्वितीय तथा तृतीय खंड के अनुवाद की सहर्ष आज्ञा प्रदान कर हमें बहुत ही अनुगृहीत किया है। तदर्थ हिन्दी जगत् की ओर से उन्हें अनेक धन्यवाद है।

३—ब्रह्मप्रेस में कार्याधिक्यवशतः इस पुस्तक के निकलने में कुछ देरी हुई तथा कतिपय अशुद्धियां भी रह गई हैं तदर्थ पाठक क्षमा करें।

४—हमारे अनुवाद कार्य की प्रशंसा कर जिन राजा रईसों, विद्वानों तथा सम्पादक महाशयों ने सहानुभूति प्रकटकी है। उनका हम उपकार मानते हैं।

५—इस को सज्जनों ने अपनाया, तो तीसरा खंड भी शीघ्र प्रकाशित हो जायगा। उस की अवतरणिका में वैदिक देव विषय का बड़ा ही सुन्दर विवेचन है।

उपनिषद् का उपदेश ।

अवतरणिका ।

ग्रन्थ का उद्देश्य ।

१। भारतवर्षके उपनिषद् ग्रन्थ ब्रह्मविद्याके आकर हैं। ब्रह्मविद्याके सम्बन्धमें अवश्य जाननेके योग्य सभी बातें, उपनिषदोंमें बड़ी निपुणताके साथ समालोचित और उपदिष्ट की गई हैं। धर्म के सम्पूर्ण तत्व एवं ब्रह्म और जगत्के सम्बन्धमें प्रयोजनीय सभी विषय उपनिषद् ग्रन्थोंमें बड़ी ही मधुर रीतिसे वर्णित किये गये हैं। किन्तु सुमधुर धर्म तत्वके ये सब ग्रन्थ, प्राचीन संस्कृत भाषामें निबद्ध होनेसे, साधारण पाठकोंके सन्मुख यह रत्न भांडार अब तक उन्मुक्त नहीं हो सका। हिन्दीके पाठकोंके इसी बहुत बड़े अभावको दूर करनेके उद्देश्यसे श्रम सापेक्ष होने पर भी हम इस उपनिषद् व्याख्याके कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। भगवान् शङ्कराचार्य जी ने उपनिषदोंका अत्यन्त सुन्दर विस्तृत भाष्य बनाया है उन्होंने सभी प्रामाणिक व प्राचीन उपनिषदोंकी अनुपम व्याख्याकी है। अलौकिक प्रतिभाशाली महापुरुष भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्य जी सुप्रसिद्ध वेदान्त दर्शनके व्याख्यानमें इन उपनिषदोंके उत्तम मतका सामञ्जस्य और समन्वय दिखलाकर, संसारमें अपनी अतुल कीर्ति स्थापित करते हुए सांसारिक जीवोंके अनन्त कल्याणके मार्गका आविष्कार कर गये हैं। भारतमें प्रख्यात अद्वैत वादके एक प्रकार वही सृष्टिकर्ता हैं, ऐसा कहनेमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। उन्होंने इस अद्वैत मत पर ही सब ग्रन्थोंकी व्याख्या की है। हम भी आज उन्हीं महापुरुषके पदोंका अनुसरण कर उनके सिद्धान्त को हिन्दी भाषामें विवृत करनेके लिये उद्यत हुए हैं।

स्वामी शङ्कराचार्य जी ने अपने वेदान्त दर्शनके शारीरक भाष्यमें सभी उपनिषदोंके विप्रकीर्ण तथा विरुद्धसे प्रतीयमान होने वाले मतोंका परस्पर समन्वय साधन कर, सब जिज्ञासु सज्जनोंके लिये ब्रह्मविद्याका द्वार खोल दिया है। उनकी इस अद्वैतवादात्मक व्याख्या ने ही जगत्में अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्तकी है और वही सर्वत्र श्रद्धाके सहित स्वीकृत हुई है। किन्तु शङ्कराचार्यके उपदिष्ट अद्वैतवाद का यथार्थ मर्म सबकी समझमें नहीं आ सकता।

हमने इससे पहले "उपनिषद्का उपदेश" नामक ग्रन्थके प्रथम खण्डमें शङ्कर भाष्यकी यथार्थ व्याख्याके साथ छान्दोग्य और वृहदारण्यक नामक दो बड़ी उपनिषदोंको प्रकाशित किया है। उस खण्डमें संक्षेपसे अद्वैतवाद का तात्पर्य भी दिखलाया गया है। हर्षकी बात है कि वह ग्रन्थ, भारतकी प्राचीन शैलीकी पण्डित मण्डली द्वारा और नवशिक्षित कृतविद्य महानुभावों द्वारा भी सादर परिगृहीत हुआ है, अतएव इस सहानुभूति लाभसे अधिक उत्साहित होकर हम उपनिषद् का उपदेश नामक ग्रन्थके इस द्वितीय खण्डको प्रकाशित करते हैं। इस खण्डमें कठ और मुण्डक नामक दो उपनिषदोंका अर्थ स्पष्ट किया गया है। शङ्कर भाष्यके पूर्ण अनुवादके सहित उक्त दोनों उपनिषदोंका इस भागमें यथार्थ व्याख्यान लिखा गया है। मूल उपनिषद्द्वय या शङ्कर भाष्यका कोई भी अंश तथा स्थल छूटने नहीं पाया है। *

हम इस ग्रन्थमें एक अवतरणिका लिखते हैं। इसमें उपर्युक्त दोनों उपनिषदोंके उपदिष्ट विषयोंका अवलम्बन कर शङ्कराचार्यके अद्वैत वादकी विस्तृत समालोचना करनेका विचार हैं। शङ्कर स्वामीकी प्रधान प्रधान उक्तियोंको उद्धृत कर उनकी व्याख्या द्वारा अद्वैत सिद्धान्तका वास्तविक मर्म निकालकर उसे हम अपने प्रिय पाठकोंको उपहार देना चाहते हैं। अनेक स्थलोंमें शङ्कर भाष्यका अर्थ निश्चित करनेके लिये हम उनके प्रसिद्ध और प्रामाणिक टीकाकारोंकी उक्तियोंका भी उल्लेख करेंगे। ऐसा करना इस कारण उचित ज्ञात हुआ कि, अनेक विद्वान् कदाचित् इस शङ्कामें पड़ सकते हैं कि इस ग्रन्थमें शङ्कर भाष्यका जो अर्थ और तात्पर्य दिखलाया गया है वह वास्तवमें ठीक नहीं है। इसी लिये हमें टीकाकारोंकी सहायताका प्रयोजन पड़ा है। टीकाकार गण विशेषतः शङ्करके सम सामयिक टीकाकार एवं उनके मतके अत्यन्त अनुगामी शिष्यगण क्या कहते हैं अर्थात् इन नामी विद्वानोंने शङ्कर सिद्धान्तको किस भावसे समझा समझाया है सो भी साथ ही साथ दिखलानेसे भाष्यका अर्थ हमने मनमाना किया है ऐसा कहनेका सा-

---

* वर्तमान कालमें वैदिक यज्ञोंका प्रचार न होनेसे प्रथम खण्ड में यज्ञात्मक अंश मूल ग्रन्थमें न लिख कर अवतरणिका में उसका विवरण दिया गया है। इस खण्डमें ऐसा करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ी।

छ कोई नहीं कर सकेगा। * किन्तु टीकाकारोंमें भी हम उन्हींका साहाय्य ग्रहण करेंगे जो बहुत ही प्रसिद्ध और प्रामाणिक माने जाते हैं। इस स्थान पर एक श्रेणीके पाठकोंके प्रति हमारी यह विनीत प्रार्थना है कि हमारे सिद्धान्तोंको पढ़नेके पहले, उनके चित्तमें शङ्करके सम्बन्धमें अपूर्व सञ्चित संस्कार हैं, उनको वे अलग कर निरपेक्ष भावसे इस अवतरणिकाको देखनेकी दया करें।

अन्तमें हम इतना और भी कह देना उचित समझते हैं कि, सहज रीतिसे शङ्कर भाष्यका तात्पर्य निकाल लेना ही हमारे इस ग्रन्थका मुख्य उद्देश्य है। भाष्यमें जो सब अंश अस्फुट भाव से हैं, उन सम्पूर्ण स्थलोंकी व्याख्या विस्तार पूर्वक की गई है। किसी किसी स्थान पर ऐसा भी किया है कि भाष्यके किसी अंशमें शङ्कराचार्य जी ने विशेष कुछ नहीं कहा, किन्तु उन्होंने दूसरे स्थलमें ठीक उसी विषय पर अनेक बातें कही हैं। हमने उन सब बातोंको वहांसे उठाकर इसी स्थलमें अविकल ग्रथित कर दिया है। यह अनुवाद व व्याख्याका कार्य इस देशमें ऐसी प्रणालीमें एक दम नूतन एवं बड़ा ही कठिन है। अतएव हमसे भ्रम वा प्रमादका होना विचित्र नहीं। यह सोच कर हम नम्रताके साथ जो भारतके लुप्त रत्नोंके उद्धारमें आन्तरिक यत्नशील हैं, उनके निकट सहानुभूति और सहायता की प्रार्थना करते हैं।

२। अब हम शङ्कराचार्यके अद्वैत वादकी आलोचनामें प्रवृत्त होते हैं।

निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप।

हम शङ्कर भाष्यमें निर्गुण एवं सगुण ब्रह्मका उल्लेख पाते हैं। शङ्करके इस निर्गुण ब्रह्मका स्वरूप क्या है? बहुत विद्वानोंने इस निर्गुण ब्रह्मके तत्वकी व्याख्या करके उसे "शून्य" बना डाला है अर्थात् उसको शून्यतामें पर्यवसित कर डाला है। परन्तु वास्तवमें शङ्करका निर्गुण ब्रह्म न शून्य ही है और न ज्ञानवर्जित ही है। शङ्करा-

---

* सभी टीकाकार जीवन पर्यन्त संस्कृत व्यवसायी तथा साधक रहेहैं। उनकी बुद्धि भी हमसे अधिक प्रखर थी। हम अनेक कामोंमें व्यस्त हैं एवं संस्कृत ग्रन्थालोचना ही हमारा एक मात्र लक्ष्य नहीं है। इस कारण हमें विश्वास है कि श्रुति एवं भाष्यका तात्पर्य टीकाकार गण हमसे अच्छा समझते थे। इस लिये भी उनकी सहायता लेना हमने आवश्यक समझा है।

चार्यने वेदान्त दर्शनके भाष्यमें * सर्व शून्यवादके विरुद्ध तुमुल संग्राम कर शून्यवादका पूरा खण्डन किया है और स्थिर नित्य आत्माकी सत्ताका स्थापन कर दिया है। शङ्कराचार्य प्रणीत सुप्रसिद्ध उपदेश साहस्री नामक वेदान्त ग्रन्थमें भी † शून्यवादका विस्तारित खण्डन देख पड़ता है। साथ ही यह भी सिद्ध किया गया है कि आत्म चैतन्य सत्य ज्ञान व आनन्द स्वरूप है। अतएव समझना चाहिये कि निर्गुण ब्रह्म शून्य स्वरूप नहीं है। तब शङ्कर मतमें निर्गुण ब्रह्मका स्वरूप किस प्रकारका है? इसका उत्तर सुनिये। वृहदारण्यक उपनिषद्के भाष्यमें उन्होंने निरुपाधिक निर्गुण ब्रह्म को पूर्णस्वरूप बतलाया है ‡ शङ्कर प्रणीत 'विवेक चूड़ामणि,, नामक प्रामाणिक ग्रन्थके अनेक स्थानोंमें निर्गुण ब्रह्म "पूर्ण,, और "अनन्त,, स्वरूपसे निर्देश किया गया है ×। शङ्कर दर्शनके सुप्रसिद्ध रत्नप्रभा टीकाकार १। २४ सूत्रके भाष्यमें कहते हैं—" पुरुष इस जगत् प्रपञ्चसे अतीत है वह पूर्ण ब्रह्म स्वरूप है ,, (१)। यह भी कहते हैं कि—" जगत्से परे ब्रह्मका अनन्त स्वरूप विद्यमान है (२)। अतएव इन सब उक्तियोंके द्वारा, निर्गुण ब्रह्म " पूर्ण, व अनन्त स्वरूप है यही सिद्ध होता है। इससे स्पष्ट हो गया कि शङ्कर मतमें निर्गुण ब्रह्म शून्य पदार्थ नहीं है किन्तु उनका निर्गुण ब्रह्म पूर्ण एवं अनन्त स्वरूप है।

निर्गुण ब्रह्म पूर्ण व अनन्त स्वरूप है।

क। अब हम और एक गुरुतर विषयकी आलोचना करना चाहते हैं। शङ्कराचार्य ने अपने निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्मको नित्य ज्ञान स्वरूप एवं नित्य शक्ति स्वरूप कहा है या नहीं? अनेक पुरुषों की धारणा है कि " निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्ममें ज्ञान और शक्ति का कोई स्थान नहीं है। हम आगे शङ्कराचार्यजीके प्रमाणों से ही इस विषयकी मीमांसा में अग्रसर होते हैं।

१। निर्गुण ब्रह्म नित्य ज्ञान स्वरूपहै।

---

* वेदान्त दर्शन अध्याय २ पाद २ सूत्र २० से २७ तक का भाष्य देखो।

(१) इस ग्रन्थ के १६ प्रकरण में १५ व १६ एवं ३०। ४० श्लोक देखो।

(२) न वयमुपहितेन रूपेण पूर्णतां वदामः किन्तु केवलेन स्वरूपेण। ४।१

× परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम्—४६६ श्लोक। प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम्—४५८।

† पुरुषस्तु पूर्णब्रह्मरूपः अतःप्रपञ्चात् ज्यायान्,,।

‡ कल्पितात् जगतो ब्रह्मस्वरूपमनन्तमस्ति। (जगत् कल्पित क्यों कहा गया आगे इसका विचार होगा)।

उपनिषदोंमें स्थान स्थानपर आत्म चैतन्य वा ब्रह्म चैतन्य "स्वप्रकाशरूपसे प्रज्ञान घनरूपसे उल्लिखित हुआ है। प्रकाश शब्दद्वारा ज्ञानही अभिहित हुआ है। सुतरां सर्वत्र ही ब्रह्म पदार्थ ज्ञान स्वरूपमाना गया है। मुण्डकोपनिषद् में तत् शुभ्रं ज्योतिःके भाष्यमेंशङ्कर स्वामी कहते हैं ब्रह्म स्वप्रकाश स्वरूपहै। जगत्में सूर्य अग्नि प्रभृति ज्योतिर्मयपदार्थ ब्रह्मकी ही ज्योति वा प्रकाश द्वारा अन्यान्य पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं। ब्रह्म ही दूसरोंको प्रकाशित करता है, ब्रह्मको कोई भी प्रकाशित नहीं कर सकता *। ब्रह्म चैतन्य ही समस्त संसार का अवभासक (प्रकाशक) होनेसे, ज्योतिःस्वरूप व प्रकाशस्वरूप कहा जाता है इसी लिये छान्दोग्य में लिखा है कि,—" जब अज्ञानता नष्ट होकर मुख्य ज्ञानका उदय होता है, तब आत्माकी ज्योति खिल पड़ती है,...यही ज्योति आत्मा का प्रकृत स्वरूप है " †। उपदेश साहस्री ग्रन्थमें टीकाकारने स्पष्ट ही कह दिया है कि, " श्रुतिमें आत्माका निर्देश "ज्योति" शब्द द्वारा किया गया है, इसका अभिप्राय इतना ही है कि आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है " ‡। ब्रह्माके स्वरूपका निर्देश करती हुई श्रुति कहती है—" सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म "। इसके भाष्यमें भी शङ्कर ने ब्रह्मको नित्यज्ञान स्वरूप

ब्रह्म प्रकाश स्वरूप व ज्योति स्वरूप हैं।

---

* " ज्योतिषांसर्वं प्रकाशात्मनां अग्न्यादीनामपि तज्ज्योतिरवभासकम्। "' तद्धि परं ज्योतिरन्यानवभास्यम् ;(२। २। ९) वेदान्तदर्शन के १। १। २४ एवं १। ३। २२ सूत्रमें ब्रह्म ज्योतिस्वरूप व ज्ञान स्वरूप प्रदर्शित हुआ है।

† " एष सम्प्रसादः"'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते"'एष आत्मा" इत्यादि (८। ३। ४) वेदान्तदर्शन के (१। ३। १९) भाष्यमें शङ्करने कहा है कि, देहादि जड़ वस्तुमें आत्मबोध वा अहं—बोध स्थापन ही अज्ञान अविवेक है। ज्ञानके वा उदयसे यह अविवेक दूर हो जाता है। यह कह कर (१। ३। ४०) सूत्रके व्याख्यानमें कहते हैं, अविवेक दूर होते ही आत्माकी मुख्य ज्योति वा ज्ञान निकल पड़ता है यह ज्ञान ही आत्माका स्वरूप है।

‡ " ज्ञानमात्मनः स्वरूपं—" तद्देवाः ज्योतिषां ज्योतिः, " अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः"—इत्यादि श्रुतेः, अतः नित्यमेव" (१८। ६६)।

कहा है। अनेक स्थानों में ब्रह्म "निर्विशेष चिन्मात्र" कहा गया है। इस ज्ञानमें कोई विशेषत्व वा बिकार नहीं है यह पूर्ण व अनन्त है। अत एव हम उक्त सब प्रमाणोंसे ब्रह्मको ज्ञानस्वरूप समझते हैं। श्रुतिके और भी एक तत्वका मनन कर लेनेसे यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जाती है श्रुतिमें जीवकी सुषुप्ति अवस्थाकी तुलना ब्रह्मस्वरूप प्राप्तिकी अवस्थाके साथ की गई है।

सुषुप्ति अवस्थामें सभी विशेष विशेष विज्ञान एक साधारण ज्ञानके रूप में रह जाते हैं। इसी लिये माण्डूक्य उपनिषद्‌में वह अवस्था "प्रज्ञानघन" कही गयी है। उस समय अन्तःकरणके सहित सभी इन्द्रियां केवल ज्ञानाकार में अवस्थान करती हैं। यह अवस्था बहुत कर ब्रह्मप्राप्ति अवस्थासे मिलती है। इस अवस्थामें केवल प्राणशक्ति देहमें जागृत रहती है। इस प्राण शक्तिसे भी आत्मा स्वतन्त्र होनेसे, सुषुप्ति अवस्थासे भी अतीत एवं "तुरीय" अवस्था है। तुरीय अवस्थामें भी आत्मा ज्ञानस्वरूप कहा गया है*। सुतरां शङ्कर मत निर्गुण ब्रह्म ज्ञानस्वरूप सिद्ध होता है।

तैत्तिरीय-उपनिषद्‌के भाष्यमें शङ्कराचार्यने कहा है—"ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है, वह उसके स्वरूपसे भिन्न नहीं है, अतएव वह नित्य है। शब्द स्पर्शादिक विज्ञान नित्य नहीं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति और उनका नाश देखा जाता है। किन्तु ब्रह्मका ज्ञान वैसा नहीं, वह तो नित्य और अनन्त है †। शङ्करका सत्य सिद्धान्त यह है कि, एक अखण्ड नित्य ज्ञान ही जड़ीय क्रिया वा विकारोंके संसर्गसे, खण्ड खण्ड विविध विज्ञान रूपोंसे ‡ जगत्‌में दर्शन देता है। शब्द स्पर्शादिक सब विज्ञान आत्माके 'ज्ञेय' हैं, सुतरां आत्मा

---

* "तुरीये नित्ये विज्ञप्तिमात्रे परिपूर्णे" माण्डूक्य भाष्य, आनन्दगिरि, मन्त्र ४।

† आत्मनः स्वरूपं ज्ञप्तिर्न ततो व्यतिरिच्यते, अतोनित्यैव। प्राप्तमन्तवत्वं लौकिकस्य ज्ञानस्य अन्तवत्त्वदर्शनात्, अतस्तन्निवृत्यर्थं सहानन्त मिति (२।१)।

‡ शब्दज्ञान, स्पर्शज्ञान, सुखज्ञान प्रभृति अनेक प्रकारके लौकिक ज्ञानों का श्रुतिमें "विज्ञान" शब्द द्वारा निर्देश किया गया है।

नित्य ज्ञानस्वरूप है * । कठोपनिषद्में भाष्यकार कहते हैं—"सब चेतन जीवका ज्ञान ब्रह्म चैतन्यसे ही प्राप्त है" इस स्थलमें ऐसा सिद्धान्त भी देखा जाता है,—"नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा—चैतन्यके रहनेसे ही, मनुष्यको रूप रसादिका ज्ञान होता है। शब्द स्पर्शरूप रस आदिक सभी 'ज्ञेय' पदार्थ हैं, उनमें कोई भी 'ज्ञाता' नहीं हो सकता। क्योंकि, वैसा होनेसे शब्दस्पर्शादिक परस्पर एक दूसरेको जाननेमें समर्थ होते हैं इस लिये इनसे स्वतन्त्र कोई एक ज्ञाता है। बस वही ज्ञाता आत्म चैतन्य है और नित्य ज्ञानस्वरूप उस आत्म—चैतन्यके द्वारा ही शब्द स्पर्श रूप रसादिका बोध होता है †। इसी बातको लक्ष्य कर केनोपनिषद् में भाष्यकार ने जो कुछ कहा है, वह भी उल्लेख—योग्य है। वहां पर शङ्कर कहते हैं कि "सुख दुःखादि समस्त विज्ञानोंके द्रष्टा वा साक्षीके रूपसे आत्मा ही जाना जाता है। बुद्धि का जो कुछ प्रत्यक्ष वा विज्ञान अनुभूत होता है, उस सब विज्ञानके साथ—उस सब विकारी विज्ञानका अन्तरालवर्ती होकर,

शब्दस्पर्शादिक विज्ञान आत्माका 'ज्ञेय' हैं

---

* "नहिज्ञानेऽसतिज्ञेयं नाम भवति। व्यभिचारि तु ज्ञान ज्ञेयं व्यभिचरति कदाचिदपि" (शङ्कर—भाष्य, प्रश्नोपनिषद् ६। ३)। इस बातको आनन्दगिरिने यों समझाया है—"घटज्ञानकाले पटाभावसम्भवात् विषयाणां ज्ञानव्यभिचारित्वं, ज्ञानस्य तु विषय—विज्ञानकालेऽवश्यम्भावनियमात् अव्यभिचारित्वम्। ज्ञानस्य विषय—विशिष्टत्वरूपेणैव व्यभिचारः"।

† आत्मचैतन्यनिमित्तमेव च चेतयितृत्वमन्येषाम्...तस्माद्देहादिलक्षणान् रूपादीन् एतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेन विज्ञानस्वभावेन आत्मना विजानीयम्"। (२।१।३)। इसी लिये बृहदारण्यकमें "नान्यदतोऽस्ति विज्ञाता" एवं "न विज्ञाते विज्ञातारं विजानीयाः"—इन सब स्थलों में निर्विकार आत्म—चैतन्यको "विज्ञाता" कहा है। नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मचैतन्य ही बुद्धि के विकाररूप विविध विज्ञानोंका 'विज्ञाता' है। बुद्धिकी वृत्तियां अनित्य हैं विकारी हैं। आत्मचैतन्य नित्य अविक्रिय है। "बुद्धि वृत्तिरूपाया विज्ञातेरनित्यताया विज्ञातारं नित्यविज्ञप्तिरूपेण ज्ञातारम्"—रामतीर्थ।

आत्म—चैतन्य नित्य अविकृत ज्ञानस्वरूप से स्थित रहता है * । विशुद्ध ज्ञानस्वरूप चेतन आत्मा यदि न होता, तो अन्तःकरण में विशेष विशेष विज्ञानों का प्रादुर्भाव कदापि न हो सकता था । अन्तः करण जड़ व परिणामी है । इन्द्रियों व अन्तःकरण की जड़ीय क्रियाओं के संसर्ग से नित्य अखण्ड ज्ञान ही विविध विज्ञानों के रूप में दीख पड़ता है † । नित्यज्ञान स्वरूप चेतन आत्मा है, इसी से बुद्धि के अनेक विज्ञान उत्पन्न होते हैं । अन्यथा केवल क्रियात्मक जड़ बुद्धि में 'ज्ञान, किस प्रकार आवेगा ‡ । इस भांति विचार करने से इस सिद्धान्तके द्वारा भी हम यही पाते हैं कि, निर्गुण ब्रह्म चैतन्य नित्यज्ञान स्वरूप है । इसी उद्देश्यसे प्रश्नोपनिषद्में शङ्करने मीमांसाकी है जलमें प्रतिविम्बित सूर्य जैसे एक होकर भी होकर भी अनेक जान पड़ता है उसी प्रकार ज्ञान एक होने पर भी नानाविध नाम रूपोंके भेदसे बहुतरूपों से जगत् में प्रतिभात हो

---

* सर्वबोधान् प्रति बुध्यते सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेषु अविशिष्टतया लक्ष्यते नान्यद्वारा (२ । १२) इसी लिये हम शब्दस्पर्शादिक विज्ञानोंके साथ ही साथ अखण्ड ब्रह्मज्ञानका भी आभास पाते हैं । आनन्दगिरि जी की भी बात सुनिये—नीलपीताद्याकाराणां जड़ानां यच्चैतन्यव्याप्तत्वेन अजड़वदवभासः तं साक्षिणमुपलक्ष्य सोऽहमात्मा ब्रह्मेति यो वेद अविषयतयैव स ब्रह्मविदुच्यते ॥

† अविद्याध्यारोपितसर्वपदार्थाकारैर्विशिष्टतया गृह्यमाणत्वात्, नात्मचैतन्यविज्ञानं सर्वैरभ्युपगम्यते-गीता शङ्कर भाष्य १८ । ५० । न च साक्षात् अन्तःकरणवृत्तीनां जड़ानां प्रकाशकत्वं सम्भवति प्रकाशात्मक वस्तुनि अध्यासादेव तासां प्रकाशकत्वम्.........अतः तद्व्यतिरिक्तः कश्चित् प्रकाशात्मकः अस्ति—ऐतरेयभाष्य टीका, ५ । १ । २

‡ आत्मनि (ज्ञाने) क्रियाकारकतायाः स्वतोऽभावः गीताभाष्य १३ । ३ अज्ञानतावश ही हम जड़ीय खण्ड खण्ड क्रियाओंके सहित नित्य ज्ञानको अभिन्न मानकर, शब्दस्पर्शादिक खण्ड खण्ड विज्ञानोंका अनुभव करते हैं ।

सम्यक् विचार्यमाणे क्रियावत्या बुद्धेरवबोधोनास्ति । बुद्धौ प्रतिविम्बितं चैतन्यं तत्र चित्प्रकाशोदयहेतुर्भवति उपदेशसाहस्रीटीका प्रकरण १८ इसी भांति शब्दस्पर्शादिक विज्ञान उदित होते हैं ।

रहा है * । और ब्रह्मज्ञान स्वरूप होनेसे ही ऐतरेय उपनिषद्में प्रज्ञानं ब्रह्म (५ । १ । २) कहा गया है + ।

ख । हमने ऊपर शङ्कराचार्यकी जो मीमान्सा दिखलाई है, उसीके उपलक्ष्यमें हमने औरभी एक प्रयोजनीय तत्त्व पाया है । इस तत्त्वके सम्बन्धमें भी दो एक बातें कहकर हम इस विषय में अपना कथन समाप्त करेंगे । शङ्करका सिद्धान्त यह है

नित्यज्ञान और लौकिक ज्ञान का सम्बन्ध ।

कि—एक अखण्ड ज्ञान नित्य बना रहता है । इस ज्ञानका न तो परिणाम है न विकार ही है न अवस्थान्तर है और न विशेषत्व ही है । यह सर्वदा एक रूप रहता है । तब संसारमें हम आप जो शब्द स्पर्श सुख दुःखादि विशेष विशेष विज्ञानोंका अनुभव करते हैं, इसका कारण क्या है ? यही कि जड़ीय क्रियाओं के साथ साथ इनके अनुगत होकर उस अखण्ड नित्य ज्ञानका भी विशेषत्व प्रतीत होता है । परन्तु वास्तवमें ज्ञानका न तो अवस्थान्तर है और न विशेषत्व ही है । किन्तु तथापि वह जड़ीय क्रिया के साथ साथ अनुगत रहता है इसी कारण इसी एक अपराधके कारण उसका भी

---

* एकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदात् सवित्रादि जलादि प्रतिबिम्बवत् अनेकधा अवभासते (६ । ८)

+ टीकाकार ज्ञानामृतयति कहते हैं हम चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा नानाविध विज्ञान उपलब्ध करते हैं । प्रत्येक उपलब्धिका एक कर्ता व एक करण है । जो उपलब्ध करता है । वही उपलब्धिका कर्ता है । एवं जिस के द्वारा उपलब्धि की जाती है, वही उसका करण है । जो अनेकात्मक है एवं जो दूसरेके प्रयोजनानुसार परस्पर एक ही उद्देश्यसे एकत्र संहत वा मिलित होकर कार्य करता है, उसीको 'करण, कहते हैं, । सुतरां चक्षु आदि इन्द्रियां वा बुद्धि मन प्रभृति ही करण हैं । और इन सबोंसे स्वतन्त्र आत्मा ही कर्ता है । शुद्ध प्रकाशस्वरूप इस उपलब्धाको (उपलब्धि के कर्ता को) प्रज्ञान कहते हैं । यह प्रज्ञान स्वरूप आत्मा अन्तःकरणके साक्षी रूपसे स्थित रह स्वतन्त्र रहकर ही विषय रूपी विज्ञान समूहका विज्ञाता है । जड़ अन्तःकरण की वृत्तियां (परिणाम) इस स्वप्रकाश विज्ञाता द्वारा व्याप्त होकर ही प्रकाशित होती हैं, नहीं तो ये न जानी जातीं ॥

अवस्थान्तर विशेषत्व अनुभूत होता है *। ज्ञान प्रकाश स्वरूप है। वह क्रिया मात्रको ही प्रकाशित करता है। क्रियाएं जिस जिस भावसे उत्पन्न होंगी, ठीक वैसा ही वैसा उसका प्रकाश भी पड़ेगा। सुतरां इन्द्रिय, बुद्धि प्रभृति क्रियाएं जिस भावसे उत्पन्न होती हैं, तदनुरूप ही उनका प्रकाश भी होता है †। इसी लिये जड़ीय क्रियाओंके सहित तदनुगत ज्ञान को भी हम अभिन्न समझ लेते हैं, और अभिन्न समझ लेनेसे ही उस ज्ञान की भी विशेष विशेष अवस्था सुख दुःख शब्दस्पर्शादि अनेकविध विज्ञान का हम अनुभव करने लगते हैं। फलतः ज्ञान व क्रिया इन दोनोंमें कोई भी किसीका कारण नहीं है उनके बीच कार्य कारण सम्बन्ध Causalrelation नहीं है ‡। शङ्कर कहते हैं, जड़ीय क्रिया ज्ञानको नहीं उत्पन्न कर सकती।

---

* अन्तःकरण देहेन्द्रियोपाधि द्वारेणैव (तद्ब्रह्म) विज्ञानादि शब्दैर्निर्दिश्यते तदनुकारित्वान्न स्वतः। केन भाष्य-२ ९-१०। ज्ञेयावभासकस्य ज्ञानस्य आलोकवत् ज्ञेयाभिव्यञ्जकत्वम्‌ शङ्करभाष्य प्रश्न ६। ८।

† "प्रकाशस्वभावेन युगपत् स्वाध्यस्तसमस्तावभासनमिति न तस्मिन् (ज्ञाने) परिणाम शङ्का"'निरवयवस्य विशेषासम्भवात्" उपदेश साहस्री टीका १८। १८५।

‡ यदि ज्ञानऔर जड़ीय क्रियामें कार्य कारण सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तो एक बड़ा दोष होगा। शक्तिका ध्वन्स नहीं Conservation of energy इस महातत्त्व का आविष्कार विज्ञानने किया है। इससे निश्चित है कि जड़ीय शक्तिका रूपान्तर होता है ध्वन्स नहीं। वाह्य विषयसे आकर क्रिया ने कर्ण को उत्तेजित किया। वह उत्तेजना स्नायुयोगसे मस्तिष्क में पहुंची। यहां तक जो सब क्रिया हुई वह जड़ीय क्रिया हुई, एवं यह सब परस्पर कार्य कारण सूत्र में बंधी है। किन्तु जब शब्द ज्ञान उपस्थित हुआ तब क्या होता है? ज्ञान तो जड़ वा जड़ीय क्रिया है नहीं उसका तो आकार नहीं अवयव नहीं। सुतरां जब शब्द ज्ञान प्रकट हुआ तब, पहले की जड़ीय क्रिया का (जो सब क्रिया मस्तिष्क पर्यन्त कार्य कारण सूत्रमें ग्रथित हो आई उसका) ध्वन्स हो गया मानना पड़ेगा और जब कोई दुःखादि ज्ञान उदित होकर हस्त प्रसारणादि जड़ीय क्रियाके साथ साथ उत्पन्न होता है तब भी कहना होगा कि कारण के विना ही-असत् से यह हस्त प्रसारण

कोई ज्ञान भी जड़ीय क्रिया को नहीं उत्पन्न कर सकता। जड़ीय क्रिया

ज्ञान और जड़ीय क्रिया में कार्यकारण सम्बन्ध नहीं।

क्रिया मात्र है ज्ञान भी ज्ञान मात्र ही है। वे दोनों एक स्थान में उपस्थित होते हैं, सत्य है किन्तु दोनों चिर स्वतन्त्र हैं *। परन्तु हम उनको स्वतन्त्र न जान कर प्रत्येक जड़ीय क्रिया के साथ ज्ञानको भी अभिन्न मान बैठते हैं। शङ्कर सिद्धान्तमें यही अज्ञानता वा अविद्या का फल है। जब यथार्थ ज्ञान का अभ्युदय होगा तब ज्ञात हो जायगा कि ज्ञान नित्य है, एवं वह जड़ीय क्रियासे अलग परम स्वतन्त्र है। यह ठीक है कि दोनोंमें सम्बन्ध है किन्तु वह कार्यकारण सम्बन्ध नहीं। दोनों एक साथ उपस्थित होते हैं, केवल इतना ही कालगत सम्बन्ध है †।

क्रिया उत्पन्न हुई है क्योंकि दुःख ज्ञान तो जड़ नहीं या उसका कोई अवयव तो है नहीं कि वह दूसरी एक जड़ीय क्रिया को उत्पन्न करेगा। अतएव ज्ञान और जड़ीय क्रिया कोई किसी का कारण नहीं है। वे दोनों केवल एक समय में दीख पड़ते हैं। हम ने यह युक्ति Dr. paulsen के ग्रन्थ (Introduction to philosophy) से ग्रहण की है।

* ज्ञेयंज्ञेयमेव ज्ञाता ज्ञातैव न ज्ञेयं भवति शङ्कर भाष्य गीता १३। ३। अर्थात् जड़ीय क्रियादिक (ज्ञेय) और ज्ञाता चैतन्य दोनों ही स्वतन्त्र हैं। न बुद्धया अन्येन वा चक्षुरादिना ज्ञानमुत्पद्यते, अपिच ज्ञानमात्मनः स्वरूप मतो नित्यम्। उपदेश साहस्री टीका (१८। ६६)। और सन्निहिताध्यक्ष कृतातिशयः बुद्धयादेर्नास्त्येव (१०। ११२) अर्थात् ज्ञान बुद्धयादि जड़ के किसी अतिशय वा विशेष क्रिया को नहीं उत्पन्न कर सकता।

† i. e. physical processes are con comitants of-co-existent with physical movemeuts ब्रह्मण..........अध्यात्ममादेशः (प्रकाशः)...मन प्रत्ययसमकालाभिव्यक्तिधर्मीति एष आदेशः शङ्कर भाष्य केनोपनिषद् ४। ३०। प्रत्यर्थं परिणाम भेदेन व्यञ्जकत्वात् बुद्धेरेव क्रमः (Causal relation) उपयुक्तः कृत्स्नस्य अध्यक्षस्य सर्वविक्षेपास्पदतया सर्वत्रानुगत Concomitant प्रकाशस्वरूपस्य अपरिच्छिन्नस्य आत्मनः न युक्तः सः क्रमः—„उपदेशसाहस्री टीका, १९। १५१।

अज्ञानता के वश हम समझते हैं कि, जड़ीय क्रियाओंके द्वारा ही विविध विज्ञान उत्पन्न होते हैं। इस अज्ञानता का नाश हो जाने पर हम को ज्ञात हो जायगा कि ज्ञान की अवस्था बदलती नहीं। वह अखण्ड रूपसे नित्य वर्तमान रहता है। यही श्रीशङ्कराचार्य का सिद्धान्त है हम इस सिद्धान्तके द्वारा भी जान सकते हैं कि उनका निर्गुण ब्रह्म नित्य ज्ञानस्वरूप है।

दोनों में केवल कालगत सम्बन्ध है

ग। अब यह भी निश्चय करलेना चाहिये कि, शङ्कराचार्यका निष्क्रिय निर्गुण ब्रह्म पूर्ण शक्तिस्वरूप है या नहीं? अनेक श्रुतियों में यह बात पाई जाती है कि, निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म ही यावत् पदार्थों—आधि दैविक व आध्यात्मिक समस्त वस्तुओं—का प्रयोक्ता वा 'प्रेरक' है। इन सब श्रुतियोंके भाष्यमें श्री शङ्कराचार्य जी ने निर्गुण निर्विशेष ब्रह्मको ही सब प्रकारकी प्रवृत्तिका प्रेरक वा मूल कारण स्थिर किया है *। इन सब स्थलोंमें स्पष्ट शब्दोंमें सर्वातीत निर्गुण ब्रह्म ही मूल प्रेरक रूपसे उल्लिखित हुआ है। इस कथनके प्रमाणमें आप वेदान्तदर्शन १। ३। ३९ सूत्रके भाष्यका दृष्टान्त ग्रहण कर सकते हैं। इस भाष्यमें इसी बातकी मीमांसाकी गई है कि, जगत् में सब प्रकारकी प्रवृत्ति किस मूलसे—कहांसे आई है। शङ्करने सिद्ध कर दिखा दिया है कि, आदि मूल परमात्मासे ही जगत् की प्रवृत्तियां निकली हैं। इस स्थानमें कठोपनिषद् का एक मन्त्र उद्धृत कर भाष्यकार ने सर्वातीत निर्गुण ब्रह्मको ही मूल प्रवर्तक सिद्ध किया है। उस मन्त्रमें कार्य कारण, से अतीत परमात्मा की चर्चा है। और शङ्कर—प्रणीत उपदेश साहस्री ग्रन्थमें भी † निर्गुण पूर्ण ब्रह्म ही आध्यात्मिक व आधिदैविक पदार्थों का प्रकृत प्रवर्त्तक वा मुख्य प्रेरक लिखा हुआ है। वेदान्त में इस विषय के सम्बन्ध में दो युक्तियां अवलम्बित हुई हैं। उन

२। निर्गुण ब्रह्म नित्य शक्तिस्वरूप है

---

* इन सब स्थलोंमें 'सगुण' ब्रह्म वा जगत्के उपादान माया शक्तिका निर्देश किया है, ऐसा कहने का उपाय नहीं है [प्रवृत्ति=क्रिया]

† "अध्यात्मं वागादयः, अधिदैवमग्न्यादयश्च, यस्माद्भीताः प्रवर्तन्ते" टीका, १७। ६३। इसी स्थलमें ब्रह्म, नाम रूपसे अतीत व भूमा (पूर्ण) कहा गया है। सुतरां निर्गुण ब्रह्म ही प्रेरक माना गया है "तथाच पूर्णत्वमात्मनः, भूतान्तराणाञ्च तदतिरेकेण सत्तास्फुरणविरहितत्वम्"-आनन्दगिरि, माण्डूक्य ४

दोनों युक्तियों की आलोचना करने से भी निर्गुण ब्रह्म ही पूर्ण शक्ति स्वरूप एवं सबका प्रेरक जान पड़ता है। युक्तियोंको समझ लेनेपर फिर इस विषयमें कुछ भी सन्देह शेष नहीं रह सकता इन दोनों युक्तियों का उल्लेख शङ्कराचार्य जी ने वेदान्त दर्शन और उपनिषदों के भाष्यमें प्रायः किया है। उनकी पहली युक्ति यह है कि, चेतन के अधिष्ठान विना जड़की प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती *। शारीरक भाष्य में शङ्कर कहते हैं, चेतन अश्वादि के द्वारा अधिष्ठित होकर ही रथादिक जड़ पदार्थ अपने गन्तव्य स्थान को पहुंचते हैं। चेतन अश्वादि द्वारा अधिष्ठित न होने पर, अचेतन रथादिक स्वयं गतिशील नहीं हो सकते। आनन्दगिरि ने भी मुण्डक भाष्य (२।२) की व्याख्या में इसी बात को प्रतिध्वनित किया है। चेतन के अधिष्ठान वश ही प्राणादि जड़वर्ग की प्रवृत्ति हुआ करती है। चेतन के अधिष्ठान बिना अचेतन जड़ में स्वयं कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती। † इसीसे पाठक देखें कि जड़ की प्रवृत्ति यदि चेतन के अधिष्ठान वश ही होती है, तब चेतन के शक्ति स्वरूप वा प्रेरक होने में क्या कोई सन्देह हो सकता है? अब आप शङ्कराचार्य जी की दूसरी युक्ति भी सुन लीजिये। वह युक्ति यही है कि किसी एक विशेष उद्देश्य के साधनार्थ जो पदार्थ संहत वा परस्पर मिलित Aggregate होते हैं उन पदार्थोंका यह सम्मिलन उनसे भिन्न पूर्ण स्वतन्त्र चेतन द्वारा ही हुआ करता है कतिपय पदार्थ किसी एक प्रयोजन के साधनार्थ मिले हुए देखने से ही समझ लेना चाहिये कि, वे चेतनके द्वारा ही प्रयुक्त होकर एकत्रित हुए हैं ‡। सुतरां पाठक स्वयं निर्णय करलें कि,

(१) चेतन के अधिष्ठान विना जड़ की किया नहीं देखा जाती।

---

* "नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तः चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वा अनधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते"—शारीरकभाष्य, २।२।२।

† प्राणादिप्रवृत्तिः चेतनाधिष्ठाननिबन्धना जड़प्रवृत्तित्वात् रथादिप्रवृत्तिवत्"।

‡ "एकार्थवृत्तित्वेन संहननं न ह्यन्तरेण चेतनं असंहतं सम्भवति" तैत्तिरीय-भाष्य २।७।२। अर्थात् प्राण, मन प्रभृति जड़वर्ग ने परस्पर मिलित होकर जो शरीर धारण किया है, सो चेतन के ही प्रयोजनार्थ है। और

जड़वर्ग का किसी एक प्रयोजन के निर्वाहार्थ जो संहनन वा मिलन होता है वह जब कि चेतनकर्तृक प्रेरित होकर ही होता है,—तब चेतन शक्तिस्वरूपहै—इसबात में क्या कुछ शङ्का रह सकती है? कदापि नहीं। उक्त दोनों प्रबल युक्तियोंसे शङ्कराचार्य का यह सिद्धान्त अवश्य ही हृदयङ्गम होजाता है कि,—समस्त प्रवृत्ति तथा मिलान क्रिया का एकमात्र कारण निर्गुण चेतन ही है और वह सामर्थ्य स्वरूप है। अतएव तैत्तिरीय उपनिषद्की ब्रह्मवल्ली में भगवान् भाष्यकारने स्पष्ट ही निर्विशेषब्रह्मको सब प्रवृत्तियोंका बीज बतलाया है*।

(२)। जड़ द्रव्य चेतन द्वारा ही एक उद्देश्य में मिलकर कार्य करते हैं।

केनोपनिषद्के भाष्यमें यह बात स्पष्ट लिखी है कि, देहस्थ चक्षुकर्णादि इन्द्रियों एवं मन, प्राण, बुद्धि प्रभृति जड़गणकी क्रिया वा प्रवृत्ति प्रारम्भ में निर्विशेष आत्म—चैतन्यसे ही उद्भूत होती है। शङ्कर—मतमें जीव चैतन्य व परमात्म चैतन्य में स्वरूपतः किसी प्रकार का भेद नहीं स्वीकृत हुआ। जीव में जो जीवात्मा है, वह वास्तविक पक्ष में परमात्म—चैतन्य से भिन्न नहीं है। इसलिये ब्रह्म—चैतन्य ही इन्द्रियादिकों की प्रवृत्ति का मूल बीज माना जायगा। तात्पर्य यह कि चक्षु, कर्ण प्रभृति इन्द्रियादि की प्रवृत्ति वा क्रिया आत्म—चैतन्यसे ही प्रकट होती है। यदि चेतन आत्मा न होता, तो इन्द्रियादिकों की प्रवृत्ति कदापि न हो सकती। क्योंकि आत्म—चैतन्य ही इन्द्रियादिकों का प्रयोक्ता वा प्रेरक है†। अतएव निर्गुण ब्रह्म

(३) दैहिक सब क्रियाका मूलप्रेरक आत्मचैतन्य है।

चेतनसे ही प्रेरित होकर जड़वर्ग का मेल हुआ है। "संघातस्य च लोके परप्रयुक्तस्यैव दर्शनात् भवितव्यमन्येन संघात—प्रयोजकेन,,—आनन्दगिरि, कठभाष्य ५। ५। "यस्य असंहतस्य अर्थे प्राणापानादिः स्वव्यापारं कुर्वन् वर्तते संहतः सन्,,। 'स्वतन्त्र, का अर्थ रत्न—प्रभामें यों लिखा है—"स्वातन्त्र्यं नाम स्वेतरकारक—प्रयोक्तृत्वे सति कारकाप्रेर्यत्वम्,, २। ३। ३७)।

* "यत्सर्वविकल्पास्पदं सर्वप्रवृत्तिबीजं सर्वविशेष—प्रत्यस्तमितमप्यस्ति तद्ब्रह्मेति वेदचेत्,,।

† "सर्वस्यैव करणकलापस्य यस्यार्थे प्रयुक्ता प्रवृत्तिस्तद्ब्रह्मेति प्रकरणार्थः"—शङ्करभाष्य, केन १। २।

सामर्थ्य स्वरूप ही सिद्ध होता है। और, नित्य असंहत * चैतन्यके होने से ही श्रोत्रादि इन्द्रियां अपने अपने विषयकी ओर दौड़ती रहती हैं। अन्यथा ये क्रियाशील न हो सकती थीं, इसी लिये श्रुति में चेतन आत्मा को "श्रोत्र का श्रोत्र" प्राणका प्राण "मनका मन" कहा गया है †। शंकराचार्य जीने और भी स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि, "कूटस्थ, अजर, अभय, निर्गुण ब्रह्म ही इन्द्रियादिकों का 'सामर्थ्य स्वरूप' है। यह सामर्थ्य मूल में है, इसीसे तो इन्द्रियां निज निज विषयकी ओर दौड़ती हैं" ‡ जैसे "वागिन्द्रिय ब्रह्मज्योति द्वारा प्रेरित होकर ही वक्तव्यको प्रकाशित करनेमें समर्थ होती है"। ×।

पाठक, इससे अधिक स्पष्ट कथन और क्या हो सकता है? इसके उपलक्ष्यमें ऐतरेय उपनिषद् चतुर्थ अध्यायके भाष्यमें भी भाष्यकार भगवान् ने एक विचार लिपिबद्ध किया है। उसमें भी यही सिद्धान्त किया है कि, चक्षु आदि इन्द्रियोंकी विषय दर्शनादि शक्ति अनित्य है, किन्तु आत्म चैतन्यकी दर्शनादि शक्ति नित्य और अविकारी है ‡। अत एव हम देखते हैं

---

* जो संहत वा मिलित aggregate नहीं। निरवयव।

† तच्च स्वविषय व्यञ्जन सामर्थ्यं श्रोत्रस्य, चैतन्ये हि आत्मज्योतिषि नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति नासतीति, अतः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्युपपद्यते" केनभाष्य, १। २।

‡ अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्तरतमं कूटस्थमजरममृतमभयमजं श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि तत्सामर्थ्यं—केनभाष्य, १। २।

× येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वागभ्युद्यते, चैतन्य ज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यते इत्य तत् ''''यो वाचमन्तरो यमयतीति वाजसनेयके'''''''' तदेवात्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्वाद्ब्रह्मेति "विद्धि स्पष्ट ही पूर्ण निर्विशेष,, ब्रह्मको सामर्थ्य स्वरूप कहा है।

‡ द्वे दृष्टी, एवं ह्येव चक्षुषोऽनित्या दृष्टिर्नित्या चात्मनः। तथा च द्वे श्रुती, श्रोत्रस्य अनित्या, नित्याऽऽत्मस्वरूपस्य। ''''''''नित्या आत्मनो दृष्टिर्बाह्यानित्यदृष्टेर्ग्राहिका"। यहां एक अविक्रिय नित्य सामर्थ्य स्वरूप ब्रह्म कहा गया है। किन्तु इन्द्रियादिकों की विशेष विशेष क्रियाओंके कारण वह नित्य शक्ति भी भिन्न भिन्न सी जान पड़ती है।

कि, परमात्मा—चैतन्य नित्यशक्ति स्वरूप है, एवं यह नित्यशक्ति अविकृत रह कर ही, इन्द्रियादिक जड़ोंको क्रियाकी प्रवर्त्तक है,—यही श्री शङ्कराचार्य का सिद्धान्त है। इसी लिये वृहदारण्यक के उस सुप्रसिद्ध मन्त्र " नदृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः—की व्याख्या उपदेश साहस्री ग्रन्थमें निम्नलिखित प्रकारसे की गई है कि, इन्द्रियादिकों की क्रियाएं अनित्य व विकारी हैं, किन्तु उनके प्रेरक चेतन आत्माकी शक्ति नित्य तथा अविकृत है। इस निर्विकार आत्मशक्ति की सत्ताके वश ही इन्द्रियादिकोंमें क्रियाशीलता है। ऐसा ही भाव वेदान्त दर्शन (१।१।३१) में भी दिखाया गया है। यथा—"प्राण और अपानादिक सभी ब्रह्मके प्रेर्य हैं, एवं ब्रह्म—चैतन्य ही प्रेरक है। सुतरां इन सब युक्तियोंसे यही निर्णय होता है कि, निर्गुण ब्रह्म नित्य सामर्थ्य स्वरूप है।

(४) देहस्थ प्राणशक्ति का भी मूल प्रेरक आत्म चैतन्य है।

अन्य प्रकारसे भी यह तत्व समझाया गया है। श्रुतिके लेखानुसार प्राण शक्ति ही सब भांति की शारीरिक क्रियाओं का मूल है। गर्भ में यह प्राणशक्ति ही सब से पहले भ्रूणदेह में अभिव्यक्त होती है *। यही प्राण शक्ति शरीर को बनाती और बढ़ाती है। सुषुप्ति अवस्था में प्राणियों की इन्द्रियां पहले बुद्धि में लीन होती हैं, और फिर अपनी वृत्तियोंके सहित बुद्धि प्राणशक्ति में विलीन हो जाती है। या प्राणशक्ति में एकीभूत होकर रहती है। इस प्रकार सब भांतिकी दैहिक क्रियाकी मूल भूत इस प्राण शक्ति वा प्राण की क्रिया शक्ति का भी प्रेरक चेतन आत्मा ही है। यह भी सिद्धान्त श्री शङ्कराचार्य ने ही कर दिया है। इसी से ब्रह्म प्राण का भी प्राण माना गया है †। ब्रह्म ही इस प्राण शक्ति का सत्ताप्रद व स्फूर्तिप्रद है। वेदान्त

---

* इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में "इन्द्रियों का कलह„ नामक उपाख्यान देखो।

† देह की सब चेष्टाओं का कारण होने से प्राणको 'आयु, कहते हैं। देहे चेष्टात्मकजीवनहेतुत्वम् प्राणस्य„ रत्नप्रभा, वेदान्त दर्शन १।१।३१ अव्यक्त शक्ति प्रारम्भ में जब स्पन्दन रूप से अभिव्यक्त हुई थी, यह प्राण वही है। यही शरीर में पहले प्रकट होता है और फिर क्रमशः इन्द्रियादिकों को गढ़ डालता है। (सृष्टि तत्व देखो)। ब्रह्म ही इस प्राण का प्रेरक है। रत्नप्रभा की बात सुनिये जीवः" ··· ···प्राणेन सुषुप्तौ एकी भवति तस्य प्राणस्य प्राणं प्रेरकं ब्रह्म स्फूर्तिप्रदमात्मनं ये विदुः ते ब्रह्मविदः।(१।१।२३)।

दर्शन (१ । ३ । ३९) के भाष्य में शङ्कराचार्य ने मीमांसा की है कि कार्य-कारण से अतीत निर्गुण ब्रह्म ही इस प्राण का प्रेरक है *। और अपने अ-तिप्रसिद्ध ग्रन्थ विवेक चूड़ामणि में भी स्पष्ट रीतिसे शङ्कराचार्य ने ब्रह्मको अनन्त ज्ञान स्वरूप एवं अनन्त शक्ति स्वरूप माना है। ५३७ श्लोक में आत्मचैतन्य को अनन्तशक्ति कहा है †। ४६३ श्लोक में ब्रह्म को सद्घन व चिद्घन कहा है। सद्घन शब्द द्वारा ज्ञान स्वरूप समझा जाता है ‡। अतएव उपर्युक्त आलोचना से निर्गुण ब्रह्म नित्य शक्ति स्वरूप वा नित्य-सामर्थ्य स्वरूप सिद्ध होता है इसमें कुछ भी संशय नहीं।

आगे इस सम्बन्ध में और भी एक तत्त्व दिखला देना हम अपना क-र्तव्य समझते हैं। शङ्कराचार्य एवं उनके टीकाकारों ने एक वाक्यसे ब्रह्म चै-तन्य को जगत् के बीजभूत मायाशक्ति का अधिष्ठान माना है। और उन्होंने यह बात वारंवार कही है कि ब्रह्म की ही सत्तामें मायाकी सत्ता है तथा ब्रह्मके ही स्फरणमें माया का स्फुरण है। ब्रह्मसत्ता से अलग स्वतन्त्र रूपसे माया शक्तिकी न तो सत्ता है न स्फुरण है ×। मायाशक्ति क्या है यह बात पीछे लिखी जायगी, यहां पर हम केवल इतना ही दिखावेंगे कि, ब्रह्मसत्ता में ही मायाकी सत्ता है एवं ब्रह्मस्फुरण में ही मायाशक्तिका स्फुरण है,—यह बात कहनेसे निश्चय होता है कि, ब्रह्म शून्य पदार्थ नहीं, किन्तु वह नि-र्गुण सत्ता स्वरूप व स्फुरण स्वरूप है ÷। निर्गुण ब्रह्म ही इस मायाशक्ति

५ जगतके उपादान माया शक्तिका भी मूल प्रेरक ब्रह्म है

* प्राणस्य प्राणमितिदर्शनात् एजयितृत्वमपि परमात्मन एव उपपद्यते (शङ्कर) सर्वचेष्टाहेतुत्वं ब्रह्मलिङ्गमस्ति (रत्नप्रभा)

† "एष स्वयं ज्योतिरनन्तशक्तिः, आत्माऽप्रमेयः सकलानुभूतिः "।

‡ "सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमक्रियम्" अक्रियम्=निर्विकारम्।

× "अधिष्ठानातिरेकेण सत्तास्फूर्त्योरभावात्"।

÷ ब्रह्मका यह 'स्फुरण' अपरिणामी एव अविकारी है। क्योंकि यह अनन्त है पूर्ण है, इसीसे विकारी नहीं। "नहि स्फुरणं सकर्मकं (i. e.) वि-कारी), तस्य सकर्मकत्वप्रसिद्ध्यभावात्"—माण्डूक्ये, आनन्दगिरि, ४ । २६। "कम्पनं चलनं स्थिरत्वप्रच्युति—स्तद्वर्जितं सर्वदा एकरूपम्"—शङ्कर, ईश भाष्य ४। all movements in infinite time and Space form but one single movement—Paulsen.

का अधिष्ठान है, यह बात शङ्कराचार्य ने स्पष्ट कह दी है। ऐतरेय उपनिषद् (५।३) के भाष्यमें वे कहते हैं कि,—निष्क्रिय शान्त, सर्व प्रकार उपाधि वर्जित ब्रह्म ही—जगत्के बीज स्वरूप अव्यक्त शक्ति वा मायाशक्तिका प्रवर्त्तक है *। ईशोपनिषद् आठवें मन्त्रके भाष्यमें भी यही बात पाई जाती है। इस भाष्यमें शङ्कर कहते हैं कि,— "ब्रह्म स्वयं निर्विकार है। इसी निर्विकार ब्रह्ममें, जगत्में प्रकाशित सब भांतिकी कार्य व करण शक्तिके † बीजस्वरूप 'मातरिश्वा' अर्थात् प्राणशक्तिकी वा मायाशक्तिकी ओतप्रोत भावसे स्थिति है। अविक्रिय ब्रह्ममें अवस्थित रहकर यह प्राणशक्ति वा मायाशक्ति, जगत्की यावतीय क्रियाओं का निर्वाह करती है। इसी शक्तिसे अग्नि व सूर्यादिकोंकी ज्वलन दहन-वर्षणादि क्रिया एवं प्राणियोंकी चेष्टात्मक क्रिया होती है ‡। सुतरां देखते हैं कि, जगत् के बीज भूत मायाशक्तिमें क्रियानिर्वाह करनेका जो विविध सामर्थ्य है, वह सामर्थ्य उसके अधिष्ठानभूत ब्रह्म चैतन्यसे ही प्राप्त है। गीता (१३।१३) के भाष्यमें भी आनन्दगिरिने मायाशक्तिके सत्ताप्रद व स्फूर्तिप्रद रूपसे ब्रह्मचैतन्यका निर्देश किया है। उन्होंने उस स्थानमें स्पष्ट कह दिया है कि,—ब्रह्म तो निर्गुण निष्क्रिय और सर्वोपाधिवर्जित है। ब्रह्म वाक्य व मनके भी अगोचर है। इस कारण कोई उसे शून्य न समझ ले, इसी शङ्काके निवारणार्थ कहते हैं कि, ब्रह्म शून्य नहीं, किन्तु वह इन्द्रियादिकोंकी प्रवृत्तिका हेतु है, एवं वही मायाशक्तिको सत्ता व स्फूर्ति प्रदान करता है ×। ब्रह्म ही माया का अधिष्ठान है। और यह माया ही जगदाकार

निर्गुण ब्रह्म ही माया शक्तिका अधिष्ठान है।

---

* "प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिविशेषं निष्क्रियं शान्तं.........सर्वसाधारण व्याकृतजगद्बीज—प्रवर्तकं नियन्तृत्वादन्तर्यामिसंज्ञं भवति" इस स्थलमें मायाशक्तिको 'प्रज्ञा' कहा है, इसका कारण आगे लिखा जायगा।

† कार्य शक्ति—देह और देहके अवयव। करणशक्ति—इन्द्रियादिक।

‡ स्वयमविक्रियमेवसत्। तस्मिन्नात्मतत्त्वेसति नित्यचैतन्यस्वभावे मातरिश्वा.........क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि.........अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि अग्न्यादित्यादीनां ज्वलनदहनादिलक्षणानि दधाति।

× "सर्वविशेषरहितस्य अवाङ्मनसगोचरस्य शून्यत्वे प्राप्ते इन्द्रियादिप्रवृत्तिहेतुत्वेन कल्पितद्वैतसत्ता स्फूर्तिदत्वेन च सत्वं दर्शयन्.........देहादीनां चेतनाधिष्ठितत्वम्"।

से अभिव्यक्त हुई है, सुतरां जगत्की भी सत्ता व स्फरण ब्रह्मसे ही आया है *। अतएव इस समालोचनासे भी जगत्के उपादान मायाशक्तिकी प्रवृत्ति ब्रह्म से प्राप्त होती है, तब शङ्कर-मत में निर्गुण ब्रह्म नित्य शक्तिस्वरूप ही सिद्ध होगया, इसमें अब कुछ भी संशय नहीं रह सकता। हम इस सब समालोचना से पहले बतला आए हैं कि, शङ्कराचार्यने अपने निर्गुण ब्रह्मको पूर्ण व अनन्त स्वरूप कहा है। इस समय हमने दिखला दिया कि, उनका निर्गुण ब्रह्म ज्ञान स्वरूप और शक्तिस्वरूप है। इन सब बातोंको एकत्र कर मनन करनेमे यही सिद्धान्त निकलता है कि, श्रीशङ्कराचार्यके मतमें निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म, पूर्ण ज्ञानस्वरूप और पूर्ण शक्तिस्वरूप है।

३। ब्रह्म अनन्त ज्ञान स्वरूप एवं अनन्त शक्तिस्वरूप है, इस सिद्धान्तको भाष्यकार भगवान्ने अन्य प्रकारसेभी समझा दिया है। उनका यह विचार बड़ा ही सुन्दर चमत्कार पूर्ण अथच अत्यन्त प्रयोजनीय है। इस कारण हम उसका भी उल्लेख यहां पर कर देना चाहते हैं। ब्रह्म पदार्थ तो सब प्रकारके विशेषत्वसे रहित ही श्रुतियोंमें कहा गया है। ब्रह्म निर्गुण व निष्क्रिय है ब्रह्म स्थूल नहीं, सूक्ष्मभी नहीं ह्रस्व नहीं, दीर्घ भी नहीं है†। वह सत् भी नहीं। असत् भी नहीं ब्रह्म कार्यभी नहीं, कारण भी नहीं ‡। ब्रह्म इन्द्रियातीत होनेसे वाणी व मनके अगोचर है। वहां आंख नहीं पहुंच सकती, मनभी नहीं जा सकता और वाणीकी भी उसतक गति नहीं है ‡‡। वह सब प्रकारके शब्दोंके अगोचर है। ब्रह्म न तो ज्ञाता है न ज्ञेय ही है। वह ज्ञानसे अतीत है क्रियासे भी अतीत है ×। वेदमें ब्रह्म वस्तु इसी प्रकार निर्दिष्ट हुई है। अब प्रश्न

"लक्षण" द्वारा ब्रह्मका स्वरूप निर्णीत होता है।

---

* God is the being one universal being, whose power and essenee penetrates and fills all spaces and times palseun-(Introduction to philosophy) Power स्फुरण Essence सत्ता

† "एतद्वै तदक्षरं गार्गि.........अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घमलोहित मस्नेहम्,, इत्यादि। (वृहदारण्यक ५।८,८।)

‡ "अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते ,,-गीता १३। १२ अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ,, (कठ १।२।१४)।

‡‡ ' न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति नो मनो न विद्मो, न विजानीमः। केन १।३।

× ' अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि ,,। केन १।३।

यह है कि ब्रह्म यदि ऐसा ही है तो फिर किस रीतिसे उसे ज्ञानस्वरूप और शक्ति स्वरूप मान सकते हैं? श्रुति ने किस प्रकार उसका सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त स्वरूप,, कह कर निर्देश किया है? श्रुतिने यह भी क्यों कहा कि,-एक मात्र ब्रह्मको ही जानना होगा, ब्रह्मको जान लेने से ही सब जान लिया जाता है ब्रह्मको बिना जाने मुक्तिके पानेका दूसरा कोई उपाय नहीं है *? इस गुरुतर प्रश्नका उत्तर क्या है? यदि ब्रह्म शब्द व मनके ही अगोचर है, तो ज्ञानस्वरूप शक्तिस्वरूप प्रभृति शब्दों द्वारा उस का निर्देश क्यों कर हो सकता है? शङ्कराचार्यजी ने इस समस्याकी भी उत्तम मीमांसा की है। आपने उपर्युक्त शङ्काका समाधान इस प्रकार किया है:—साक्षात् सम्बन्धसे ब्रह्मको जाननेका कोई उपाय नहीं सत्य है किन्तु "लक्षणा, द्वारा उसको जान सकते हैं। साक्षात् सम्बन्धसे किसी शब्दके द्वारा ब्रह्मका निर्देश नहीं किया जाता ठीक है किन्तु "लक्षणा,, द्वारा वह निर्दिष्ट हो सकता है। उपदेशसाहस्री ग्रन्थमें शङ्करने कहा है कि "लक्षणा,, द्वारा ही ब्रह्म ज्ञानस्वरूप व शक्तिस्वरूप जाना जा सकता है एवं इसी प्रकार श्रुतिने जो ब्रह्मको ज्ञेय कहा है सो भी सिद्ध होता है †। शङ्करने तैत्तिरीय (२।१) भाष्यमें भी इस बातको भली भांति समझाया है। उनके इस सब कथनका अर्थ यही है कि साक्षात् सम्बन्ध से ब्रह्मके जाननेका उपाय नहीं है। वह अव्यवहार्य सर्वातीत मनोबुद्धिके अगोचर है। तब ब्रह्मका स्वरूप कैसा है! यदि उसको जानही नहीं सकते तो वेदान्त ने जो कहा है कि केवल उसीको जानना चाहिये, इसका क्या अभिप्राय है? सर्वातीत ब्रह्मके जाननेका उपाय नहीं, ठीक है। एवं वह शब्दके अगोचर है, यह भी ठीक है, किन्तु इस जगत्के सम्पर्क से उसके जानने का उपाय है। वह उपाय किस प्रकार है? सुनिये।

---

* "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"। श्वेताश्वतर, ६।१५। "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" (बृह० ६।८।१६)

† इस ग्रन्थके १८ वें प्रकरण श्लोक ५० में है,—"बुद्धौ गृहीतसम्बन्धैः ज्ञानादिशब्दैः आत्मानं "लक्षणया" बोधयति, अन्यथा·········वेदान्तवेद्यता तस्य न सिद्ध्यंत,,। गीतामें ज्ञेय ब्रह्मका उल्लेख है -"ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यद् ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' इत्यादि

इस जगत्‌में हम विविध 'विज्ञान' एवं विविध सत्ताको देखते रहते हैं। इस विज्ञान व सत्ताके द्वारा ही ब्रह्मके स्वरूपका तत्त्व समझनेमें हम समर्थ होते हैं। दूसरे प्रकारसे वह नहीं जाना जा सकता। बुद्धि वृत्तिमें अभिव्यक्त नानाविध विज्ञानोंके द्वारा, ब्रह्म अनन्त ज्ञानस्वरूप है, यह स्पष्ट समझमें आ जाता है। क्योंकि एक अखण्ड नित्य ज्ञान ही, बुद्धिकी भिन्न भिन्न क्रियाओंके संसर्गसे खण्ड खण्ड रूपसे (विविध विज्ञानोंके रूपसे) प्रकाशित हो रहा है *। परन्तु भ्रमवश होकर हम इसके विपरीत यों मान बैठते हैं कि, वास्तवमें ही ज्ञान खण्ड खण्ड व विकारी है और इस भ्रममें पड़ जानेका कारण यह है कि, हम एक अनन्त ज्ञानको बुद्धिकी अगणित क्रियाओंके सहित अभिन्न समझ लेते हैं। वास्तवमें ज्ञान नित्य अखण्ड है। वह बुद्धिकी क्रियाओंके संसर्ग दोषसे खण्ड खण्ड रूपसे भिन्न भिन्न स्वरूपसे पृथक् पृथक् सा ज्ञात होने लगता है। जो बात ज्ञानके सम्बन्धमें है, सत्ता के बारेमें भी वही बात समझ लीजिये। संसारमें सर्वत्र एक ही सत्ता अनुस्यूत है। प्रत्येक विकारमें एक ही सत्ता अनुप्रविष्ट हो रही है। यह 'सत्ता' क्या है? कार्यके द्वारा ही कारणकी सत्ता निर्धारित होती है। कार्यके विना कारणकी सत्ता नहीं ठहर सकती † प्रलय-कालमें सब कार्य कारणमें लीन थे अर्थात् कारण शक्तिरूपसे लुप्त थे। सृष्टिके समय उसी शक्तिसे बाहर निकले हैं। इस शक्तिको ही कार्यकी सत्ता कहते हैं। यह सत्ता वा शक्तिही कार्योंमें अनुगत हो रही है। जो कारण वा उपादान है, वही कार्य में अनुगत होता

जगत् में अभिव्यक्त ज्ञान व क्रिया के द्वारा ब्रह्मका स्वरूप जाना जाता है।

---

* "बुद्धि धर्मविषयेन 'ज्ञान' शब्देन ब्रह्म लक्ष्यते,. नतूच्यते„ तैत्तिरीय भाष्य, २।१। "आत्मनः स्वरूपं ज्ञप्ति······नित्यैव। तथापि बुद्धेरुपाधिलक्षणायाः चक्षुरादिद्वारैर्विषयाकारेण परिणामिन्या······विज्ञानशब्द वाच्यां विक्रिया रूपा इत्यविवेकिभिः परिकल्प्यन्ते तैत्तिरीय भाष्य,।

† "कार्येण हि लिङ्गेन कारणं ब्रह्म 'सत्, इत्यवगम्यते। माण्डूक्य-कारिका आ० गिरि० १।६। "अन्यथा ग्रहणद्वाराभावात् ब्रह्मणः असत्व प्रसङ्गः— शङ्करः। आकाशादिकारणत्वात् ब्रह्मणो न भासता,,-तैत्तिरीय भाष्य २।६।२।

है, जो कारण नहीं—उपादान नहीं—वह कार्यमें अनुगत नहीं हो सकता *। अतएव शङ्कर मतमें शक्ति ही 'सत्ता' है। कार्योंके भीतर अनुस्यूत इस सत्ता वा शक्तिके द्वारा—अर्थात् इस प्रकार लक्षणसे अनन्त ब्रह्म सत्ता समझ में आ सकती है † यह अनन्त ब्रह्म सत्ताही जगत्की विविध क्रियाओं के संसर्गसे खण्ड खण्ड विशेष विशेष सत्तारूपसे प्रतिभास होती है। निर्विशेष अनन्त ब्रह्मसत्ता ही विशेष विशेष सत्तारूप से संसारमें प्रतिभासित हो रही है। सुतरां जगत्की विशेष विशेष सत्ता वा शक्ति (क्रिया) के द्वारा हम समझ सकते हैं कि ब्रह्म सत्ता वा ब्रह्म शक्ति निर्विशेष व अनन्त है ‡ तैत्तिरीय भाष्यमें शङ्कराचार्यजी ने यही बात कही है। इसी लिये गीता (१३ । १२) भाष्य में उन्हें कहना पड़ा कि—इन्द्रियोंकी भिन्न २ क्रियाओंके द्वारा ब्रह्मकी नित्यशक्तिके अस्तित्व का परिचय मिल जाता है। निर्गुण ब्रह्ममें जो नित्य शक्तिका अस्तित्व है वह इन्द्रियोंकी विशेष २ क्रियाओंसे ही समझा जाता है × भाष्यकारकी उक्त मीमांसाका मनन करनेसे भी हमें भली भांति विदित हो जाता है कि ब्रह्म अनन्त ज्ञानस्वरूप एवं

---

* "प्रलीयमानमपि चदं जगत् शक्त्यवशेषमेव प्रलीयते, शक्तिमूलमेव च प्रभवति शारीरकभाष्य, १ । ३ । ३० । "इदमेव व्याकृतं जगत् प्रागवस्थायाम् बीजशक्त्यवस्थं अव्यक्तशब्दयोग्यम्" शङ्कर। १ । ४ । २ । "उपादानमपि शक्तिः" (रत्नप्रभा)। सदास्पदं हि सर्वं सर्वत्र सद्बुद्ध्यनुगम्यात्" शङ्कर गीता १३ । १५ "कार्यस्य उपादान नियमात्" आ० गिरि गीता १३। २ । "नहि अकारणं कार्यस्य सम्प्रतिष्ठानमुपपद्यते सामर्थ्यात्" प्रश्नोपनिषद्भाष्य ६, १ ।

† "सर्वविशेषप्रत्यस्तमितस्वरूपत्वात् ब्रह्मणो, बाह्यसत्तासामान्यविषयेण सत्यशब्देन 'लक्ष्यते, "सत्यं ब्रह्मेति" तैत्तिरीयभाष्य २ । १ ।

‡ "स्यादिदञ्च अन्यत् ज्ञेयस्य (ब्रह्मणः) सत्ताधिगमद्वारम्"—गीता भाष्य १३ । १४ । अर्थात् इन्द्रियादि विकारी क्रिया द्वारा ज्ञेय निरुपाधिक ब्रह्मकी सत्ताका परिचय पाया जाता है।

× पाणिपादादयः ज्ञेयशक्तिसद्भावनिमित्तस्वकार्या इति ज्ञेयसद्भावे लिङ्गानि। सर्वेन्द्रियोपाधिगुणानुगुण्यभजनशक्तिमत् तद्ब्रह्म। न साक्षादेव जवनादिक्रियावत्त्व प्रदर्शनार्थः गीताभाष्य १३ । १४ ।

अनन्त शक्तिस्वरूप है। और इससे यह भी जाना जाता है कि निर्गुण ब्रह्म जगत्से अतीत होकर भी जगत्के साथ नितान्त निःसम्पर्कित नहीं है। गीताभाष्यकी उक्तियोंसे इन्द्रियोंकी विविध क्रियाएं विकारी एवं परिणामिनी सिद्ध होती हैं। और लक्षणा द्वारा इन सब विकारी क्रियाओंके मूल में निर्विकार शक्ति का होना भी समझ में आगया। यही निर्विशेष शक्ति अविकृत रहती हुई सब विकारी क्रियामात्रमें अनुप्रविष्ट हो रही है। इसी लिये भाष्यकारने कहा है "सर्वेन्द्रियोपाधिगुणानुगुणय भजनशक्तिमत् तद्ब्रह्म। तात्पर्य यह कि निर्विकार ब्रह्मशक्ति सब क्रियाओंमें अनुगत है किन्तु भ्रमजाल में पड़ कर हम लोग इन सब विकारी क्रियाओंके साथ उस अनुगत निर्विकार शक्तिको भी विकारी मान बैठते हैं। यह तत्त्व समझा देनेके लिये ही भाष्यकारने अनेक स्थलोंमें लिखा है ब्रह्म सन्निधिमात्रसे ही इन्द्रियादिका प्रेरक है। अर्थात् ब्रह्म निर्विकार होकर ही सबका प्रेरक है यही तात्पर्य है। यदि ऐसा अभिप्राय नहीं तो यह सिद्धान्त क्योंकर किया जा सकता है कि जड़की अपनी कोई क्रिया नहीं चेतनका अधिष्ठान है इसीसे जड़ क्रियाशील होता है। श्वेताश्वतर (१।३) भाष्य में कहते हैं विशेष विशेष विकारी पदार्थों द्वारा आवृत रहनेके कारण सब पदार्थोंमें अनुगत ब्रह्मकी स्वरूप भूत "शक्ति„ समझमें नहीं आती *। प्रिय पाठक अब तो आपको विदित हो गया होगा कि, क्यों शङ्कराचार्यने 'लक्षणा' द्वारा ब्रह्मको ज्ञानस्वरूप व शक्ति स्वरूप कहा है। गीतामें इस निर्विकार निर्विशेष ब्रह्मशक्तिको भाष्यकारने 'बलशक्ति' कहा है †। इसीके पूर्व श्लोकके भाष्यमें मायाशक्तिका उल्लेख है। यह स्वरूपभूत बलशक्ति मायाशक्ति से भिन्न है ‡ यह भी उन्हों ने उसी स्थान पर बतला दिया है। आनन्दगिरिने भी कठ (६।३) के भाष्यमें यही अभिप्राय निकाला है कि,—असत् वा शून्यसे कोई पदार्थ उ-

---

* तत्तद्विशेषरूपेणावस्थितत्वात् स्वरूपेण शक्तिमात्रेण, अनुपलभ्यमानत्वं ब्रह्मणः„ यह स्वरूप शक्ति ही सब विकारोंमें अनुगत हो रही है।

† नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः अत्यन्त विलक्षण आभ्यां (क्षराक्षराभ्यां) स्वकीयया चैतन्यबल शक्त्या आविश्य ....स्वरूप सद्भाव मात्रेण बिभर्त्ति गीताभाष्य, १५। १७।

‡ क्षरश्च विनाशी एकोराशिः अपरः अक्षरः तद्विपरीतः भगवतो मायाशक्तिः गीताभाष्य, १५। १६।

त्पन्न नहीं हो सकता। शून्य कदापि जगत्के पदार्थोंका उपादान नहीं हो सकता। जगत्की जड़में अवश्य ही एक 'सत्ता' है, जिस सत्ता वा शक्तिका ही नाम प्राण है। इस प्राणकी प्रवृत्ति या क्रियाका भी एक मूल कारण है, जिसको निर्विकार ब्रह्मसत्ता वा ब्रह्मशक्ति कहते हैं * इस लेखसे भी यही सिद्ध होता है कि, निर्विशेष ब्रह्मशक्ति द्वारा प्ररित होकर ही प्राण वा मायाशक्ति जगदाकारसे विकाशित हुई है।

अतएव उपर्युक्त समालोचनासे शङ्करका निर्गुण ब्रह्म पूर्ण ज्ञान स्वरूप एवं पूर्ण शक्तिस्वरूप है, यह सिद्धान्त भलीभांति समझमें आ गया।

मायाशक्ति किसे कहतहैं।

५। अब हम, शङ्कराचार्यकी मायाशक्ति क्या पदार्थ है इसी विषयकी विस्तृत आलोचना में प्रवृत्त होते हैं। इस आलोचना के द्वारा, शङ्कराचार्यका निर्गुण ब्रह्म पूर्णशक्तिस्वरूप है, यह सिद्धान्त और भी प्रस्फुटित हो जायगा।

सृष्टिके पहले ब्रह्मशक्तिका सर्गोन्मुख परिणाम होताहै

ऊपर आप देख आये हैं कि, ब्रह्म अनन्त ज्ञान स्वरूप एवं अनन्त शक्तिस्वरूप है। सृष्टिके पूर्वकालमें इस अनन्त शक्तिने जगदाकारसे अभिव्यक्त होनेका उपक्रम कियाथा। सृष्टिके प्राक्कालमें इस नित्यशक्तिका एक सर्गोन्मुख परिणाम वा अवस्थान्तर उपस्थित हुआ था †। शक्तिके इस परिणाम वा आगन्तुक अवस्था विशेषको लक्ष्य-कर, एक पृथक् नामके द्वारा इसका निरूपण करते हैं। परिणामोन्मुखिनी इस शक्तिका नाम अव्यक्तशक्ति वा प्राणशक्ति या मायाशक्ति है। इसीकी क्रम परिणतिसे जगत् अभिव्यक्त हुआ है। सुतरां यह मायाशक्ति ही जगत्का उपादान

---

* शशविषाणादेरसतः समुत्पत्त्यदर्शनादस्ति सद्रूपं वस्तु जगतोमूलं, तच्च प्राणपदलक्ष्यं प्राणप्रवृत्तेरपि हेतुत्वात्" । मायाशक्तिको परिणामी नित्य और बलशक्तिको अपरिणामी नित्य कहते हैं। मायाशक्ति सविशेष सत्ता एवं बलशक्ति निर्विशेष सत्ता है। आगे इन बातोंका विचार किया जायगा।

† अविद्याया विविधसृष्टिसंस्कारायाः प्रलयावसानेन उद्बुद्ध संस्कारायाः सर्गोन्मुखः कश्चित्परिणामः,, वेदान्त भाष्ये, रत्नप्रभा, १। १। ५। भाष्यकारने स्वय भी जायमान और व्याचिकीर्षित शब्दोंसे इस सर्गोन्मुख परिणाम की ही बात कही है। व्याचिकीर्षित शब्दका तात्पर्य यह है कि अभिव्यक्त होनेके लिये उन्मुख। सुतरां यह पूर्णशक्तिका ही एक अवस्था विशेष—रूपान्तर—मात्र है। (सर्गोन्मुख—अभिव्यक्त होनेके निमित्त उन्मुख)

Material couse है। पूर्णशक्ति व पूर्णज्ञान स्वरूप निर्गुण ब्रह्म, जब इस आगन्तुक मायाशक्तिके द्वारा सृष्टि कार्यमें नियुक्त हुआ, तब उसीको शङ्कराचार्यने 'कारण ब्रह्म' वा 'सद्ब्रह्म' कहकर निर्देश किया है *। निर्गुण ब्रह्म ही इस आगन्तुक मायाशक्ति † के द्वारा जगत्की सृष्टि करता है। उसकी इस अवस्थाका नाम है—'सगुण ब्रह्म' वा 'सद्ब्रह्म' सृष्टि के पूर्व यह शक्ति एकाकार होकर ब्रह्ममें ही स्थित थी, एवं सृष्टिके पहले इस शक्तिका सर्गोन्मुख अवस्थान्तर नहीं था,—इसी अभिप्रायसे मायाशक्तिको

निर्गुण ब्रह्म, शक्तिके योगसे 'सद्ब्रह्म' वा 'कारण ब्रह्म' कहलाता है। यही सगुण ब्रह्म है।

---

* "कार्येण हि लिङ्गेन 'कारणं ब्रह्म' अदृष्टमपि 'सत्' इत्यवगम्यते" (आनन्दगिरि)। " (अन्यथा) ग्रहणद्वाराभावाद् ब्रह्मणः असत्त्वप्रसङ्गः" (शङ्कर)—माण्डूक्यकारिकाभाष्य १।६ गौड़पादभाष्यमें शङ्कर कहते हैं—"सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः"। शक्ति ही जगत्का बीज है, सुतरां इस मायाशक्ति नामक बीजके द्वारा ही निर्गुण ब्रह्मको "सद्ब्रह्म" व "कारण ब्रह्म" कहते हैं। रत्नप्रभामें भी लिखा है—एतदव्यक्तं कूटस्थब्रह्मणः स्रष्टृत्वसिद्ध्यर्थं स्वीकार्यम्।" अर्थवती हि सा, अन्यथा जगत्स्रष्टृत्वं न सिध्यति—शङ्कर, वेदान्तदर्शन, १।४।३। शारीरिक भाष्य (१। २। २१) में भी शङ्कराचार्य्यने कहा है कि, "जायमान (अभिव्यक्तिके उन्मुख) प्रकृतिके द्वारा ही ब्रह्मको सर्वज्ञ वा 'भूतयोनि' (कारण ब्रह्म) कहते हैं" "जायमान प्रकृतित्वेन निर्दिश्य, अनन्तरमपि जायमान—प्रकृतित्वेनैव 'सर्वज्ञं' निर्दिशति"। "जगत्कारणत्वेन उपलक्षितं 'सत्' शब्दवाच्यं ब्रह्म"—उपदेश साहस्री टीका १८। ७८।

† इस मायाशक्तिका श्रुतिमें 'प्रज्ञा' शब्दसे भी व्यवहार किया गया है। जगत्में जो सब विविध विज्ञान, एवं क्रियाएं अभिव्यक्त हुई हैं, उनका बीज यह माया ही है। क्रियाओंका बीज होनेसे यह 'शक्ति' नामसे निर्दिष्ट होती है एवं विज्ञानोंका बीज होनेसे इसे 'प्रज्ञा' कहते हैं। इसीलिये यह विशुद्ध सत्त्व प्रधान भी मानी जाती है। नित्य होकर भी यह शक्ति परिणामिनी है, सुतरां इस शक्तिका ही जगदाकारसे परिणाम होता है। किन्तु इसके आधारभूत—अधिष्ठानभूत नित्यचेतन (नित्य ज्ञान) का कोई परिणाम नहीं होता। इस परिणामिनी शक्तिके विविध

'आगन्तुक' * कहा है। सृष्टि प्रारम्भ होनेके पूर्व क्षणमें एक दूसरी अवस्थाके उपस्थित होते ही, उस अवस्थान्तरकी ओर लक्ष्य करके, एक 'स्वतन्त्र' नामसे—मायाशक्ति नामसे—उसका निर्देश किया गया है। वास्तवमें यह मायाशक्ति—पूर्णशक्तिसे भिन्न 'स्वतन्त्र' कोई वस्तु नहीं। निर्गुण ब्रह्म चैतन्य भी आगन्तुक शक्तिके अधिष्ठातारूपसे † "सगुण ब्रह्म" नामसे निर्दिष्ट हुआ है। यह सगुण ब्रह्म भी—पूर्ण ज्ञानस्वरूप निर्गुण ब्रह्मसे "स्वतन्त्र" कोई वस्तु नहीं है।

मायाशक्तिकी भिन्न भिन्न संज्ञाएं।

भाष्यकारने इस आगन्तुक शक्तिको—'अव्यक्त' 'अव्याकृत' 'अक्षर' 'नाम-रूपका बीज' 'आकाश' 'प्राण' एवं 'माया' 'अविद्या' 'अज्ञान,—इन सब नामोंसे अभिहित किया है। ये सब नाम एक अर्थमें ही प्रयुक्त हुए हैं।

मायाशक्ति केवल 'विज्ञान, वा Idea नहीं।

क। किसी किसीकी ऐसी धारणा है कि, शङ्करकी यह मायाशक्ति वा प्राणशक्ति—जीवके मनका एक अज्ञानात्मक 'संस्कार, वा मात्र है। ऐसी समझके कारण ही, वे लोग शङ्कर स्वामीको 'प्रच्छन्न बौद्ध, एवं 'मायावादी, मानकर उपहास किया करते हैं। किन्तु हमारा यह दृढ विश्वास है कि, उनकी यह धारणा नितान्त ही भ्रान्त है। यह विषय बड़ा ही गुरुतर है, अतएव हम इस अंशमें पाठकोंसे विशेष मनोपयोगपूर्वक विचार करनेकी प्रार्थना करते हैं। हम यहांपर सबसे पहले यह दिखलाते हैं कि, शङ्कराचार्य मायाको इस अर्थमें नहीं समझते हैं एवं उनके टीकाकार भी मायाको केवल अज्ञानात्मक संस्कार

परिणामोंके साथ साथ चैतन्यका भी जो अवस्थान्तर प्रतीत होता है, वही विविध 'विज्ञान' (शब्दज्ञान, सुखज्ञान, रूपज्ञान, प्रभृति) रूपसे परिचित है। सुतरां सब प्रकारके विज्ञानोंकी अभिव्यक्तिकी योग्यता रखनेसे यह मायाशक्ति "प्रज्ञा" कही जाती है।

* आगन्तुक होनेसे ही, इस मायाशक्तिको ब्रह्मकी 'उपाधि' कहते हैं। मायाशक्ति आगन्तुक है, अतएव ब्रह्म इससे स्वतन्त्र है।

† "मायायां स्थितं (ब्रह्म) तदध्यक्षतया"—गीताभाष्य १२। ३।

नहीं मानते हैं। उन्होंने सुस्पष्ट रीतिसे मायाको जड़ जगत्का उपादान Material) कहा है एवं मायाको 'शक्ति, नामसे भी अभिहित किया है।

संसारमें पशु-पक्षि तरु लता मनुष्यादि विविध नामरूपात्मक पदार्थ अभिव्यक्त हुए हैं। पूर्व-प्रलयमें ये सब पदार्थ अव्यक्त भावसे अवस्थित थे। इसीका नाम जगत्की 'पूर्वावस्था, है। श्रुतिमें यह पूर्वावस्था 'अव्यक्त, 'अव्याकृत, अवस्था नामसे कथित हुई है * सभी नाम रूप प्रलय समयमें इसी प्रकार अव्यक्त भावसे ब्रह्ममें विलीन रहते हैं। शङ्कर कहते हैं, यह पूर्वावस्था या अव्यक्तावस्था ही जगत्का 'कारण, है। † कार्य ही कारणके अस्तित्वका परिचय देते हैं।

माया शक्ति जड़ जगत् का उपादान हैं।

कार्यका अस्तित्व न हो, तो कारणके अस्तित्व का भी निर्द्धारण नहीं किया जा सकता है। कार्यकी सत्तासे ही कारणकी सत्ता अनुमित होती है। जगत्के अनेक कार्योंके द्वारा उनके कारणका भी अस्तित्व विदित होजाता है ‡। शङ्कर आचार्यने इस कारणको (अव्यक्तावस्थाको) कार्योंकी 'बीजशक्ति, एवं "दैवीशक्ति" नामसे अभिहित किया है ×। उनका कहना है—"जगत्के यावतीय कार्य प्रलयसमयमें बीज शक्तिरूपसे लीन थे, एवं यह बीजशक्ति ही अभिव्यक्त नाम रूपोंकी पूर्वावस्था

---

* "जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं............प्रागवस्थं अव्यक्तशब्दार्हत्वमभ्युपगम्यते"—वेदान्तभाष्ये शङ्कर, १।४।३। "प्रागवस्थायांजगदिदमव्याकृतमासीत्"—रत्नप्रभा।

† यदि वयं स्वतन्त्रां काञ्चित् प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेन अभ्युपगच्छेम ....न स्वतन्त्रा,,—वेदान्तभाष्य १।४।३।

‡ "कार्येण हि लिङ्गेन कारणं (ब्रह्म) अदृष्टमपि सदित्यवगम्यते, तच्चेदसम्भवेत्............असदेव कारणमपि स्यात्"—गौड़पादकारिका १।६। आनन्दगिरि। कार्यका 'कारण' कार्यकी शक्तिमात्र है, यह भी शङ्करने कहा है—"कारणस्य आत्मभूता शक्तिः, शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्,, वेदान्तभाष्य २।१।१८

× "इदमेव व्याकृतं नामरूपविभिन्नं जगत् प्रागवस्थायाम्............बीजशक्त्यवस्थं अव्यक्त शब्द-योग्यं दर्शयति,,—शारीरिक भाष्य, १।४।२ "सैवं दैवीशक्तिरव्याकृतनामरूपा नामरूपयोः प्रागवस्था,, १।४।९ [दैवीशक्ति परमेश्वराधीना अस्वतन्त्रा]

है।" उन्होंने और भी कहा है कि, "जगत् जब विलीन होता है, तब "शक्ति" रूपसे ही विलीन होता है और फिर इस शक्तिसे ही जगत्की अभिव्यक्ति हुआ करती है *। इस प्रकार शङ्करने स्वयं कार्यों की अव्यक्तावस्थाको 'शक्ति' नामसे निर्दिष्ट किया है। रत्नप्रभामें भी शक्ति शब्दका ऐसा लक्षण लिखा है,—"सब कार्य जब कारणरूपमें विलीन रहते हैं. उस कारण बीजको ही 'शक्ति' कहते हैं„ †। इसलिये शक्ति ही कार्यों का उपादान, है। उपादानके विना प्रलयमें कार्यों की स्थिति नहीं होसकती ‡। रत्नप्रभामें यह भी है कि,—"बड़ा बट वृक्ष जिस प्रकार अपने बीजमें शक्तिरूपसे रहता है, उसी प्रकार प्रलयकालमें कार्य, निज उपादानमें शक्तिस्वरूप से अवस्थान करते हैं +

यह शक्ति वास्तवमें ब्रह्मसे स्वतन्त्र नहीं।

उसके पश्चात् शङ्कराचार्यने हमें बतला दिया है कि, जगत्के कार्य उत्पत्तिसे पूर्व ब्रह्म चैतन्यमें प्राणशक्तिरूपसे स्थित थे। ब्रह्मचैतन्य इस प्राणबीजके द्वारा जगत्का 'कारण, कहलाता है ÷। वस्तुतः यह बीजशक्ति ब्रह्मसे एकान्त भिन्न नहीं है, ब्रह्म की सत्तामें ही इस बीजशक्तिकी सत्ता है। क्योंकि यह ब्रह्मसत्ताकी ही एक विशेष अवस्था मात्र है, एवं जो अवस्था विशेष मात्र है, वह एकान्त

---

* "प्रलीयमानमपि चेदञ्जगत् शक्त्यवशेषमेव प्रलीयते, शक्तिमूलमेवच प्रभवति, इतरथा आकस्मिकत्वप्रसङ्गात्„ शा० भा० १।३।३०।

† "कारणात्मना लीनं कार्यमेव अभिव्यक्तिनियामकतया "शक्तिः„—२।१।१८।

‡ "नहि अकारणे कार्यस्य सम्प्रतिष्ठानमुपपद्यते सामर्थ्यात्„............ प्रश्नोपनिषद्भाष्य ६।१।

+ "स्वोपादाने लीनकार्यरूपा शक्तिस्तु बीजे महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति„ .... १।३।३०। "परतन्त्रत्वादुपादानमपि शक्तिः„............ १।२।२२।

÷ "सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च कारणत्व, व्यपदेशः—शङ्कर, गौड़पादकारिका, १।२। "बीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव ....सतः सत् शब्द वाच्यता,;............शङ्कर। "सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक् प्राणबीजात्मनैव सत्त्वम्„............सर्वभावान् प्राणबीजात्मा जनयति............ शङ्कर १।६।

स्वतन्त्र वा भिन्न नहीं हो सकता। सुतरां इस बीजशक्तिके योगसे ब्रह्म ही जगत्का कारण या 'सद्ब्रह्म, माना जाता है। और यह 'सद्ब्रह्म, ही जगत्के कार्योंमें अनुगत होरहा है, यह बात भी भाष्यकारने बतला दी है *। नहीं तो शक्तिरहित शुद्ध चिन्मात्र चेतन ब्रह्म जड़जगत्का उपादान नहीं हो सकता? इसीसे तो उन्होंने कह दिया कि, "बीजयुक्त † ब्रह्मही श्रुतियोंमें जगत्का उपादान कारण कथित हुआ है।„ प्रिय पाठक, उपर्युक्त समालोचनाके द्वारा हम देखते हैं कि, शङ्कर-सिद्धान्तमें मायाशक्ति कोई विज्ञान वा Idea मात्र नहीं है। उनके मतमें माया इस जड़जगत्की उपादान-शक्ति है। शङ्कराचार्य यदि मायाको विज्ञानमात्र मानते तो फिर वे क्यों 'शून्य वाद, व 'विज्ञानवाद, के विरुद्ध लेखनी उठाते? किस लिये विज्ञानवादका खण्डनकर ‡ जगत्के एक परिणामी उपादानकी सत्ता प्रतिष्ठापित करते?

ख। तब क्यों शङ्कराचार्यने निज प्रणीत वेदान्तभाष्य (१।४।३) में इस मायाशक्ति, वा प्राणशक्ति वा अव्यक्तशक्तिको, 'अविद्यात्मिका, और 'मायामयी, बतलाया है? इसका

इस शक्तिको माया व अविद्या क्यों कहा।

कुछ विशेष तात्पर्य है इस तात्पर्यके ऊपर ही शङ्करका अद्वैतवाद सुप्रतिष्ठित है। इस कारण इस सम्बन्धमें भी शङ्कराचार्यका अभिप्राय संक्षेपसे समालोचनापूर्वक दिखला देना हम उचित समझते हैं। गीता (१२।३) के भाष्यमें शङ्कराचार्यने लिखा है कि,—अविद्याकामनादि अशेष दोषोंका आकर होनेसे यह अव्यक्त वा प्रकृति शक्ति माया कहलाती है।„ यही शक्ति जब जीवकी बुद्धि व इन्द्रियादि रूपसे परिणत होती है, तब जीव अज्ञानसे आच्छन्न हो पड़ता है, एवं इसीके प्रभावसे विषय-कामनासे परि·

---

* "तथा च "सतश्च„ आत्मनः..........अविद्यमानता न विद्यते, सर्वत्र अव्यभिचारात्„ इत्यादि।........गीताभाष्य, २।१६।

† "इतरान् सर्वभावान् प्राणबीजात्मा जनयति„। माण्डूक्ये, गौड़पाद-कारिका भाष्य १।६। केवल शुद्ध चैतन्यसे जगत्के पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते।

‡ वेदान्तदर्शन २।२।२८-३० सूत्रोंके भाष्यमें विज्ञानवादका खण्डन है बृहदारण्यक भाष्यमें भी विज्ञानवाद खण्डित हुआ है।

चलित होकर यथार्थ पथसे परिभ्रष्ट हो जाता है। अविद्या व मायाका प्रभाव जीवके ब्रह्मदर्शनको आवृत कर लेता है। इसका कारण यह अव्यक्त शक्ति ही है। क्योंकि, यह शक्ति ही तो कर्म नियतिके नियमसे जीवके देह व इन्द्रियादिरूपसे अभिव्यक्त हुई है। एवं इन इन्द्रियों व अन्तःकरणके संस्कारवश ही जीव भ्रममें निपतित हुआ है। अविद्या जीवको किस प्रकार भ्रान्त कर देती है?

जीव जब अविद्याच्छन्न होता है, मायामुग्ध होता है,—तब उसे दो प्रकारका भ्रम होता है। पहली भूल यह कि,—

अविद्याच्छन्न जीवको दो प्रकार काभ्रम होता है।

(१) तत्त्वदर्शीजन वास्तविक पक्षमें ब्रह्मको, जगत्के उपादान 'अव्यक्तशक्ति, से एवं अव्यक्तशक्तिके विकार इस जगत्से अर्थात् इन दोनोंसे "स्वतन्त्र„ समझते हैं *।

किन्तु साधारण अज्ञानीजन अविद्याके प्रभावसे यह बात भूल जाते हैं। इस स्वतन्त्रताकी बातको भूलकर अज्ञानी लोग समझते हैं कि, ब्रह्म व शक्तिमें एवं ब्रह्म और जगत्में कोई भेद ही नहीं। यही 'अविवेक, वा 'देहात्मबुद्धि, नामसे वेदान्तमें प्रसिद्ध है। सांख्य-मतमें यही प्रकृति-पुरुषकी अविवेक बुद्धि है। दूसरी भूल यह कि:—

(२) जगत्का उपादान कारण अर्थात् 'अव्यक्त शक्ति, निर्विशेष ब्रह्म-सत्ताकी ही एक विशेष अवस्था वा रूपान्तर मात्र है। सुतरां तत्त्वदर्शीके निकट यथार्थ पक्षमें यह अव्यक्तशक्ति ब्रह्मसत्तासे भिन्न "स्वतन्त्र„ कोई

---

* "अक्षरान्नामरूपबीजोपाधिलक्षितस्वरूपात् ....अव्याकृताख्यमक्षरं ....तस्मादक्षरात् 'परः, निरुपाधिकः पुरुषः„......शङ्कर, मुण्डकभाष्य, २।१।२। "अव्यक्तात् पुरुषः परः„—कठ १।३।११। ...... इसके भाष्यमें ...."अव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतं..........तस्मादव्यक्तात् परः पुरुषः„ वेदान्तभाष्य २।१।१४ में "ताभ्यां (नामरूपाभ्यां) अन्यः "ईश्वरः„ [इस स्थानमें इस नामरूपको 'मायाशक्ति, 'प्रकृति, कहा है] आत्मचैतन्य जगत्से भी स्वतन्त्र है। वेदान्तभाष्य १।३।१९ "शारीरात् समुत्थाय स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते।„

पदार्थ नहीं है। ब्रह्मसत्तामें ही इस शक्तिकी भी सत्ता है *। और जगत्के विविध कार्य भी तत्त्वदर्शीके निकट यथार्थ पक्षमें, इस उपादानशक्तिसे सर्वथा 'स्वतन्त्र, कोई पदार्थ नहीं हो सकते। सभी विकार उपादान कारण वा शक्तिके ही रूपान्तर वा अवस्था विशेष मात्र हैं। सारांश, इस शक्तिकी सत्तामें ही विकारोंकी सत्ता है†। किन्तु अविद्या जालमें पड़े हुए साधारण अज्ञानी लोग इस सत्य बातको भूल जाते हैं। और इसी कारण वे लोग जगत्के उपादान अव्यक्तशक्तिको एक स्वतन्त्र, स्वाधीन पदार्थ मान लेते हैं। एवं विकारोंको भी पृथक् पृथक् एक एक स्वतन्त्र, स्वाधीन (Independent and unrelated) पदार्थ समझ लेते हैं।

अविद्याके प्रभावसे, मायाके प्रतापसे जीवको इस भांति दो प्रकारका भ्रम हुआ करता है। अविद्यावश जीवको भ्रम होता है, इसीसे शङ्करने अव्यक्तशक्तिको 'अविद्यात्मिका, तथा 'मायामयी, कहा है। आगे हम इन सब बातोंकी विस्तृत समालोचना करेंगे। इन सब तत्त्वोंके भीतरीभावका पता न पाकर ही कुछ लोग भगवान् भाष्यकारको 'प्रच्छन्न बौद्ध, एवं 'मायावादी, प्रभृति विशेषणोंसे दूषित करते हैं ??

ग। मायाशक्ति वा प्राणशक्ति वा अव्यक्तशक्ति किसे कहते हैं, सो आप संक्षेपसे देख चुके। अब हम नीचे शङ्करभाष्यसे कतिपय अंश उद्धृत कर सिद्ध करेंगे कि, भाष्यकारने इस 'आगन्तुक, शक्तिको स्वीकार कर लिया है।

शंकरभाष्यमें मायाशक्ति अंगीकृत हुई है।

(१) वेदान्तभाष्यके (१। ४। ३) सूत्रमें शङ्कर कहते हैं:—"यह जगत् अभिव्यक्त होनेके पूर्व अव्यक्तरूपसे ब्रह्ममें स्थित था। जगत्की यह अव्यक्त अवस्था जगत्की 'बीजशक्ति, कही जाती है। ब्रह्ममें यह शक्ति अवश्य ही मानी जायगी, क्योंकि

वेदान्तभाष्य।

---

* "नहि आत्मनोऽन्यत् अनात्मभूतं तत्। ......अतो नामरूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैव आत्मवती.........इति ते तदात्मके उच्येते,, (तैत्तिरीय भाष्य २।६।२)

"जड़प्रपञ्चस्य आगन्तुकतया स्वतः सत्ताभावात्,,—उपदेशसाहस्री चिदात्मातिरेकेण 'पृथक्, वस्तु न सम्भवति,, उपदेशसाहस्री।

† "नतु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चिदस्ति मृत्तिकेत्येव सत्यम्,, शारीरिकभाष्य २।१।१४। "न कारणात् कार्यं 'पृथक्, अस्ति। रत्नप्रभा १।१।८।

(आगन्तुक, परिणामोन्मुख) शक्ति न स्वीकार करने पर निर्विशेष ब्रह्म जगत् की सृष्टि किस के द्वारा करेगा ! शक्ति रहित पदार्थ की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । अतएव ब्रह्म में (आगन्तुक) शक्ति माननी पड़ेगी । तब हम लोग सांख्यवालों की भांति इस शक्ति को ब्रह्म से अत्यन्त स्वतन्त्र नहीं मानते हैं, हम कहते हैं ब्रह्मसत्ता में ही इस शक्ति की सत्ता है, अर्थात् इस की अपनी कोई निजी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है * ।

(२) वेदान्त दर्शन (१ । ४ । ९) सूत्र के भाष्य में शङ्कर लिखते हैं:— 'जगत् में अभिव्यक्त नाम रूप की पूर्ववर्ती अव्यक्त अवस्था ही 'शक्ति, नाम से कथित है । यह शक्ति ' दैवी, है—अर्थात् वह ब्रह्म से एकान्त स्वतन्त्र नहीं है । यही शक्ति विस्तृत होकर तेज अप अन्न रूप से † स्थूल आकार में अभिव्यक्त होती है । सुतरां इस शक्ति को भी त्रिरूपा कहते हैं,, ‡ । शङ्कर ने यहां पर इस शक्ति को तेज, अप्, अन्नादि जड़वर्गकी बीज शक्ति स्पष्ट ही कहा है ।

(३) वेदान्तदर्शन (१ । २ । २२) सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं:—" जगत् में जो कुछ विकार देखा जाता है उस सब विकार से भिन्न

---

* " जगदिदमनभिव्यक्तनामरूपं प्रागवस्थं अव्यक्तशब्दार्हमभ्युपगम्यते । ...... जगत् प्रागवस्थायां ...... वीज शक्त्यवस्थं अव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति । अर्थवती हि सा, नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । ...... परमेश्वराधीनातु इयमस्माभिः प्रागवस्था जगतो अभ्युपगम्यते, न स्वतन्त्रा ,, ।

† ऐतरेय-आरण्यक (२ । १) भाष्य में तेज को 'अन्नाद' (Motion एवं अप् व भूमि को अन्न (Matter) कहा है । " तत्र अब्भूम्योरन्नत्वेन, वायुज्योतिषोऽत्तृत्वेन विनियोगः ,, । सुतरां यह अव्यक्त शक्ति— Motion and matter का वीज है । सृष्टितत्व देखो ।

‡ " सैव दैवी शक्तिरव्याकृतनामरूपा नामरूपयोःप्रागवस्था । .... तस्मात् स्वविकारविषयेण त्रैरूप्येण त्रैरूप्यमुक्तम् । ...... तेजोवन्नानां त्रैरूप्येण त्रिरूपा अजा प्रतिपत्तुं शक्यते ,,।

(सब विकार का वीज) नामरूप की एक वीज शक्ति है । यही 'अक्षर, 'अव्याकृत, और भूतसूक्ष्म, प्रभृति शब्दों से कथित हुई है। यह शक्ति ईश्वर के आश्रित एवं उसकी उपाधि स्वरूप है * । यह शक्ति " भूतसूक्ष्म ' इस कारण कहलाती है कि यही आगे अभिव्यक्त होने वाले जड़वर्ग का 'सूक्ष्म वीज,, है, † ।

(४) कठोपनिषद् (३ । ११) के भाष्यमें शङ्कराचार्यने कहा है:—

कठ-भाष्य ।

"अव्यक्त ही जगत्का मूल बीज है । जगत्में अभिव्यक्त सब कार्यों व करणशक्तिका यह अव्यक्त ही समष्टि स्वरूप है । अर्थात् यह अव्यक्त बीज ही परिणत होकर जागतिक सम्पूर्ण कार्यों व करणोंके रूपोंसे अभिव्यक्त हुआ है । 'अव्यक्त, 'अव्याकृत, 'आकाश, प्रभृति शब्दों द्वारा इसीका निर्देश किया जाता है । वटके बीजमें जिस प्रकार वट-वृक्षकी शक्ति ओत-प्रोत भावसे भरी रहती है, उसी प्रकार यह अव्यक्त भी परमात्म—चैतन्यमें ओतप्रोत भावसे (एक होकर) भरा था ‡ ।,, इस स्थानपर टीकाकार आनन्दगिरिने समझा दिया है कि,—"प्रलयमें जगत्के सब कार्य करण शक्तियोंके सहित शक्तिरूपसे अवस्थान करते हैं । शक्ति नित्य है, उसका ध्वंस नहीं होता । सुतरां शक्तिका

---

* सृष्टिके प्राक्कालमें ब्रह्मशक्तिका ही एक 'आगन्तुक, अवस्थान्तर वा परिणाम स्वीकार किया गया है । वही यह शक्ति है । सुतरां ब्रह्म इससे स्वतन्त्र है । इसीलिये इसको ब्रह्मकी उपाधि कहते हैं । इसके परिणाम फलसे मनुष्य-देह निर्मित होता है, तब निर्गुण ब्रह्म ही 'जीव, नामसे अभिहित होता है । इसलिये भी इसे 'उपाधि, कहते हैं ।

† 'अक्षरमव्याकृतं नामरूपवीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वराश्रयं तस्यैवोपाधिभूतम् । ……… यदि 'प्रधान, मपि-कल्प्यमानं………अव्याकृतादिशब्द-वाच्यं (अर्थात् अस्वतन्त्रं) भूतसूक्ष्मं परिकल्प्यते, कल्प्यताम् ।,,

‡ "अव्यक्तं सर्वस्य जगतो वीजभूतं………सर्वकार्य—करणशक्ति समाहाररूपमव्यक्तमव्याकृताकाशादिशब्दवाच्यं परमात्मनिओतप्रोतभावेन समाश्रितम् । वटकणिकायामिव वटवीजशक्तिः" । कार्यशक्ति-देह और देहके अवयव (कार्यलक्षणाः शरीराकारेण परिणताः आकाशादयः") । करणशक्ति—अन्तःकरण और इन्द्रियां ("करणलक्षणानि इन्द्रियाणि ") ।

अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी शक्तियोंकी समष्टिको ही "मायातत्त्व" कहते हैं *। किन्तु सांख्यकी 'प्रकृति' की भांति, ब्रह्मसे स्वतन्त्र इस अव्यक्तशक्तिकी सत्ताको हम नहीं स्वीकार करते। बटबीजमें स्थित भावी वृक्षकी शक्तिके द्वारा जैसे एक बटबीज दो नहीं हो जाता-एक ही बीज बना रहता है-अर्थात् एकका एक ही रहता है, भीतर शक्तिके रहनेपर भी कुछ एकके स्थानमें दो बीज नहीं हो जाते, न माने जाते हैं, वैसे ही ब्रह्ममें शक्तिके रहनेपर भी, ब्रह्मके अद्वितीयत्वकी कोई हानि नहीं होती। उक्त अव्यक्त ही जगत् का उपादान कारण है। इस उपादान के द्वारा ब्रह्म भी जगत्का कारण कहा जाता है"।

(५) गीताभाष्यमें भी शङ्कर स्वामीने इस मायाशक्तिकी चर्चा अनेक स्थानोंमें की है। कतिपय स्थल यहां उद्धृत किए जाते हैं।

गीता-भाष्य

(क) गीता १३। १९ के भाष्य में आप लिखते हैं-"देह, बुद्धि, व इन्द्रिय प्रभृति, एवं सुख दुःख मोहादि सभी कुछ-सब प्रकार के विकारों की कारण स्वरूपा त्रिगुणमयी ईश्वरकी मायाशक्ति वा प्रकृति शक्तिसे उत्पन्न हुआ है। यदि इस शक्ति को न स्वीकार करोगे, तो जगत् विना कारणके उद्भूत कहना पड़ेगा। ईश्वर का भी ईश्वरत्व न रहेगा। क्योंकि इस शक्तिके द्वारा ही तो ईश्वरका ईश्वरत्व है" †।

(ख) गीता १३। २९ के भाष्य मेंभी आप कहते हैं-"माया ही भगवान् की त्रिगुणमयी प्रकृति है। यही प्रकृति महत्तत्त्वादि कार्य व कारण रूप

---

* भिन्न भिन्न शक्तियां शक्तिरूपसे एक ही हैं,-इस तत्वका आविष्कार अब पाश्चात्य पण्डितों में भी हो गया है। भारतमें यह तत्त्व प्राचीन काल से ही ज्ञात है। वेदान्त भाष्य (१। ३। ३०) में शङ्कर ने कहा है-न च अनेकाकाराणां शक्तयः शक्याः कल्पयितुम्"। सभी शक्तियां मूलतः एक हैं।

† "बुद्ध्यादिदेहेन्द्रियान्तान् गुणांश्च सुखदुःखमोहप्रत्ययाकारपरिणतान् प्रकृतिसम्भवान् विद्धि। प्रकृति ईश्वरस्य विकारकारणं शक्तिः गुणात्मिका माया। ...... प्रकृतिपुरुषयोरुत्पत्तौ ईशितव्याभावात् ईश्वरस्य अनीश्वरत्वप्रसङ्गात्, संसारस्य निर्निमित्ते निर्मोक्षप्रसङ्गात्" (वेदान्तभाष्य (१। ४। ९। त्रिगुणको भूतत्रय, कहा है। यह प्रकृति जड़ भूतत्रयका बीज है।

से परिणत होती है" *। इसी की टीका में आनन्दगिरि कहते हैं "यह माया परब्रह्म की शक्ति है। सांख्य वालोंकी भांति हम इस मायाको ब्रह्म से एकान्त 'स्वतन्त्र' नहीं मानते। इसके परश्लोकमें कहा गया है कि, "जो लोग इस प्रकृतिको एवं प्रकृतिके विकारोंको वस्तुतः ब्रह्मसे 'स्वतन्त्र' नहीं समझते, वे लोग सब पदार्थोंको ब्रह्मसे ही उत्पन्न मान सकते हैं। ऐसे ही व्यक्ति यथार्थ तत्त्वदर्शी हैं"। प्रकृति शक्ति वास्तवमें ब्रह्मसे एकान्त स्वतन्त्र न होनेसे ही, गीता १८।३ के भाष्यमें 'महद्ब्रह्म' नामसे निर्दिष्ट की गई है। यही सर्व भूतोंकी उत्पत्तिका बीज है।

(ग) गीता १५।१६ के भाष्यमें शङ्कराचार्य ने कहा है—"भगवान्की मायाशक्तिको ही 'अक्षर' कहते हैं। यही समस्त विकारोंकी उत्पत्तिका बीज एवं जीवोंके कामना-कर्मादि संस्कारोंका आश्रय स्वरूप है, क्योंकि इस शक्तिके बिना जीवके उक्त सब संस्कार उत्पन्न न हो सकते थे †।

(घ) गीता १३।५ के भाष्यमें देखिये—"ईश्वरकी शक्तिको माया कहते हैं। अव्यक्त और 'अव्याकृत' शब्दसे भी इसका व्यवहार होता है। यह पञ्चभूत व इन्द्रियादि अष्ट प्रकारसे परिणत होती है" ‡।

(ङ) माण्डूक्य उपनिषद्की गौड़पादकारिका (१।२) के भाष्यमें भाष्यकार भगवान्ने बड़ी ही स्पष्टताके साथ इस शक्तिकी बात कही है।:—

माण्डूक्य भाष्य।

---

* "प्रकृतिर्भगवतो माया त्रिगुणात्मिका। .... प्रकृत्यैव च नान्येन महदादि कार्य करण-परिणतया" इत्यादि। टीकामें आ० गि० ने लिखा है "परस्य शक्तिर्माया"।

† "अक्षरस्तद्विपरीतः भगवतो मायाशक्तिः। क्षराख्यस्य......उत्पत्ति-बीजमनेकसंसारिजन्तु-कामकर्मादि संस्काराश्रयः.........उच्यते"। आनन्द गिरिने कहा है—"मायाशक्तिम्बिना भोक्तृणां कर्मादिसंस्कारादेव कार्योत्पत्तिरित्यशङ्क्याह ......मायाशक्तिरुपादानमिति। पाठक देखें माया कोई Idea वा विज्ञान मात्र नहीं। वह जड़ जगत् की उपादान शक्ति है, यह स्पष्ट लिखा है।

‡ "अव्यक्तमव्याकृतमीश्वरशक्तिः मम माया। .... अष्टधा भिन्ना प्रकृतिः"। पञ्चतन्मात्र, अहङ्कार, महत्तत्व और अव्यक्त यही आठ प्रकार की शक्ति है।

"जीवकी सुषुप्ति अवस्था में जैसे प्राणशक्ति अव्यक्त भावसे अवस्थित रहती है वैसे ही प्रलय कालमें भी प्राणशक्ति ब्रह्ममें अव्यक्त वीजके भावसे बनी रहती है। यह अव्यक्त प्राणशक्ति ही जगत्का वीज है एवं इस वीजके द्वारा ही ब्रह्मको श्रुति 'सद्ब्रह्म' वा 'कारण ब्रह्म, कहती है। जिस जिस स्थानमें ब्रह्म जगत्का कारण कहागया है, उस उस स्थानमें इस वीज शक्तिके द्वारा ही वह जगत्का कारण है—यह बात समझनी होगी। यह वीजशक्ति अवश्य ही माननी पड़ेगी, अन्यथा प्रलयावस्थानमें वीजके बिना किस कारणसे सब जीव उत्पन्न होंगे? ब्रह्म में यह वीज रहता है, इसीसे फिर भी सब जीव प्रादुर्भूत होते हैं। सुतरां जगत्की इस बीज शक्तिको अवश्य स्वीकार करना ही चाहिये *।

इसके उपलक्ष्य अर्थात् समर्थनमें आनन्दगिरिने छठे श्लोककी टीकामें जो कहा है, वह भी उल्लेख योग्य है। "कार्य रूपी लिङ्ग (चिन्ह) द्वारा ही कारण का अस्तित्व सूचित होता है। कार्य ही कारणके अस्तित्व का परिचय देता है। ब्रह्म तो अज्ञात है अदृष्ट है। जगत् के कारणरूप से ही केवल ब्रह्म जाना जा सकता है। सुतरां यह कारण सत्ता वा कारणशक्ति स्वीकार न करने पर, ब्रह्म ही 'असत्, हो पड़ता है। सारांश शक्तिसे ही ब्रह्मका अस्तित्व सिद्ध होताहै"†।

इसी शक्ति के द्वारा ब्रह्म जगत्-कारण कहा जाता है।

---

* "निर्बीजतयैव चेत्सति लीनानां सुषुप्ति—प्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात्। ………प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य। ननु तत्र सदेव सौम्येति प्रकृतं (निरुपाधिकं) सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यं? नैष दोषः, वीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राणशब्दत्वं सतः, सत् शब्दवाच्यता च। ………तस्मात् वीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च कारणत्व—व्यपदेशः"।

† शङ्कर स्वयं कहते हैं—"यदि असत्यसेव जन्म स्यात् ब्रह्मणो व्यवहार्यस्य ग्रहण—द्वाराभावात् असत्त्वप्रसङ्गः „—गौड़पादकारिका भाष्य १।६। पाठक देखें, शङ्कर सुस्पष्ट कह रहे हैं कि असत् से जगत् नहीं उत्पन्न होता है। जगत् 'सत्, वा शक्ति से ही उत्पन्न हुआ है। यही शक्ति जगत् में अनुस्यूत अर्थात् गुथी हुई पाई जाती है। शक्ति सम्बलित ब्रह्मही 'सद्ब्रह्म' वा जगत् का कारण है। "तेनशबलमेव (शक्तियुक्तमेव) ब्रह्म अत्र विवक्षितम्"—आ० गिरि०।

(७) इस मायाशक्ति के द्वारा ही निर्गुण ब्रह्म जगत् का कारण कहलाता है यह बात हम ऊपर देख चुके हैं। तथापि इस विषयमें अभी और दो एक प्रमाणों का देना आवश्यक जान पड़ता है।

(क) कठभाष्य (१। ३। ११) की टीका में आनन्द गिरि कहते हैं:— "यह परिणामिनी अव्यक्तशक्ति ही जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्म तो केवल 'उपचारवश ही, इस शक्ति के कारण जगत्का कारण मान लिया जाता है। नहीं तो भला निरवयव ब्रह्म किस प्रकार साक्षात् सम्बन्ध से परिणामी उपादान कारण होगा"? *।

(ख) मुण्डकोपनिषद् २। १। २ की टीका में भी आनन्दगिरिने कहा है,—"यावत् नामरूप का बीज स्वरूप शक्ति है। और इस शक्तिकाबीज (अधिष्ठान) ब्रह्म ही है। यह शक्ति ब्रह्म की उपाधि स्वरूप है। सर्वातीत, विशुद्ध, निर्गुण ब्रह्म—इस शक्ति के बिना जगत्कारण नहीं हो सकता। इसी लिये यह (आगन्तुक) शक्ति ब्रह्म की उपाधि कही जाती है इस शक्तिरूप उपाधि के द्वारा ही ब्रह्म जगत् का कारण है †।

(ग) भाष्यकार ने स्वयं तैत्तिरीय उपनिषद् (२। ६। २) के भाष्यमें प्रकारान्तर से यही तत्व समझाया है—"ब्रह्म को 'सत्य' किस प्रकार कह सकते हो? जिस की सत्ता है वही सत्य है। जो किसी कार्य का कारण नहीं उस की सत्ता समझ में नहीं आ सकती। ब्रह्म आकाशादि का कारण है इसी से यह भी समझा

तैत्तिरीय—भाष्य।

---

* सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमव्यक्तम्। तस्य परमात्म-पारतन्त्र्यात् परमात्मन 'उपचारेण, कारणत्वमुच्यते, नतु अव्यक्तवद्विकारितया"।

† "शक्तिविशेषोऽस्यास्तीति तयोक्तं नामरूपयोर्बीजं ब्रह्म तस्योपाधितया लक्षितं, शुद्धस्य कारणत्वानुपपत्त्या"। सृष्टि होने के पूर्व तक ब्रह्म निर्विशेषभाव से ही था। सृष्टि के प्राक्काल में उस निर्विशेष सत्ता मात्र की एक विशेष अवस्था उपस्थित हुई। यह अवस्थान्तर 'आगन्तुक, व 'कादाचित्क, नाम से कथित हुआ है। यह आगन्तुक होने से ही ब्रह्म के स्वातन्त्र्य की कोई हानि नहीं होती। आगन्तुक होने से ही इसे ब्रह्मकी 'उपाधि, कहते हैं। आनन्दगिरि ने मुण्डक १। १। ८ की टीका में जड़ नाम से भी इस शक्ति का निर्देश किया है "जाड्य-महामायारूपंणैव सम्भवः"।

जाता है कि उस की सत्ता है। इसी लिये वह 'सत्, कहा जाता है। कारण ही कार्य में अनुगत रहता है। अर्थात् हठात् आकर आश्रित रहता है कार्य में अनुगत इस सत्ता के द्वारा ही कारण की सत्ता निर्णीत हुआ करती है „ *। इस स्थल में भी जगत् में अनुगत सत्ता वा शक्ति द्वाराही ब्रह्म 'सत्, कहा गया है। अतः शक्ति युक्त ब्रह्म को ही 'सद्ब्रह्म, वा जगत् का कारण कहते हैं। पाठक इन बातों को मन में रक्खें।

सगुण और निर्गुण ब्रह्म केसम्बन्धका निर्णय।

५। प्रिय पाठक ? ऊपर उद्धृत किए गए सब अंशोंसे सुस्पष्टतया विदित होता है कि, शङ्कर और शङ्करके टीकाकारोंके मत में, जड़ जगत्का उपादान कारण मायाशक्ति, अस्वीकृत नहीं हुई। हम अब तक जो सब युक्तियां लिख आए हैं, उनसे निःसन्देह ज्ञात होगा कि, जो नित्यशक्ति ब्रह्ममें एकाकार होकर टिकी थी, सृष्टिके पूर्व दशामें ब्रह्मके संकल्पवश, उसी शक्तिका एक सर्गोन्मुख परिणाम उपस्थित हुआ, अर्थात् शक्तिने जगदाकारसे अभिव्यक्त होनेके लिये उपक्रम किया। इस आगन्तुक 'परिणाम' को लक्ष्य करके ही इस शक्तिकी 'मायाशक्ति' 'प्राणशक्ति' प्रभृति संज्ञाएं पड़ी हैं। और जो निर्गुण ब्रह्म था, वही इस 'आगन्तुक, शक्तिके योगसे 'सगुण ब्रह्म, नामसे कथित हुआ है। वास्तव में, तत्त्ववेत्ता ज्ञानियोंके समीप,—शक्तिका एक अवस्थान्तर—रूपान्तर उपस्थित होने से ही वह कोई एक 'स्वतन्त्र, पदार्थ माना गया है यह बात ठीक नहीं बोध होती कि, ब्रह्ममें एक 'आगन्तुक, संकल्प वा जगत्सृष्टिकी आलोचना उपस्थित होनेसे ही, वह ज्ञानस्वरूप ब्रह्मसे भिन्न कोई एक 'स्वतन्त्र, वस्तु हो गया। तत्त्वदर्शी जानते हैं कि उसे मनमाना मायाशक्ति कहिये वा और कुछ कहिये किन्तु है वह एक अवस्थान्तर मात्र ही, वह उस पूर्ण शक्ति से व्यतीत वस्तुतः और कुछ भी नहीं। सगुण ब्रह्म भी

---

* "सत्त्वोत्कर्ष एव सत्यत्वमुच्यते।...यस्माच्च जायते किञ्चित् तदस्तीति दृष्टं लोके घटांकुरादिकारणं मृद्बीजादि। तस्मादाकाशादिकारणत्वादस्ति ब्रह्म। नच असतो जातं किञ्चित् गृह्यते कार्यं।... असतश्चेत्कार्यं गृह्यमाणं असदन्वितमेव स्यात्, नचैवं, तस्मादस्ति ब्रह्म„। "बाह्यसत्तासामान्यविषयेण सत्यशब्देन लक्ष्यते सत्यं ब्रह्मेति, सर्व विशेष-प्रत्यस्तमित-स्वरूपत्वात् ब्रह्मणः„।

यथार्थ में निर्गुण ब्रह्म का ही रूपान्तर मात्र है वह भी उस पूर्ण ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से भिन्न और कुछ नहीं है। किन्तु यह मायाशक्ति जब पूर्णशक्ति की एक विशेष अवस्था ही है तब पूर्ण शक्तिस्वरूप ब्रह्म अवश्य ही इस से 'स्वतन्त्र, है। निर्गुण ब्रह्म भी सगुण ब्रह्म से 'स्वतन्त्र, है *। यह तत्त्व सर्वदा मन में रखना होगा। शङ्कर का यह सिद्धांत भूल जाने के कारण ही अनेक लोग उन पर कटाक्ष कर बैठते हैं। हमने ऊपर की आलोचना से इन सब सुन्दर तत्त्वों को पाया है। आगे इन की विशेष आलोचना की जायगी।

६। हम यहां पर अपने पाठकों को और एक विषय में सतर्क या सावधान कर देना चाहते हैं। यद्यपि पूर्ण ब्रह्म—शक्ति और शक्ति के विकार जगत् से 'स्वतन्त्र, है।

निर्गुण ब्रह्म जगत् का 'साक्षी, है।

तथापि वह जगत् से एक बार ही सम्पर्क शून्य नहीं है। यदि वैसा होता तो फिर वह जगत् का कारण नहीं कहा जा सकता शङ्कराचार्य की इस बात को समझने में भी कुछ लोग भूल कर बैठते हैं ब्रह्म जगत् से नितान्त निःसम्पर्कित नहीं यह बात कहकर भाष्यकार ने यही तो समझा दिया है कि साक्षात् सम्बन्ध से अर्थात् जगत् को छोड़कर हम ब्रह्म को नहीं जान सकते। ऐसा होने पर वेदान्त का यह उपदेश व्यर्थ होता है कि एक मात्र ब्रह्मको ही जानना होगा"। परन्तु नहीं, कदापि नहीं। साक्षात् रूपसे नहीं, "लक्षणा" के द्वारा तो † हम ब्रह्मके स्वरूपका निर्णय कर सकते हैं। अच्छा, लक्षणा द्वारा ब्रह्मका स्वरूप जाना जा सकता है, इस कथनका तात्पर्य क्या है? यही कि, साक्षात् सम्बन्धसे—जगत्को छोड़कर- तो नेति नेति, के सिवा ब्रह्म ज्ञानके लिये कोई उपाय है ही नहीं। क्योंकि

---

* "कल्पितस्य अधिष्ठानाऽभेदेपि, अधिष्ठानस्य ततो भेदः„। माया शक्ति 'कल्पित, क्यों कही गई? इस पर आगे आलोचना की जायगी। "नामरूपे ब्रह्मणैव आत्मवती न ब्रह्म तदात्मकम्„—शङ्करः।

† "मुख्यया वृत्त्या ज्ञानादिशब्दवाच्यत्वं आत्मनो नोपपद्यते। ज्ञानादि शब्दा आत्मनि न साक्षात् प्रवर्त्तन्ते। .... ततः, साभासाया बुद्धेर्गृहीत—सम्बन्धैर्ज्ञानादि शब्दैर्वेद आत्मानं लक्षणया बोधयतीति संगच्छते नान्यथा„—उपदेश साहस्रीटीका, १८। ५०—६०।

जो सबसे परे है वह किसी शब्द द्वारा भी निर्दिष्ट नहीं हो सकता। वह वाणी और मनके परे है। सुतरां उस अवाङ्मनसगोचर ब्रह्मको एक मात्र जगत्के सम्बन्धसे ही जान सकते हैं। अर्थात् इस जगत्में जो विविध विज्ञान व क्रियाएं अभिव्यक्त हैं, उनके ही सम्बन्धसे—हम ब्रह्मके पूर्णज्ञान एवं पूर्णसत्ता (पूर्णशक्ति) का आभास पाते रहते हैं *। इस जगत्के साक्षी रूप † से ही वह जाना जा सकता है। पाठक बिचार करें जगत् तो जड़ है एवं प्रतिक्षण जगत्के नानाविध परिणाम हुआ करते हैं। इस जड़ जगत् में ज्ञान किस प्रकार आ गया? इस जटिल समस्याका समाधान केवल यही है कि, जगत्के अन्तरालमें नित्यज्ञान स्वरूप ब्रह्म साक्षी रूपसे स्थित है। इसीसे विकारों के साथसाथ जगत् में विविध विज्ञान उत्पन्न होते अर्थात्, विकारों के संसर्ग से अनेक विज्ञान प्रकट दीखते हैं।

वैषयिक ज्ञानके साथ साथ नित्यज्ञानका भी आभास मिलता है।

नहीं तो केवल क्रियात्मक जगत्में ज्ञान किसप्रकार आवेगा ‡? शङ्कर ने निजभाष्यके अनेक स्थानों में ऐसा ही सिद्धान्त किया है। उपदेश साहस्री ग्रन्थके १८ वें प्रकरणमें भी इस तत्त्व की विस्तृत आलोचना देख पड़ती है। सुतरां ब्रह्म जगत् से 'स्वतन्त्र, होने पर भी, एक वार ही सम्पर्क शून्य नहीं है। वह जगत् का साथी है इस गुरुतर विषय पर और भी दो एक बातें कहना आवश्यक

---

* "तथापि तदाभासवाचकेन बुद्धिधर्मविषयेण ज्ञानशब्देन तत् लक्ष्यते, नतूच्यते……तथा सत्यशब्देनापि सर्वविशेषप्रत्यस्तमितस्वरूपत्वात् ब्रह्मणः, बाह्यसत्तासामान्यविषयेण सत्यशब्देन लक्ष्यते, सत्यं ब्रह्मेति"। तै० भा० शङ्कर। (बाह्यसत्ताके अर्थ में टीकाकार ज्ञानामृतयति कहते हैं सत्यशब्दो जड़े कारणे वर्तते "। अर्थात् जड़ कार्यों में अनुगत सत्ता वा शक्तिद्वारा हम ब्रह्मकी निर्विशेष सत्ताका आभास पाते हैं।

† "बुद्धौ साक्षितया अभिव्यक्तं ब्रह्म" तै० भाष्यटीका २। १

‡ "सम्यक् विचार्यमाणे क्रियावत्या बुद्धेरवबोधः (ज्ञानम्) नास्ति— १८। ५४। " नित्यचैतन्यस्वरूपेण बुद्धेः सुखदुःखमोहाद्यात्मकाः प्रत्ययाः (विज्ञानानि) चैतन्यात्मग्रस्ता इव जायमाना विभाव्यन्ते" गीताभाष्य, १३। २२। तभी देखा जाता है बुद्ध्यादिके विविध विज्ञानोंका अन्तरालवर्ती आत्मा नित्यज्ञानस्वरूप है, एवं बुद्ध्यादिकी विविध क्रियाओंमें अनुगत शक्तिद्वारा आत्मा पूर्णशक्ति स्वरूप जाना जाता है। इसीका नाम 'लक्षणा, है।

है। शङ्कराचार्य जीने अनेक स्थानोंमें कह दिया है कि, ओंकार आदिके अवलम्बनसे ध्यान करते करते बुद्धिवृत्तिमें जो ब्रह्मज्ञान प्रकट हो पड़ता है, उस ज्ञानकी ही भावना परिपक्क होने से, साधक ब्रह्मस्वरूप लाभ करनेमें समर्थ होता है *। ब्रह्म यदि जगत् से एकान्त सम्पर्क शून्य ही माना जाय, तो शङ्करके उक्त प्रकार उपदेशकी भी सार्थकता नहीं रहती। बुद्धिके अतीत होकर भी, यदि आत्मा बुद्धिके साक्षी रूपसे अवस्थित न रहे, तो बुद्धिवृत्ति में आत्म स्वरूपका आभास किस प्रकार पाया जायगा? सुतरां आत्मा बुद्ध्यादिकसे नितान्त सम्पर्क शून्य नहीं हो सकता है। वह बुद्ध्यादिके अतीत होकर भी बुद्ध्यादिका साक्षी है। और भी बात है। शङ्करकृत उपदेश साहस्री ग्रन्थके १८ वें प्रकरणमें "विवेक बुद्धि" के अनुशीलन का उपदेश है। गीताभाष्य (१८ । ५०) एवं वेदान्त भाष्य (१ । ३ । १९) में भी इस विवेक ज्ञानका तत्त्व कह दिया गया है। इन उपदेशोंके द्वारा भी हम समझते हैं कि, ब्रह्म जगत्के अतीत होकर भी, सर्वथा जगत्से निःसम्पर्कित नहीं है। इस विवेक ज्ञानका संक्षिप्त विवरण इस स्थानमें दिया जाता है। हम लोग बुद्धि, इन्द्रिय, देहादिके सहित आत्मा को अभिन्न मान लेते हैं एवं आत्माके साथ देहादिका संसर्ग व अभेद सम्बन्ध स्थापन करके संसारमें बद्ध हो जाते हैं। वस्तुतः नित्यज्ञान और जड़ीय क्रियामें संसर्ग नहीं हो सकता †। किन्तु अज्ञानतावश हम संसर्ग स्थापित करते हैं। जो विवेकी व यथार्थज्ञानी हैं, वे जानते हैं कि बुद्ध्यादि जड़ोंमें जो विविध विज्ञान उपस्थित होते हैं उनका कारण यही है कि नित्य ज्ञा-

विवेक बुद्धि।

---

* "परं हि ब्रह्म शब्दाद्युपलक्षणानर्हं न शक्यमतीन्द्रियगोचरत्वात् केवलेन मनसा अवगाहितुं, ओंकारे तु·········भक्त्याऽऽवेशितब्रह्मभावे ध्यायिनां तत्प्रसीदति। प्रश्नभाष्य ५। २। मूलग्रन्थ देखो।

† यह संसर्ग वा अभेद सम्बन्ध ही वेदान्तमें अध्यासके नामसे प्रसिद्ध है "एवमयमनादिरध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः–," (वेदान्तभाष्य) यह मिथ्या होने पर भी इस अध्यास अर्थात् मिथ्या ज्ञानके लिये हम ब्रह्मके स्वरूपका भी आभास पाते हैं, इससे यह अध्यास अर्थात् अयथार्थानुभव स्वीकार करना पड़ता है यह बात भी उपदेश साहस्रीमें है। " अधिष्ठानस्वरूपमात्रस्फुरणमध्यासेऽपेक्षते, न विषयत्वेन स्फुरणम् (१८ । २२ एवं ११०)

नस्वरूप आत्म चैतन्य उनके भीतर विराजमान है आत्मा चित्स्वरूप है और इन्द्रियां, बुद्धि प्रभृति जड़ क्रियात्मक परिणामी हैं। जड़में सुख दुःखादिका ज्ञान नहीं हो सकता। जड़ीय क्रियाके साथ साथ चित्स्वरूप आत्माका नित्य अधिष्ठान है इसीसे सब विज्ञान उपस्थित होते हैं। किन्तु अज्ञानी जन इस अखण्ड चित्स्वरूपकी बात भूल जाते हैं। वे लोग नानाविध विज्ञानोंकी समष्टिको ही आत्मा मान लेते हैं एवं जड़ीय क्रियाओंको तथा तद्द्वारा अभिव्यक्त विज्ञानोंको अभिन्न समझ लेते हैं। इस प्रकार अज्ञानी लोग नित्य निर्विशेष शक्तिकी बात भी भूल जाते हैं। जड़की अनेक विकारी क्रियाओं के द्वारा, तदनुगत नित्य शक्तिको भी विकारी समझते हैं। यही भ्रम है। और जड़ीय क्रियाओंके साक्षीरूपसे एवं विविध विज्ञानोंके साक्षी रूपसे एक नित्य निर्विकार शक्ति व ज्ञान वर्तमान है, यही यथार्थ तत्व है। ये विज्ञान उस नित्यज्ञानके 'ज्ञेय' मात्र हैं। सुतरां नित्यज्ञान इन विज्ञानोंसे स्वतन्त्र है *। इस विचारसे भी हम समझते हैं कि ब्रह्मपदार्थ जगत्से अतीत होकर भी, जगत्के भीतर साक्षी रूपसे स्थित है अतएव वह जगत्से नितान्त सम्पर्क शून्य नहीं है। यही श्री शङ्कराचार्यका सिद्धान्त है। इससे आप समझ सकते हैं कि शङ्कर मतमें ब्रह्म जगत् वा जगत्के उपादान माया शक्तिसे स्वतन्त्र रहकर भी निःसम्पर्कित नहीं है। किन्तु मायाशक्ति एवं जगत् यह दोनों यथार्थमें ब्रह्मसे एकान्त 'अन्य, वा 'स्वतन्त्र, नहीं हैं †।

---

* सर्वं ज्ञेयं ज्ञानव्याप्तमेव जायते तेन ज्ञानातिरिक्तंनास्त्येव इति विज्ञानवादी प्रमाणयति। अतस्मिन् तद्बुद्धिरविद्या। देहादिष्वनात्मसु आत्मबुद्धिरविद्या।

† पाश्चात्य दार्शनिक भी धीरे धीरे इन सब शङ्कर सिद्धान्तों के अनुकूल मतोंको मानते जाते हैं। "The thing in itself does not exist apart as a hard, rigid, unchangeble real. It is merely in the elements, not in the sense of being compounded of previously existing, independet elements. It produces the separate elements and is realised in them." God is the substance, the only truly independent self-existing being, xowhom every particular is related as a dependent being" If God is the creator and preserver of all things, it is his power in the things which gives them their reality; on the other hand, panthism does not exclude transcendence. God and nature

७। हम देख आये हैंकि पूर्ण शक्ति स्वरूप ब्रह्मने सृष्टिके पूर्वकालमें जब जगत्की सृष्टिका संकल्प किया, तब सृष्टिकालमें उस शक्तिका एक आगन्तुक परिणाम उपस्थित हुआ था। अब यह विचार करना चाहिये कि, भाष्यकारने क्यों इस 'परिणामिनी, शक्तिको स्वीकार किया ? शक्ति तो नित्य है फिर सृष्टिकालमें उसका सर्गोन्मुख 'परिणाम, कैसा? परिणामकी बात किस प्रकार सङ्गत मानी जाय ? इसका समाधान यह होगा कि कार्यके दर्शनसे ही कारणका अनुमान होने लगता है। जगत् विकारी, परिणामी, व सावयव है, इसका कारण भी अवश्य विकारी, परिणामी व सावयव होगा। प्रलयकाल में जगत् शक्तिरूपसे लीन हो जाता है फिर सृष्टिकालमें उस शक्तिसे ही प्रादुर्भूत होता है *। अतएव शक्ति ही जगत्का उपादान है क्योंकि कार्य कभी भी अपने उपादानसे भिन्न अन्यत्र लीन होकर अवस्थान नहीं कर सकता †। इस कारण जगत्की एक 'परिणामिनी, शक्ति मान लेना आवश्यक जान पड़ता है। गीता १३। १९ के भाष्यमें शङ्कराचार्यने इस परिणामिनी शक्ति को स्वीकार करनेमें कई कारण दिखलाये हैं। कहा है कि, यदि यह शक्ति न स्वीकृत होगी तो जगत् बिना कारण अकस्मात् ही प्रकट हुआ मानना पड़ेगा यह शक्ति ही देह, व इन्द्रिय इत्यादि रूपसे परिणत होकर जीवको संसारमें आबद्ध कर डालती है यथार्थ ज्ञानके उदय होते ही जीव उस देहे-

मायाशक्ति स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है क्यों शक्तिका परिणाम स्वीकृत हुआ।

---

do not coincide. This is true as far as the quantity is concerned. Nature is finite, God is infinite; it is merged in him, but he is not merged in nature. The same statements may be true of his quality. The essence of things is not absolutely different from God's but God's essence is infinite; it is not exausted by the qualities of reality which we behold." Paulsen (Introduction to Philosophly)

* कारणे सर्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते। प्रलीयमानमपिचेदं जगत् शक्त्यवशेषमेव प्रलीयते शक्तिमूलमेवच प्रभवति इतरथा आकस्मिकत्व प्रसङ्गात्। (शङ्कर)

† नहि अकारणे कार्यस्य सम्प्रतिष्ठानमुपपद्यते सामर्थ्यात् (शङ्कर) वियदादेः......परिणामित्वात् तस्य परिणाम्युपादानं वक्तव्यं...तत्र वियदादेः परिणामित्वमङ्गीकृत्य.....अव्याकृतं परिणाम्युपादानमस्ति (ज्ञानामृत)

न्द्रियादिके बन्धनसे मुक्त हो सकता है। सुतरां जीवके इस बन्धन व मुक्ति के हेतुस्वरूपसे भी एक परिणामिनी शक्तिका स्वीकार करना आवश्यक जान पड़ता है। इत्यादि बातोंका विचार करनेसे यह मानना ही पड़ेगा कि ब्रह्मशक्ति नित्य होने पर भी, जगत्‌की अभिव्यक्तिके पूर्वकालमें, उसका एक आगन्तुक सर्गोन्मुख * परिणाम होता है। शङ्कर एवं उनके टीकाकार इसी प्रकार नित्यशक्तिका एक आगन्तुक परिणाम अङ्गीकार कर लेनेमें वाध्य हुए हैं †।

ब्रह्मको किस प्रकार ज्ञाता व द्रष्टा कह सकते ह।

क। इससे पहले हम बतला चुके हैं कि, इस आगन्तुक परिणामिनी शक्तिके उपलक्ष्यमें ही ब्रह्म जगत्‌का कारण कहा जाता है, आगन्तुक होनेसे ही इस शक्तिको दृश्य वा ज्ञेय एवं ब्रह्म को इसका द्रष्टा वा ज्ञाता कहते हैं। ब्रह्म चैतन्य नित्य ज्ञान स्वरूप है। किन्तु नित्य ज्ञानस्वरूप होने पर भी वह ब्रह्म इस 'आगन्तुक, शक्तिके ज्ञाता वा द्रष्टा रूप से व्यवहृत हो सकता है। सृष्टिके प्राक्कालमें ब्रह्मने जगत् की अभिव्यक्तिका सङ्कल्प वा आलोचना की थी। उस सङ्कल्पके वश ही शक्तिकी जगदाकारसे परिणति हुई है। सुतरां यह सङ्कल्प भी आगन्तुक है इसी लिये यह सङ्कल्प ज्ञानका विकार कहा गया है ‡। इस आगन्तुक सङ्कल्प (ईक्षण) वा आलोचनाको लक्ष्य करके भी नित्य ज्ञान स्वरूप ब्रह्म को 'ज्ञाता, कह सकते हैं। यही श्री शङ्कराचार्यका सिद्धान्त है, यह बात हम उनके चार टीकाकारोंकी उक्तियोंसे सिद्ध करेंगे। ज्ञाता वा ईक्षणकर्ता किसे कहते हैं? किसी एक आगन्तुक ज्ञान विशेषके हम ज्ञाता हो सकते एवं किसी एक आगन्तुक क्रिया विशेषके हम कर्ता हो सकते हैं। किसी क्रिया विशेषका कर्ता होनेके लिये कर्ताको उस क्रियासे 'स्व-

---

* सर्गोन्मुखः परिणामः—"रत्नप्रभा। भाष्यकारने स्वयं 'जायमान, 'व्याचिकीर्षित, प्रभृति शब्दों द्वारा यही निर्देश किया है।

† 'अविद्यायाः सर्गोन्मुखः कश्चित् परिणामः,, वेदान्तदर्शन रत्नप्रभा १।१।४।

‡ 'यस्यज्ञानमयं ज्ञानविकारमेव तपः,, शङ्कर, मुण्डक भाष्य, १।१।९ प्रधाननायाऽज्ञानाख्यो विकारः तदुपाधिकं ज्ञानविकारं"......सर्वपदार्थाभिज्ञत्वलक्षणं तपः"—आनन्दगिरि टीका।

तन्त्र, * होना पड़ता है, एवं ज्ञेय वस्तुसे स्वतन्त्र रहे विना ज्ञाता भी नहीं हो सकता। ब्रह्म तो नित्यज्ञान व नित्य शक्ति-स्वरूप है, फिर वह ज्ञान और शक्तिसे 'स्वतन्त्र, क्योंकर हो सकता है? इस कठिन प्रश्नका उत्तर देनेके लिये भाष्यकार तथा उनके टीकाकार शिष्योंने जो सिद्धान्त लिखा है, उसीके द्वारा बात स्पष्ट हो जायगी।

इसशक्तिके आगन्तुकहोने से ही ब्रह्म इसका ज्ञाता वा द्रष्टा है।

(१) ऐतरेय भाष्य टीकामें ज्ञानामृत यति कहते हैं:— "ननुस्वाभाविकेन नित्यचैतन्येन कथं कादाचित्केक्षणं? सृष्टिकाले अभिव्यक्त्युन्मुखी भूतानभिव्यक्तनामरूपावच्छिन्नं सत्स्वरूपचैतन्यमेव औन्मुख्यकादाचित्कत्वशात् कदाचित्कमीक्षणम्,,।

(२) वेदान्त भाष्यके रत्नप्रभा टीकाकार कहते हैं:—

"नित्यस्यापि ज्ञानस्य......ब्रह्मस्वरूपाद् 'भेदं' कल्पयित्वा ब्रह्मणस्तत्कर्तृत्वव्यपदेशः साधुरिति।......अविद्याया विविधसृष्टिसंस्कारायाः......सर्गोन्मुखः कश्चित् परिणामः, तस्यां सूक्ष्मरूपेण निलीन—सर्वकार्यविषयकमीक्षणम् तस्य कार्यत्वात्......तत्कर्तृत्वं मुख्यमिति द्योतयति"।

(३) उपदेश साहस्री ग्रन्थमें टीकाकार लिखते हैं:—

"यत् ज्ञानस्वरूपादन्यं जड़ं, यच्च व्यवहितं ज्ञानदेशात् तदागन्तुकज्ञानसापेक्षसिद्धिकत्वात् ज्ञानविषयकतया 'ज्ञेयं' भवति"

(४) प्रश्नोपनिषद् भाष्यमें आनन्दगिरि कहते हैं:—

"स्वरूपत्वे दर्शनस्य, तस्य कर्तृत्वानुपपत्तेः, आगन्तुकस्य कर्ता प्रतीयते"

इन उद्धृत अंशोंका अभिप्राय यही है कि, ब्रह्म नित्यसत्तास्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु तब भी सृष्टिकाल में शक्ति का जो एक आगन्तुक सर्गोन्मुख परिणाम स्वीकार कर लिया गया है, उसके द्वारा ब्रह्म उस शक्तिसे कुछ 'स्वतन्त्र' हो पड़ा। स्वतन्त्र होनेसे ही इस शक्तिका वह ज्ञाता वा द्रष्टा कहा जाने लगा। या यों समझ लीजिये कि, ब्रह्मने अपने अनन्त शक्तिभण्डारसे, उन कई एक शक्तियोंको, जो शक्तियां प्रलयमें उसमें एकीभूत होकर ठहरी थीं, मानो किञ्चित् 'पृथक्' कर दिया। और उनको अपनेसे स्वतन्त्र कर जगत्की सृष्टिमें नियुक्त कर दिया। इस भांति वह नि-

---

* 'स्वतन्त्रः कर्ता,, पाणिनिः। स्वरूपत्वे दर्शनस्य तस्य कर्तृत्वानुपपत्तेः आगन्तुकस्य कर्ता प्रतीयते,, प्रश्नोपनिषद् आनन्द०।

त्यज्ञानस्वरूप व नित्यशक्तिस्वरूप भी सर्वज्ञ व सर्वकर्ता कहा जा सकता है। सृष्टिकालमें शक्ति के उक्त परिणाम को लक्ष्य करके ही, मुण्डकोपनिषद् में मायाशक्ति की 'उत्पत्ति' की बात कही गई है, नहीं तो नित्य शक्तिकी उत्पत्ति कैसी * ? अतएव सृष्टिके पहले पृथक्कृत वा परिणामोन्मुख इस शक्तिको ही मायाशक्ति वा अव्यक्तशक्ति कहते हैं † । ब्रह्म इस आगन्तुक शक्तिका द्रष्टा वा ज्ञाता है। जगत्में प्रकाशित सम्पूर्ण क्रिया का तथा जगत्में प्रकट समस्त विज्ञानका बीज यह शक्ति ही है-अर्थात् सब भांतिके विज्ञानकी अभिव्यक्तिकी योग्यता इस शक्तिमें है। इसी प्रकार निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्मको ज्ञाता कर्ता कह सकते हैं और इसी प्रकार वह सर्वज्ञ व अन्तर्यामी कहा जाता है ‡ । प्रकारान्तर से यही तत्त्व ऋग्वेदीय 'पुरुष सूक्त, के 'यज्ञ , में वा ब्रह्म के आत्मत्याग में प्रदर्शित हुआ है। सृज्यमान जगत्के कल्याणार्थ ब्रह्म ने आत्मत्यागरूप + यज्ञका सम्पादन किया था,—अपनी ही आत्मभूत शक्तिको मानों त्याग कर वा स्वतन्त्र करके जगत्की सृष्टि व पालन में नियुक्त हो गया। पाठक, यही महातत्त्व क्या प्रकारान्तर से पुरुष सूक्तमें नहीं कहा गया? इस भांति मायाशक्तिसे ब्रह्मको स्वतन्त्र बतला कर ही, ब्रह्मको मायाका 'अधिष्ठान' कहते हैं × अतएव हम देखते हैं कि, आचार्य ने शक्तिके परिणामको अङ्गीकार कर लिया है।

ब्रह्म सर्वज्ञ और अन्तर्यामी है।

---

* भाष्यकारने यहां पर 'व्याचिकीर्षित , शब्द द्वारा इसी परिणामको लक्ष्य किया है। अभिव्यक्तिके उन्मुख ही व्याचिकीर्षित शब्दका तात्पर्य है। "मायातत्त्वं कथं जायतेऽनादिसिद्धत्वात् इत्याशंक्याह—व्याचिकीर्षित इति चिकीर्षितावस्थारूपेण उत्पद्यते इत्यर्थः। आनन्दगिरिः

† "प्रलये सर्वकार्यकरणशक्तीनामवस्थानमभ्युपगन्तव्यम्.........तासां समाहारो मायातत्त्वम् „—आनन्दगिरि।

‡ भूतयोनिमिह जायमान—प्रकृतित्वेन निर्दिश्य, अनन्तरमपि जायमान प्रकृतित्वेनैव 'सर्वज्ञं, निर्दिशति„—शारीरक, १।२।२१।

+ ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ९० देखो। "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः इत्यादि।

× "चैतन्यस्य नित्यत्वेन, जगदभिन्नत्वेन च तस्य सत्यत्वात् अधिष्ठानोपपत्तेः—आनन्दगिरि, प्रश्नोपनिषद् ६। ८। निरवयव होनेसे वह 'आधार, नहीं कहा जाता।

८। किसी किसीका कहना है कि शङ्कराचार्य केवल "विवर्तवादी" हैं, वे "परिणामवाद" नहीं मानते। किन्तु ऐसा कहना या मानना भाष्यकार का तात्पर्य न समझ कर उन पर मिथ्या दोष लगाना या उनके साथ अन्याय करना है। हम ऊपर समझा चुके हैं कि उन्होंने शक्तिके परिणामको अङ्गीकार कर लिया है। वेदान्तदर्शन (२।१।१४) भाष्यके अन्त में * स्पष्ट कह दिया है कि "केवल परमार्थ दृष्टिसे ही सूत्रमें विवर्तवाद गृहीत हुआ है व्यवहारतः सूत्रकारने कार्य प्रपञ्चको अलीक कहकर उड़ा नहीं दिया है किन्तु परिणामवाद को भी स्वीकार कर लिया है † शङ्कर मतमें केवल परमार्थतः तत्त्वदर्शीकी दृष्टिमें, यह जगत् ब्रह्मसे भिन्न, नहीं। किन्तु तथापि साधारण व्यक्तिके निकट, यह जगत् व्यवहारतः जड़ व परिणामी है। इससे हम देखते हैं कि, भाष्यकार परिणामवाद को भी स्वीकार करते हैं, उन्होंने परिणामवादका प्रत्याख्यान नहीं किया। विषय बड़ा ही गम्भीर है। इस लिये हम यहां पर उनके टीकाकारों तथा शिष्योंकी भी सम्मति पर कुछ आलोचना करके अपने उक्त कथनको अधिक पुष्ट कर लेना समुचित समझते हैं, इस अंशको अनेक लोग समझना नहीं चाहते एवं न समझकर ही शङ्करको 'मायावादी, व 'प्रच्छन्न बौद्ध, कहकर उनका उपहास करते हैं॥

विवर्तवाद और परिणामवाद।

१। शंकर मतमें परिणामवाद प्रत्याख्यात नहीं हुआ। शंकर

ऐतरेय उपनिषद् १।१ के भाष्यमें शङ्कराचार्यने पहले यह आपत्ति उठाई कि आत्मासे भिन्न तो कोई दूसरा स्वतन्त्र 'उपादान, है ही नहीं तब निर्विकार आत्म चैतन्यसे यह विकारी जगत् किस प्रकार उत्पन्न हुआ? इस शंकाका उत्तर आगे आप इस भांति लिखते हैं। अव्याकृत नाम रूप ही जगत्का उपादान है, और यह उपादान आत्माका ही स्वरूप भूत है, अ-

---

* इस विख्यात सूत्रके भाष्यमें कार्य, कारणसे एकान्त भिन्न (स्वतन्त्र) नहीं यही महातत्त्व आलोचित हुआ है।

† सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह। व्यवहाराभिप्रायेण तु ......अप्रत्याख्यायैवच कार्यप्रपञ्चं 'परिणामप्रक्रियाञ्च, आश्रयति। न केवलं लौकिक व्यवहारार्थं परिणामप्रक्रियाश्रयणं किन्तु उपासनार्थञ्चेति पाठक देखें परिणामप्रक्रिया मिथ्या कहकर उड़ाई नहीं गई।

र्थात् यह आत्मासे स्वतन्त्र नहीं है। इस उपादानके द्वारा ही ब्रह्मने जगत् का निर्माण किया है। सुतरां भिन्न उपादानके बिना भी आत्मासे जगत् की सृष्टि सिद्ध होती है * इस भाष्यको टीकाकार ज्ञानामृतयति ने इस प्रकार समझा दिया है शङ्का हो सकती है कि अद्वितीय आत्मा तो आप ही उपादान है तब जगत् सृष्टि के दूसरे उपादान की आवश्यकता क्या है? इसका समाधान यह है कि ऐसी शङ्का निर्मूल है। क्योंकि सृष्ट पदार्थ परिणामी व विकारी हैं उनका एक परिणामी उपादान स्वीकार करना आवश्यक है। आत्मा निरवयव निर्विकार चेतन है। इस कारण वह विकारी, जड़ जगत् का कभी भी उपादान नहीं हो सकता। अतएव अव्याकृत नाम रूप ही वह परिणामी उपादान है। और आत्मा, इस परिणामी उपादानका अधिष्ठान होनेसे विवर्त उपादान मात्र है †। पाठक देखिये दोनों प्रकारका उपादान स्वीकृत किया गया है। वेदान्त २।२।१ सूत्र के भाष्यकी व्याख्यामें रत्नप्रभाने स्पष्ट स्वर से कह दिया है कि सांख्य वाले अचेतन जड़ प्रकृतिको जगत्का उपादान कारण कहते हैं। हम भी त्रिगुणात्मक जड़ माया को जगत्का उपादान मानते हैं। किन्तु सांख्यमत में यह उपादान स्वाधीन है। हम इस उपादानको ब्रह्माधिष्ठित मानते हैं, ब्रह्मसत्ता में ही उसकी सत्ता है ‡। वेदान्त परिभाषा एक अति प्रामाणिक वेदान्त

ज्ञानामृत

रत्नप्रभा

---

* नैष दोषः आत्मभूते नाम रूपे अव्याकृते आत्मैकशब्दवाच्ये जगदुपादानभूते सम्भवतः तस्मादात्मभूतनामरूपोपादानः सन् जगन्निर्मिमीते
१—वेदांतियोंके ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या नामक वाद का नाम विवर्त्तवाद है।

† "वियदादेः व्यवहारिकत्वेन घटादिवत्परिणामित्वमङ्गीकृत्य...तत्र अनभिव्यक्तनामरूपावस्थं वीजभूतमव्याकृतं परिणाम्युपादानमस्तीत्याह—'नैष दोष, इति। "'आत्मनः परिणममानाविद्याधिष्ठानेन'" विवर्तोपादानत्वम्,,—इत्यादि। केवल शुद्ध चैतन्य, जगत्का उपादान नहीं हो सकता, यह बात माण्डूक्योपनिषद्के गौड़पादभाष्य १।२ में शङ्कर ने भी कही है। "वीजयुक्त ब्रह्म ही जगत्का उपादान है। निर्वीज ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं हो सकता। निर्वीज ब्रह्म श्रुतिमें नेति नेति शब्दवाच्य और सर्वातीत है,,।

‡ किमनुमानैः अचेतनप्रकृतिकत्वं जगतः साध्यते, स्वतन्त्राचेतनप्रकृतिकत्वं वा? आद्ये सिद्धसाधनता, अस्माभिरनादित्रिगुणमायाङ्गीकारात्। द्वितीये साध्याप्रसिद्धिरित्याह,,। [स्वतन्त्रं—चेतनानधिष्ठितमिति-रत्नप्रभा]

ग्रन्थ है। यह शङ्कर मतके नितान्त अनुगत ग्रन्थ है। शङ्कर मत समझा देना ही इसका उद्देश्य है इस ग्रन्थमें भी कहा गया है कि वेदान्तमें विवर्त और परिणाम दोनों वाद गृहीत हुए हैं। प्रकृति वा मायाशक्ति किसे कहते हैं

वेदान्तपरिभाषा।

सो समझा कर * वेदान्तपरिभाषा कहती है कि, "अविद्या को लेकर 'परिणाम, एवं चैतन्य को लेकर ही "विवर्त्त, † है। महामहोपाध्याय श्रीयुक्त कृष्णनाथ न्यायपञ्चानन ने इसकी टीकामें लिखा है कि, जैसा कार्य, वैसा ही उस का उपादान होता है। कार्य जड़, परिणामी है, सुतरां उसका उपादान भी जड़ परिणामी सिद्ध है,, ‡। तात्पर्य यह कि, माया-शक्ति वा अव्यक्त ही परिणामी उपादान है और विवृत-उपादान कौन है? "चैतन्योपादानत्वे तु-विवर्तत्वम्,। अर्थात् वेदान्त मत में सब वस्तुओं के दो उपादान हैं। एक उपादान-माया वा अविद्या और एक उपादान है ब्रह्मचैतन्य। अविद्या ही परिणत होती है, एवं इसीसे संसर्गवश चेतनकी अवस्थान्तर-प्रतीतिका नाम विवर्त है। इन दो उपादानों की बातको लक्ष्य करके ही वेदान्त परिभाषा ने लक्षण किया कि, "ब्रह्म-जगत् का अधिष्ठान-उपादान एवं माया जगत्का परिणामी-उपादान है,, × 'पञ्चदशी, नामक और एक सुप्रसिद्ध

पंचदशी।

वेदान्तग्रन्थ है। इसके लेखक महात्मा विद्यारण्य स्वामी शङ्कर भगवान्‌के नितान्त अनुगत शिष्य हैं। इन्हों ने भी दो प्रकारका उपादान स्वीकार किया है। पञ्चदशीमें लिखा है-"ब्रह्म स्वयं निर्विकार होने पर भी, उसमें स्थित अव्यक्तशक्ति जगदाकार से परिणत हुई है। ब्रह्ममें अधिष्ठित इस शक्तिका ही परिणाम होता है, किन्तु अधिष्ठानभूत ब्रह्मका कोई परिणाम नहीं होता +। सब ब्रह्मचैतन्यके जड़

---

* "प्रकृतिस्तु साम्यावस्थापन्न-सत्त्वरजस्तमोगुणमयी अव्याकृत नामरूपा पारमेश्वरी शक्तिः,,।-टीका, प्रत्यक्ष परिच्छेद।

† "अविद्यापेक्षया परिणामः। चैतन्यापेक्षया विवर्तः। प्र० परिच्छेद०

‡ कार्यं यदात्मकं तद्रूपकारणमुपादानम्,,। "उपादानस्य स्वसमसत्ताक-कार्यभावेनाविर्भावः परिणामतेरर्थः,,।

× "उपादानत्वञ्च-(१) जगदध्यासाधिष्ठानत्वम्, (२) जगदाकारेण परिणममानमायाधिष्ठानत्वं वा,,-विषय परिच्छेद।

+ "अचिन्त्यशक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा। अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा, पञ्चदशी, १३। ६५। ६६।

(विकार) के साथ साथ अनुगत रहने से, चेतन का भी अवस्थान्तर प्रतीत होता है, यही 'विवर्तवाद, है ।

हम ऊपर जो प्रमाण लिख आये हैं, उनसे विचारशील पाठक भली भांति निश्चय कर सकते हैं कि, शङ्कर मतमें परिणामवाद अस्वीकृत वा प्रत्याख्यात नहीं हुआ है । सृष्टिके पूर्वकाल में शक्तिका परिणाम अङ्गीकार करना पड़ता है, उस परिणामिनी शक्तिने ही जगदाकार धारण किया है—भाष्यकार ने यही सिद्धान्त किया है। इसीसे हम कहते हैं कि, वे परिणामवादके विरोधी नहीं। अनेक सज्जन समझते हैं कि, परिणाम—वाद और विवर्तवाद परस्पर विरोधी हैं। विवर्तवाद मानने पर, फिर परिणामवाद स्वीकार करना सम्भव नहीं है। किन्तु यह भ्रान्त धारणा है। शङ्करने स्वयं कहा है कि, द्वैत एवं अद्वैत में कोई विरोध नहीं द्वैत रहते भी अद्वैत ज्ञानकी कोई हानि नहीं * । आनन्द गिरिने भी कह दिया है कि, परिणामवाद और विवर्तवादमें कोई विरोध नहीं है कि एक को छोड़ कर दूसरेका ग्रहण करना पड़े † । हम यहां पर इस गुरुतर विषयकी कुछ आलोचना करना चाहते हैं। शङ्कर—मतमें किस प्रकार यह दोनों वाद ‡ एक साथ गृहीत हुए हैं, इस सम्बन्धमें स्पष्ट वि-

२। विवर्तवाद और परिणाम वाद परस्पर विरोधी नहीं हैं, कि एकको छोड़ कर दूसरे का ग्रहण हो ।

---

* माण्डूक्यकारिका ३ । १७—१८ के भाष्यमें भाष्यकार कहते हैं "तैः (द्वैतैः) सर्वानन्यत्वात् आत्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरुध्यते,, इत्यादि अर्थ यह कि, "जो व्यक्ति कार्यवर्गको कारणसे वास्तवमें स्वतन्त्र पदार्थ नहीं समझता, उसके समीप इस द्वैतके रहते भी अद्वैत बोधमें कोई बाधा नहीं पड़ती" "कार्यस्य कारणाद्भेदेन सत्त्वनिषेधात् सत्वमित्यवधारणात् न अद्वैतदर्शनं द्वैतदर्शनेन विरुद्धमित्यर्थः,, (आनन्दगिरि)

† "यथा पुरोवर्त्तिनि भुजगाभावमनुभवन् विवेकी—नास्ति भुजङ्गो रज्जुरेषा कथं वृथैव बिभेषीति—भ्रान्तमभिदधाति । भ्रान्तस्तु स्वकीयादपराधादेव भुजङ्गं परिकल्प्य भीतः सन् पलायते, न च तत्र विवेकिनो वचनं मूढ़दृष्ट्या विरुध्यते । तथा परमार्थकूटस्थात्मदर्शनं व्यवहारिक जनादि—वचनेन अविरुद्धम्,, माण्डूक्यकारिका भाष्य टीका, ४ । ५७ ।

‡ तत्र वेदान्त २ । १ । १४ के भाष्यमें जो कहा गया कि, "एकत्व और नानात्व दोनों एक साथ सत्य नहीं हो सकते"—इसका तात्पर्य है । इस

चार कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। जो लोग शङ्कर स्वामीको मायावादी मान बैठे हैं, उनकी समझमें उक्त दोनों वाद परस्पर विरोधी हैं। परन्तु वास्तवमें इन दोनोंके बीचमें कोई विरोध नहीं है। इस बातको हम एक लौकिक दृष्टान्त द्वारा परिष्कृत करना चाहते हैं।। विचारिये सुवर्णसे—हार, कुण्डल, अंगूठी, मुकुट इत्यादि बनाये गये इस कथनका अर्थ क्या हुआ?

लौकिक दृष्टान्तके द्वारा व्याख्या। व्यवहारिक दृष्टि एवं परमार्थ दृष्टि।

यही कि, सुवर्ण 'कारण,से हार- कुंडल, अंगूठी, मुकुट, कार्य, प्रकट हुए। कारण और कार्यका सम्बन्ध कैसा है? कार्य—कारणका रूपान्तर कारणकी ही एक विशेष अवस्था एक विशेष आकार मात्र है। एक विशेष आकार मात्र धारण कर लेनेसे कारण नष्ट नहीं हो जाता या अपनी स्वतन्त्रताको त्याग नहीं देता। हार कुण्डल अंगूठी प्रभृति कार्य सुवर्ण के ही रूपान्तर, एक विशेष अवस्था आकार विशेष मात्र हैं।

जो तत्त्वदर्शी वैज्ञानिक हैं वे भी हार कुंडल, अंगूठी और मुकुट को मिथ्या कहकर एक बार ही उड़ा नहीं सकते। और जो साधारण जन हैं, वे भी उनको अलीक कहकर उड़ा नहीं सकते। पूछने पर वैज्ञानिक कहेंगे हार, कुंडल, अंगूठी, मुकुट इत्यादि सुवर्ण के ही रूपान्तर हैं अर्थात् एक अवस्था विशेष आकार विशेष मात्र हैं। और साधारण लोग भी कहेंगे हां वह सब सुवर्णके भिन्न रूप वा आकार विशेष मात्र ही तो हैं।

यहां तक वैज्ञानिकोंके साथ सर्व साधारण जनोंका मेल है। किन्तु इसके आगे गोलमालकी बात चलेगी। इसके आगे अब दोनोंकी दृष्टिमें विशेष पार्थक्य लक्षित होता है। किस प्रकार देखिये अविद्या वा अज्ञानता के प्रभावसे साधारण लोग दो प्रकारके भ्रममें पड़ जाते हैं। अज्ञानी साधारण लोग समझते हैं कि—

(१) सुवर्ण जब हार, कुंडल, अंगूठी इत्यादि अनेक पदार्थोंके रूपमें परिणत हो गया तब ये सब एक एक 'स्वतन्त्र, पदार्थ बन गये। और अज्ञानी लोग यह भी समझते हैं कि—

बात से 'नानात्व, अलीक कहकर नहीं उड़ा दिया गया। यदि अलीक ही है, तो इसी भाष्यमें, "रेखा द्वारा अक्षरका बोध होता है, स्वप्नमें अनुभूत भयसे वास्तविक मृत्यु"—यह सब दृष्टान्त क्यों दिये गये! स्वर्ण और हार आदि के दृष्टान्त से इस का भी तात्पर्य समझ में आ जायगा।

(२) सुवर्ण जब हार, कुंडल इत्यादि रूपोंमें परिणत हो गया, तब सुवर्णका 'स्वतन्त्र, अस्तित्व कहां रहा! सुवर्ण तो हार आदिका आकार धारण कर चुका। किन्तु सुवर्ण ही तो हार कुंडलादिके मध्यमें अनुप्रविष्ट हो रहा है, इस ओर उन लोगोंकी दृष्टि नहीं आकर्षित होती। अज्ञानी लोग यह बात भूल जाते हैं कि, हार आदि बन जाने पर भी, सुवर्णका अस्तित्व साथ साथ बना रहता है, उसका लोप कदापि नहीं होता। तात्पर्य यह कि, साधारण लोग हारादि आकारोंमें ही लिप्त होकर उनमें ही व्यस्त हो पड़ते हैं। किन्तु परमार्थदर्शी वैज्ञानिक जन ऐसी भूल नहीं करते। वे जानते हैं कि,—

(१) हार, कुंडल आदिक 'स्वतन्त्र, 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं, वे सब सुवर्णके ही भिन्न भिन्न आकार मात्र हैं। सुवर्णकी ही सत्ताका अवलम्बन करके सब आकार स्थित हैं, सुवर्णकी ही सत्ता उन सबोंमें अनुस्यूत हो रही है। सुवर्णको हटा दो, फिर देखो किसी भी आकारका पता नहीं रहेगा जब सुवर्णके बिना ये आकार ठहरते ही नहीं, तब भला ये स्वतन्त्र पदार्थ क्यों कर माने जा सकते हैं। यदि वे स्वतन्त्र वस्तु होते, तो सुवर्ण हटा देनेपर भी बने रहते। पर आप देखते हैं कि, सुवर्णसे अलग स्वतन्त्र भावसे उक्त आकारोंके दर्शन नहीं होते, सुवर्ण सत्ताका अवलम्बन करके ही वे उपस्थित हैं। अतएव उनको स्वतन्त्र वस्तु मानना अज्ञान है।

(२) इन सब हार कुंडलादि आकारोंके होते भी सुवर्ण अपना अस्तित्व नहीं छोड़ता। सुवर्ण ही हारादि आकारोंमें दर्शन देता है, यह बात भले प्रकार समझमें आ जाती है। हार कुंडलादिको तोड़ देने पर भी, देखिये जो सुवर्ण पहले था, अब भी वह सुवर्ण प्रत्यक्ष है। अर्थात् आकार धारण करके भी सुवर्ण अपनी स्वाधीनताको परित्याग नहीं करता। यदि आकार धारण करनेके साथ ही सुवर्ण अपना स्वातन्त्र्य खो बैठता, तो इन आकारोंके बीचमें सुवर्णकी पहिचान न होती। सुतरां सुवर्णकी सत्ता ही यथार्थ सत्ता है और हारादिके आकार आगन्तुक अवस्था विशेष मात्र हैं।

हमने यह जो एक लौकिक दृष्टान्त लिखा है, उसके द्वारा, ब्रह्मके साथ मायाशक्तिका कैसा सम्बन्ध है, सो सहजमें ज्ञात हो जायगा। अस्तु, मायाशक्ति क्या पदार्थ है? यह निर्विशेष ब्रह्मसत्ताकी ही एक विशेष अवस्था

जगदाकारसे अभिव्यक्त होनेकी अवस्था एक रूपान्तर मात्र है *। तत्त्वदर्शी जानते हैं कि—

(१) निर्विशेष ब्रह्मसत्ताने सृष्टिके पूर्वकालमें एक विशेष अवस्था धारण की इससे क्या वह अवस्था एक बार ही एक 'स्वतन्त्र, वस्तु हो गई ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। ब्रह्मसत्ताने ही तो एक विशेष आकार धारण किया है। वह विशेष आकार ब्रह्मसत्ताका ही अवलम्ब कर स्थित है।

जब कि ब्रह्मसत्ता भी उसमें अनुस्यूत है तब ब्रह्मसत्तामें ही उसकी सत्ता सिद्ध है. इसी लिये वह सर्वथा 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं। एक विशेष आकार धारण करने पर भी वह आकार ब्रह्मसत्ता का ही है सो समझनेमें कष्ट नहीं होता +। अतएव मायाशक्ति एक बार ही स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है।

---

* शङ्करने जब ब्रह्मकी अव्यक्त शक्ति (मायाशक्ति) से 'स्वतन्त्र' कहा तभी समझ लिया गया कि उन्होंने परिणामवादको उड़ा नहीं दिया। परिणाम वा रूपान्तर विना माने, ब्रह्मको 'स्वतन्त्र' कहना सम्भव नहीं। माया निर्विशेष ब्रह्मसत्ताकी ही एक 'आगन्तुक' अवस्था. एक परिणामोन्मुख अवस्था मात्र है। शङ्कराचार्य इसे व्याचिकीर्षित अवस्था, कहते हैं। अव्याकृतात् व्याचिकीर्षितावस्थातः मुण्डकभाष्य १।१।८।९ "अक्षरात् परतः परः" अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् प्रभृति श्रुतियोंमें ब्रह्मको कारण शक्तिसे भी पृथक् कहा है।

+ सभी स्थानों में माया का निर्देश 'आगन्तुक, कादाचित्क, शब्दों से किया गया है। इस का तात्पर्य यही है कि वह पहिले न थी अब आई है। केवल सृष्टि के प्राक्काल में आने से इसे 'आगन्तुक, कहा है। और आगन्तुक होने से ही इस का अधिष्ठान ब्रह्म कहा गया है। जो निर्विशेष था, सृष्टि समय में उसी ने एक विशेष अवस्था को धारण किया। इस विशेष अवस्था को-अभिव्यक्ति के उन्मुख अवस्था को लक्ष्य करके ही 'आगन्तुक, शब्दका प्रयोग हुआ है। ब्रह्म पूर्णशक्ति एवं माया परिणामिनी शक्ति है। ब्रह्म निर्विशेष यह सविशेष है। क्योंकि जो पहिले निर्विशेष भाव से था उसीने एक विशेष आकार धारण किया है। 'आगन्तुक, होने से जैसे इस का अधिष्ठान ब्रह्म कहा गया वैसे ही ब्रह्म इस से 'स्वतन्त्र, भी कहा गया है। शङ्कराचार्य ने इसी लिये दो नित्य सत्ताओं का उल्लेख किया है। एक परिणामी नित्य और दूसरा कूटस्थ नित्य (वेदान्तभाष्य १।१।४)

(२) एक आगन्तुक आकार धारण करने से ही ब्रह्मसत्ता अपना अस्तित्व खो नहीं बैठती यह भी भली प्रकार समझ में आता है। सृष्टि के पहिले जो ब्रह्म-सत्ता थी वही तो सृष्टिके प्राक्कालमें सृष्टि के उन्मुख हुई है। सुतरां ब्रह्मसत्ता अपना ' स्वातन्त्र्य , छोड़ती नहीं है। ब्रह्मसत्ता को उठा कर फिर देखो आग-न्तुक आकार कहां गया। किन्तु आगन्तुक अवस्था के हटने पर भी ब्रह्मसत्ता की कोई क्षति नहीं वह वैसी ही बनी रहेगी। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म-सत्ता रूपान्तर धारण करने पर भी अपने अस्तित्व को अपनाए रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिणामवाद और विवर्तवाद में कोई विरोध नहीं। अतएव परिणामवाद को परित्याग कर देनेकी भी कोई आ-वश्यकता नहीं। भाष्यकार दोनों वादों के अनुकूल हैं यह तत्व आगे और भी परिस्फुट हो जायगा।

शङ्कर के अद्वैत-वाद की आलोचना (साधारण समालोचना)।

९। उपर्युक्त समालोचना के पश्चात् अब हम शङ्कराचार्य जी के 'अद्वैतवाद, को समझ लेने के योग्य हुए हैं। ऊपर संक्षेपसे जिन सब सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है, उन के सहारे अब विस्तृत रूप से विचार लेना चाहिये कि शङ्कर के अद्वैतवाद का यथार्थ तात्पर्य क्या है! हम तो समझ चुके कि, शङ्कर परिणामिनी शक्ति को मानते हैं। किन्तु सब लोगों ने ही सुना है कि शङ्करमत में ब्रह्म भिन्न कुछ भी नहीं * इस का सामञ्जस्य किस प्रकार होगा। आइये पाठक इस अद्वैतवाद की समालोचनामें मन लगाइये। बड़ा ही कठिन विषय है। शङ्कर के अद्वैतवाद को अनेक विदेशी तथा देशी पण्डितों ने न समझकर मनमाना निराला अर्थ लिख मारा है। उन्हों ने शङ्कर के नाम से यही बात फैला दी है कि शङ्कर ने जगत् और जीव को अलीक या मिथ्या कह कर उड़ा दिया है? इस विख्यात बात की जड़ कितनी सुदृढ़ है इस आलोचना से सो सब भेद खुल जायगा।

जगत् और जगत का उपादान किसीकी भी ब्रह्मनिरपेक्ष 'स्वतन्त्र, सत्ता नहीं

हमारा दृढ़ विश्वास यही है कि शङ्कराचार्य ने जगत् एवं जगत्के उपादान मायाशक्ति को मिथ्या कहकर उड़ा नहीं दिया उन्होंने तत्वदर्शी वैज्ञानिकों की दृष्टि से भाष्य रचना की है। सुतरां यथार्थ तत्वदर्शी की भांति सुविज्ञ वैज्ञानिक की भांति उन्हों ने वारम्बार केवल यही कहा है कि—मायाशक्ति

* " ब्रह्मैवेदं सर्वं „ " ब्रह्मैवेदं सर्वं „ इत्यादि।

एवं जगत् यह दोनों ब्रह्म से 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं हैं जो लोग इस शक्ति को तथा शक्ति के विकार जगत् को ब्रह्मसे अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र वस्तु समझते हैं वे मंददर्शी हैं वे अज्ञानी एवं मायामुग्ध हैं *। शङ्कर का अद्वैतवाद इसी प्रकार का है।

अब बात यह है कि शङ्कर ने जो मायाशक्ति या जगत् को ब्रह्मसे स्वतन्त्र कोई वस्तु मानने में निषेध किया उसका क्या अर्थ है? यदि माया शक्ति बनी है और जगत् भी है तो केवल उनकी स्वतन्त्र सत्ता का निषेध कर देने से ही क्या अद्वैतवाद ठहर सकता है? इस का तात्पर्य निर्णय करने के पहिले शङ्करने इस सम्बन्धमें किस किस स्थलमें क्या क्या लिखा है, उसे उद्धृत कर लेना हम आवश्यक समझते हैं।

पहले हम इस विकारी जगत्की बात कहेंगे, तत्पश्चात् यह जगत् जिस शक्तिसे उत्पन्न हुआ है, उस शक्तिका वर्णन करेंगे।

क। जगत् क्या है? विविध नाम रूपात्मक पदार्थोंको लेकर ही जगत् है। सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिणामको प्राप्त होते हैं, विकारी हैं। अतएव इन विकारोंको लेकर ही जगत् है। शङ्कर कहते हैं कि, यह विकारी जगत् ब्रह्मसे 'स्वतन्त्र' नहीं ब्रह्म सत्तासे भिन्न इन विकारोंकी स्वतन्त्र स्वाधीन सत्ता नहीं है। ब्रह्मकी ही सत्ता व स्फूर्तिके ऊपर इन विकारोंकी सत्ता व स्फूर्ति सर्वथा अवलम्बित है शारीरक भाष्य २।१।१४ में

१। ब्रह्मसत्ता में ही जगत्‌की सत्ता है। जगत् की अपना स्वतन्त्र सत्ता नहीं। यह बात किस किस स्थलमें लिखीहै।

---

* The purport is this:–This would not deprive the शक्ति or जगत् of their relative (आपेक्षिक) independence. They have a certain independence in God, yet belong to the whole (पूर्ण ब्रह्म) And act for the whole. इसी भावसे शङ्करने जगत् को आपेक्षिक सत्यं एवं ब्रह्म को परम सत्य कहा है। "सत्यं व्यवहारिकं आपेक्षिकं सत्यं, मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षया उदकादि सत्यं॥ अनृतं तद्विपरीतं। ननु परमार्थ सत्यं तत्तु एकमेव, शङ्कर तै० भा० २।६।३ " God is the substance the only truly independent self existing being, to whom every particular reality is related as a dependent being. The separate object has reality only as a part of the whole upon which it acts and by which it is acted upon. Dr. Paulsen (Introduction to Philosophy),

(१) वेदान्त भाष्य में।

शङ्कराचार्य कहते हैं:—(प्रपञ्चजालस्य) दृष्टनष्ट स्वरूपत्वात् स्वरूपेणतु अनुपाख्यत्वात्। जगत् प्रपञ्च जगत्‌के विकार स्वरूपसे अनुपाख्य हैं। इस कथनका आशय क्या निकला। टीकाकार अर्थ करते हैं विकारोंकी स्वरूपतः निजकी कोई स्वतन्त्र सत्ता व स्फूर्ति नहीं *। ब्रह्मसत्तामें ही इनकी सत्ता और ब्रह्मस्फुरणमें ही इनका स्फुरण है। शङ्कर ने वेदान्तभाष्यमें कही दिया है कि विकार सर्वदा रूपान्तरित होते रहते हैं किन्तु उनके भीतर जो सत्ता अनुस्यूत अनुगत

एक ही सत्ता विकारों में अनुप्रविष्ट है।

हो रही है, उस सत्ताका कदापि रूपान्तर नहीं होता †। इसी एक नित्य सत्तामें विकारोंकी सत्ता है। उनकी अपनी कोई स्वाधीन सत्ता नहीं है।

गीताके उस विख्यात २। १६ श्लोकके भाष्यमें शङ्कराचार्य ने हमें बत-

(२) गीता भाष्य में

ला दिया है कि विकार मात्र निरन्तर रूपान्तरित होता है वा भिन्न भिन्न आकार धारण करता रहता है। इस समय उनका जैसा आकार देखा दूसरे क्षणमें वह आकार न

विकार सर्वदा रूपान्तर ग्रहण करते हैं किन्तु उनकीसत्ता का परिवर्त्तन नहीं होता

मिलेगा और उस क्षणके पश्चात् वह आकार भी न रहेगा। प्रति मुहूर्तमें उनके आकार बदलते रहते हैं। सुतरां आकारोंकी कोई स्थिर सत्ता नहीं है। किन्तु प्रत्येक आकार में एक सत्ता अनुगत हो रही है। उस सत्तामें कभी परिवर्तन नहीं होता। अतएव इस अनुगत सत्ताके ही ऊपर उक्त सब आकारों की सत्ता निर्भर है। आकारोंकी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है ‡। इस स्थानमें भी सिद्ध हो गया कि, ब्रह्मसत्तामें ही जगत्‌की सत्ता है।

---

*"दृष्ट प्रातीतिकं नष्टमनित्यं यत्स्वरूपं रूपेण अनुपाख्यत्वात् सत्ता स्फूर्तिशून्यत्वात्" रत्नप्रभा टीका। इस दृष्ट नष्ट स्वरूप वालीबातका और एक अर्थ उपदेश साहस्रीकी टीकामें देखिये, परस्परव्यभिचारितयादृष्टनष्ट स्वरूपत्वम् (१८। ९७) विकार सर्वदा रूपान्तर ग्रहण करते हैं, एक आकार छोड़कर सर्वदा अन्य आकार धरते हैं इससे वे दृष्ट नष्ट स्वरूप हैं।

† कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्वं न व्यभिचरति एकञ्च पुनः सत्वं अतोऽनन्यत्वम्। (२। १। १६)।

‡ "यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत् 'सत्' यद्विषया व्यभिचरति तदसत्।...सर्वत्र द्वे बुद्धी सर्वैरुपलभ्येते समानाधिकरणे।......सत् घटः सत् पटः;

श्वेताश्वतर (१ । ३) के भाष्यमें शङ्कर कहते हैं, "सब भांतिके विशेष विशेष विकारोंके भीतर एक ब्रह्मसत्ता ही अनुगत हो रही है। इन सब विशेष विशेष आकारोंके द्वारा दृष्टि आच्छन्न रहती है, इसीसे साधारण लोग उस अनुगत सत्ताको नहीं देख पाते *। इस स्थानमें भी यही निश्चय हुआ कि विकारोंमें अनुप्रविष्ट ब्रह्म-सत्ता पर ही विकारोंकी सत्ता है। उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

३ श्वेताश्वर भाष्य में

तैत्तिरीय २ । ६ । २ के भाष्यमें भी हम यही बात पाते हैं। जगत्के नाम रूपात्मक विकारोंकी स्वकीय स्वतन्त्र सत्ता नहीं ब्रह्म सत्तामें ही उनकी सत्ता है † :

४ तैत्तिरीय भाष्य में

शङ्कर सत्कार्यवादी हैं। उनका मत यह है कि कारणके बिना कार्य उ-त्पन्न नहीं हो सकता। कार्य अपने उपादान कारणमें ही विलीन होकर अव्यक्त था। जो अव्यक्त था, वही व्यक्त हो गया है। और कारण सत्ता ही कार्योंमें अनुगत होती है नहीं तो

५ सत्कार्यवाद में।

सन्हस्ती इत्येवं सर्वत्र। तयोर्बुद्ध्योर्घटादि बुद्धिर्व्यभिचरति...नतु सद्बुद्धिः। तथाच सतश्च आत्मनः अविद्यमानता न विद्यते, सर्वत्र अव्यभिचारात्।... येन सर्व मिदं जगद्व्याप्तं सदाख्येन ब्रह्मणा.........नैतत् सदाख्यं ब्रह्म स्वेन रूपेण...व्यभिचरति। "यह सत्ता सर्वत्र अनुगत एवं सदा एकरूप है। केवल विकारोंमें परिवर्तन हुआ करता है, क्योंकि उनकी कोई सत्ता ही नहीं।

* "तत्तद्विशेषरूपेणावस्थितत्वात् स्वरूपेण शक्तिमात्रेण अनुपलभ्यमानत्वं ब्रह्मणः"। उपदेश साहस्त्रीकी टीकामें ज्यों की त्यों यही बात कही गई है—"सर्वेषु विशेषेषु अस्तितायां अव्यभिचारात् विशेषाणाञ्च व्यभिचाराणाञ्चानृतत्वात् सन्मात्रमेवसत्यं, नह्येतरूपो विशेषाकार इति सिध्यति„ (१९ । १५)

† "ततो नामरूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैव आत्मवती„—तत्त्वदर्शीके निकट विशेष आकार धारण कर लेने मात्रसे कोई वस्तु एक स्वतन्त्र पदार्थ नहीं बन सकती। शङ्कर इस परमार्थ दृष्टिसे ही जगत्को देखते थे। जगत्में उसकी उपादानसत्ता ही अनुगत है। किन्तु यह उपादान वा माया शक्ति भी परमार्थतः निर्विशेष ब्रह्मसत्ताकी ही एक दूसरी अवस्था मात्र है। इस लिये जगत्में एक ब्रह्मसत्ता ही भरी हुई है। और इसी लिये ब्रह्मसत्तामें ही जगत्की सत्ता कही जाती है।

कार्य भी असत् होते * । इससे कार्य, कारण सत्ताके ही अवस्था विशेष मात्र हैं, न कि स्वतन्त्र पदार्थ † । जो अव्यक्तावस्थामें था, वही व्यक्तावस्थामें आ गया, इतनी ही बात है। शङ्करकी इस मीमांसासे भी हम जानते हैं कि, जगत्की सत्ता अपनी कारण सत्ता पर ही निर्भर है। अर्थात् कारण सत्ताने ही कार्यका आकार धारण किया है। यथार्थ बात यह कि, जिसको 'कार्य' कहकर व्यवहार करते हैं, वह कारण सत्तासे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है। हम देख चुके हैं कि, शङ्कर ने 'सद्ब्रह्म, को (शक्तिसमन्वित ब्रह्मको) ही जगत्का कारण कहा है, इस भावसे भी हम यही पाते हैं कि, ब्रह्मसत्तामें ही जगत्की सत्ता है।

६ सुरेश्वर।

शङ्कराचार्यके अत्यन्त प्रिय शिष्य, सुप्रसिद्ध वार्तिककार श्रीमान् सुरेश्वराचार्यने कहा है,—जगत्में जितने कुछ पदार्थ देखते हो, ब्रह्मसत्तामें ही उनकी सत्ता एवं ब्रह्मके स्फुरणमें ही उनका स्फुरण समझो ‡ ।

उपदेशसाहस्री नामक प्रसिद्ध ग्रन्थके भी अनेक स्थलोंमें शङ्करने इसी तत्त्वका उपदेश किया है। टीकाकार रामतीर्थने उन स्थलोंका अर्थ सुन्दर रीतिसे खोल दिया है। हम उक्त ग्रन्थसे भी कतिपय प्रमाण उद्धृत कर अपने मन्तव्यकी पुष्टि करेंगे प्रकरण १४ श्लोक १० की टीकामें एवं प्र० १६ श्लो० ९ की व्याख्यामें पण्डितवर रामतीर्थ जी ने कहा है—

७ रामतीर्थ

आन्तर और बाह्य प्रत्येक विषय ब्रह्मकी सत्ता व स्फूर्ति द्वारा आलिङ्गित हो रहा है। यह सत्ता और स्फूर्ति ही आत्मा का स्वरूप है। ब्रह्मसत्ता और स्फूर्ति से व्यतिरिक्त

---

* प्रागुत्पत्तेः······कारणे सत्त्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते। यथा संवेष्टितः पटः व्यक्तं न गृह्यते···स एव प्रसारितः प्रसारणेन अभिव्यक्तो गृह्यते एवम् इत्यादि (शारीरक भाष्य)। असतश्चेत् कार्यं·········असदन्वितमेव स्यात् (तैत्तिरीय भाष्य)।

† "कारणात् परमार्थतः······व्यतिरेकेण अभावः कार्यस्य„ शारीरक भाष्य २।१।१४।

‡ "आत्मसत्तैव सत्तैषां भावानां न ततोऽन्यथा।
तथैव स्फुरणञ्चैषां नात्मस्फुरणतोऽधिकम्„ ॥
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्तिक।

विषय कहीं नहीं है *। फिर कहते हैं जगत्में जो कुछ विकार देख रहे हो, उसके भीतर ब्रह्मसत्ता व स्फूर्ति ओत प्रोत है। अतएव विकारको छोड़कर सब विकार मात्रके बीचमें भरी हुई उस ब्रह्म सत्ता तथा स्फूर्तिका अनुसन्धान करना ही तत्वदर्शीका कर्तव्य है„ †। इन प्रमाणोंसे भी यही मानना पड़ता है कि ब्रह्मसत्ता एवं ब्रह्म स्फूर्तिके बिना, जगत्के विकारोंकी स्वतन्त्र सत्ता व स्फूर्ति असम्भव है।

ऐतरेयभाष्य (५।३) में शङ्कर कहते हैं, सभी पदार्थ प्रज्ञान ब्रह्ममें प्रतिष्ठित एवं प्रज्ञान ब्रह्मद्वारा ही परिचालित होते हैं टीकाकार ज्ञानामृत यतिने इसकी व्याख्यामें स्पष्ट निर्देश किया है कि, इस प्रज्ञान ब्रह्मकी सत्ता द्वारा ही जगत्की सत्ता है एवं जगत्की सब प्रवृत्ति (क्रिया) इसीके अधीन है। जगत्की सत्ता और स्फूर्ति ब्रह्मके ही अधीन है, किन्तु ब्रह्मकी सत्ता व स्फुरण अन्यके अधीन नहीं वह आत्ममहिमामें नित्य प्रतिष्ठित है ‡।

८ ज्ञानामृत

वेदान्तदर्शन २।२।१—५ के भाष्यमें कहा गया है कि चेतनके अधिष्ठानवश ही जड़की क्रिया होती है, जड़की स्वतः कोई क्रिया सम्भव नहीं। इस उक्तिसे भी यही निकला कि, जिसकी सत्ता दूसरेकी सत्ता पर निर्भर है, उसमें निजकी कोई 'स्वतन्त्र, सत्ता व क्रिया नहीं रह सकती +

प्रिय पाठक, उद्धृत स्थलोंका सार इसमें यही विदित होता है कि, ब्रह्मसत्ताका अवलम्बन करके ही, समस्त विकार अवस्थित हैं एवं सभी विकारों

---

*सत्ता स्फूर्त्यनालिङ्गितस्य वाह्यस्याभ्यन्तरस्य च उल्लिखितुमशक्यत्वात्—तयोश्च आत्मस्वरूपत्वान्न ततो वहिरन्तरा किमपि अस्ति परमार्थतः।

† स्वाध्यस्त-सकलविकारानुस्यूत-सत्तास्फूर्तिरूपः विकारोपमर्दन अनुसन्धेयः„।

‡ सर्वंतत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्„। न केवलं प्रज्ञासत्तयैव सत्तावत्त्वं सर्वस्य, किन्तु प्रवृत्तिरपितदधीनैवेत्याह„। सर्वस्य जगतः सत्तास्फूर्त्योः प्रज्ञानाधीनत्वात्"।""प्रज्ञानस्य स्फुरणप्रतिष्ठयोः""स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वेन आश्रयान्तराभावात्"

+ उपदेश साहस्त्री ग्रन्थके श्लोक १९।९।१० में भी कहा है कि, "जड़ जगत् आगन्तुक है। जिसका अवलम्बन कर जगत् आया और ठहरा है, उसीकी सत्ता व स्फूर्तिमें जगत्की सत्ता व स्फूर्ति है" (रामतीर्थ)

के भीतर ब्रह्मसत्ता अनुस्यूत हो रही है। सुतरां विकारों में निजकी कोई भी स्वाधीन सत्ता वा स्फूर्ति नहीं है। ये जिसका अवलम्बन कर ठहरे हैं, उसीकी सत्तामें इनकी सत्ता एवं उसीके स्फुरण में इन का स्फुरण मानना पड़ता है। इनकी अपनी निजकी न तो 'स्वतन्त्र, सत्ता है और न 'स्वतन्त्र, स्फूर्त्ति ही है। ऊपर उद्धृत किये हुये प्रमाणोंसे यही बात स्पष्ट ज्ञात होती है।

प्रन्तु अब हमें यह देखना चाहिये कि, इन बातोंका अभिप्राय क्या है? सुनिये। एक कारण—सत्ता ही नानाविध आकार धारण करती है। इन्हीं आकारोंको हम एक एक पदार्थ मान बैठते हैं। किन्तु यथार्थ पक्षमें, हम प्रतिक्षण जिन विविध आकारों—को देखते हैं, एवं जिनको वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, सुख दुःख प्रभृति अनेक रूपों व नामोंसे निर्दिष्ट करते हैं, उन आकारों वा विकारोंके कारण क्या वास्तवमें कारण—सत्ता लुप्त हो जाती है? कदापि नहीं। सभी विकारों के मध्य में एक कारणसत्ता अनुगत हो रही है। यदि वह लुप्त हो जाती, तो आप कभी भी उसे कार्यों के बीच अनुस्यूत रूपसे न पहचान सकते। परन्तु आप तो निःसन्देह समझ रहे हैं कि, कार्यों के भीतर एक सत्ता, अनुगत-अनुप्रविष्ट होकर विराजमान है। अतएव तात्पर्य यह निकला कि, विविध आकार धारण करके भी, कारण—सत्ता अपना अस्तित्व अटल रखती है। यह कारण—सत्ता ही ब्रह्मसत्ता है *।

ब्रह्मसत्ता में ही जगत् की सत्ता है,—इस बात का तात्पर्य क्या है॥

ख। जगत्के विकारोंके सम्बन्धमें जो बात है, जगत्के उपादान "मायाशक्ति' के सम्बन्धमें भी भाष्यकारने ठीक वही बात कही है। ब्रह्म ही—मायाशक्तिका अधिष्ठान है। इस लिये सर्वत्र यही लिखा गया है कि ब्रह्मसत्ता में ही मायाकी सत्ता एवं ब्रह्मके स्फुरण में ही मायाका स्फुरण है।

२। ब्रह्मसत्तामें ही मायाशक्ति की सत्ता है। मायाकी 'स्वतन्त्र, सत्ता नहीं यह बात कहां कहां लिखी है

---

* इसी लिये भाष्यकारने कहा है, कारण और कार्य एकबारमें एक वा अभिन्न नहीं हो सकते। क्योंकि, वैसा होने पर, कार्य effect नामसे कुछ नहीं रहजाता, एवं उसके उपादान Cause के नामसे भी कुछ नहीं बचता भाष्यकार कहते हैं, कारण-कार्यसे ,स्वतन्त्र, है. किन्तु कार्य कारणसे एकान्त 'स्वतन्त्र, नहीं हो सकता। अर्थात् कारण कार्यका आकार धर कर भी भिन्न स्वतन्त्र वस्तु नहीं बन बैठता, या यों कहो कि अपनी स्वतन्त्रता को भूल नहीं जाता। "अत्यन्तसारूप्ये च प्रकृतिविकारभाव एव प्रलीयते"। "कार्यं कारणाद् भिन्न-सत्ताकं, न कार्यं कारणाद् भिन्नम्„।

तैत्तिरीय २। ६। २। भाष्यमें लिखते हैं—"ब्रह्मकी सत्तामें ही माया-शक्तिकी सत्ता है। वह ब्रह्मसत्ताकी ही आत्मभूत है, ब्रह्मसत्तासे 'स्वतन्त्र भावमें मायाकी सत्ता नहीं है। किन्तु ब्रह्म-मायाशक्ति से 'स्वतन्त्र' है *।

(१) तैत्तिरीय भाष्यमें।

यही बात ज्यांकी त्यों वेदान्तभाष्य (२। १। १४) में लिखी हुई है, "संसार प्रपञ्चकी बीजभूत मायाशक्ति वा प्रकृति ईश्वरकी ही एक प्रकार आत्मभूत है। क्योंकि यह ब्रह्मकी सत्तासे एक बार ही 'स्वतन्त्र' नहीं है। परन्तु ब्रह्म-इस मायाशक्तिसे अवश्य ही 'स्वतन्त्र, है †। टीकाकारोंने भी इन प्रमाणोंकी व्याख्यामें कहा है कि, "माया परिणामिनी शक्ति होनेसे, अपरिणामी ब्रह्मके सहित एक वा अ-भिन्न नहीं हो सकती। किन्तु इस शक्तिको ब्रह्मसे एक बार ही भिन्न, भी नहीं कह सकते; क्योंकि ब्रह्मसे अलग इस शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है स्फुरण भी नहीं है। ब्रह्म ही इस माया-शक्तिका अधिष्ठान है। सुतरां ब्रह्म—मायाशक्तिसे 'स्वतन्त्र, है ‡।

(२ वेदान्त भाष्यमें।

३ टीकाओंमें।

शङ्कर भगवान्‌की इन बातोंका भी तात्पर्य समझ लेना आवश्यक है। दोनों स्थानोंमें टीकाकारोंने जैसा तात्पर्य निकाला है सो संक्षेपसे लिखा जाता है। माया शक्ति परिणामिनी शक्ति वा जड़ शक्ति है। यह ब्रह्मसत्ताकी ही एक आगन्तुक विशेष अवस्था मात्र है। इस कारण ब्रह्म ही मायाशक्तिका अ-

ब्रह्मसत्ता में ही माया की सत्ता है इस कथन का तात्पर्य क्या है

---

* "यदा आत्मस्थे अनभिव्यक्ते नामरूपे व्याक्रियेते, तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ...व्याक्रियेते। तत् नामरूपव्याकरणं नहि आत्म-नोऽन्यत् अनात्ममूलं तत्।,ततो नामरूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैव आत्मवती। न ब्रह्म तदात्मकम्। ते तत्प्रत्याख्याने निराकरणे न स्त एव, इति तदात्मके उच्येते"।

† ईश्वरस्य आत्मभूते इव नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार प्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च...अभिलप्येते, ताभ्या-मन्यः "स्वतन्त्र, ईश्वरः"। १। ४। ३ भाष्यमें भी है—" अव्यक्ता हि सा माया तत्त्वान्यत्वाभ्यां निरूपयितुमशक्यत्वात्"।

‡ चिदात्मनिलीने नामरूपे एव वीजं...नामरूपयोरीश्वरत्वं वक्तुमशक्यं जड़त्वात्, नापि ईश्वरादन्यत्वं, कल्पितस्य पृथक्‌सत्तास्फूर्त्योरभावात्"। (इसे 'कल्पित' क्यों कहा, सो फिर देखा जायगा)

धिष्ठान है *। वास्तवमें माया ब्रह्मसे एकान्त भिन्न 'अन्य, नहीं है अर्थात् स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि यह ब्रह्मसत्ताका ही अवलम्बन करके स्थित है, यह ब्रह्मसत्ताकी ही एक विशेष अवस्था मात्र है। इससे ब्रह्मसत्ता में ही इसकी सत्ता सिद्ध है। किन्तु यह परिणामिनी शक्ति वा जड़ शक्ति है इस लिये यह शक्ति और ब्रह्म दोनों अभिन्न वा एक भी नहीं हो सकते। अतएव ब्रह्म इससे 'स्वतन्त्र' है। ऐसा होनेसे पाठक देखें कि बात यह नि. कली ब्रह्म अपरिणामी और माया परिणामिनी है। और माया निर्विशेष ब्रह्मसत्ताका ही एक विशेष आकार मात्र है †। किन्तु एक अवस्था विशेषके उपस्थित होनेसे ही क्या, कोई एक 'स्वतन्त्र, वस्तु बन गई? ऐसा कभी नहीं हो सकता। जो ब्रह्मसत्ता की ही एक विशेष अवस्था है उसकी सत्ता ब्रह्म. सत्तासे अलग कदापि नहीं मिल सकती। उसकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं, इस लिये ब्रह्मसत्तामें ही उसकी सत्ता स्वीकृत हुई है।

ग। पाठक देखें, उपर्युक्त विचारोंसे जगत् वा मायाशक्ति उड़ नहीं गई।

क्या सिद्धान्त निकला।

भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्य जीने केवल यही मीमांसा करदी कि, जो 'सत्ता, विकारों में अनुस्यूत हो रही है वह विकारोंकी 'कारण-सत्ता,के सिवा और कुछ नहीं है। और यह परिणामिनी 'कारणशक्ति, भी-निर्विशेष ब्रह्मसत्तासे व्यतिरिक्त अन्य कुछ नहीं ‡।

---

* यह 'आगन्तुक' है, यह व्याचिकीर्षित अवस्था है (मुण्डकभाष्य, (१।१।८) ब्रह्म इससे स्वतन्त्र है। इसीसे अधिष्ठान है। चैतन्यस्य नित्यत्वेन, जगद्भिन्नत्वेन च तस्य सत्यत्वात् अधिष्ठानोपपत्तेः„ आनन्दगिरि।

† सृष्टिके पहले यह इस भावसे न थी, तब तो यह ब्रह्ममें एकाकार भावसे थी। ब्रह्म नित्य और निर्विशेष है। सृष्टिके प्राक्कालमें, निर्विशेष ब्रह्म सत्ताने ही एक विशेष अवस्था सृष्टिकी उन्मुखावस्था धारण की। सुतरां ब्रह्म निर्विशेष सत्ता, और माया सविशेष सत्ता है। ब्रह्म कूटस्थ नित्य है माया परिणामी नित्य है किञ्चित्परिणामि नित्यं यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि तदेवेति बुद्धिर्न विहन्यते। इदन्तु परमार्थिकं कूटस्थनित्यं "सर्व विक्रियारहितम् वेदान्तभाष्य १।१।४।

‡ "बाह्य—सत्ता,-सामान्यविषयेण सत्य शब्देन लक्ष्यते 'सत्यं ब्रह्मेति, नतु सत्य शब्दवाच्यमेव ब्रह्म„। जड़की सत्ता द्वारा ही ब्रह्मसत्ताकी सूचना

अब अधिक भाष्य व टीका उद्धृत करनेकी आवश्यकता नहीं है। सभी उद्धृत अंशोंका तात्पर्य या सिद्धान्त यही है कि, ब्रह्मकी ही सत्ता व स्फुरण—जगत् और जगत् के उपादान मायाशक्तिमें अनुप्रविष्ट हो रहे हैं। अतएव ब्रह्मकी सत्ता व स्फुरणसे स्वतन्त्र रीति पर, माया और जगत्की कोई 'स्वाधीन, सत्ता या स्फुरण नहीं है।

इस सिद्धान्त को मनमें रखने से शङ्करका अद्वैतवाद विना कष्ट समझ में आ जायगा। सब अंशोंको एकत्र कर लेने से अद्वैतवादका यथार्थ तात्पर्य इस प्रकार जाना गया कि, एक विशेष अवस्थान्तरके उपस्थित होने पर भी, किसी वस्तुका निज स्वातन्त्र्य नष्ट नहीं हो जाता। घट-मृत्तिकाकी ही विशेष अवस्था मात्र है। घटरूप एक आकार—विशेष उपस्थित होनेसे, क्या मृत्तिकाकी स्वतन्त्रता कहीं चली गई? यदि ऐसा ही हो, तब तो यह भी हो सकता है कि, जो मैं इस समय बैठा लिख रहा हूं, वही मैं जब कुछ देर बाद घूमने जाऊंगा, तब भ्रमण कालमें मैं एक नवीन 'स्वतन्त्र, व्यक्ति हो जाऊंगा! ऐसा कभी नहीं हो सकता *। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मसत्ता भी अपने आपको भूल नहीं जाती। ब्रह्म—पूर्णज्ञान व पूर्ण सत्तास्वरूप है। इस निर्विशेष सत्ताका जब एक 'आगन्तुक, † अवस्था विशेष—सर्गोन्मुख परिणाम—उपस्थित होता है, तब क्या उसकी स्वतन्त्रतामें कोई हानि होती है? कभी नहीं। और जब जगत् अभिव्यक्त हो पड़ा—जब उस आगन्तुक परिणामिनी सत्तासे विविध नाम रूपात्मक विकार हुए—तब भी क्या उस ब्रह्मसत्ताकी

> एक विशेष आकार धारण करने से, वस्तु अपना 'स्वतन्त्रता, नहीं छोड़ देती।

मिलती है। अर्थात् सब विकार में अनुस्यूत परिणामिनी शक्तिके द्वारा, अपरिणामिनी ब्रह्मशक्तिका भी आभास पाया जाता है। क्योंकि, मायाशक्ति-- निर्विशेष ब्रह्मशक्तिकी ही विशेष अवस्था मात्र है। "नहि विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति, स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्,, (वेदान्तभाष्य)

* शङ्करने यही दृष्टान्त यों लिखा है,—"न च विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति। नहि देवदत्तः सङ्कोचितहस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं गच्छति,...स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्,,—वेदान्तभाष्य' २। १। १६।

† भाष्यकार इसे 'व्याचिकीर्षित अवस्था, कहते हैं, (मुण्डक १। १। ८) 'अविद्यायाः सर्गोन्मुखः कश्चित् परिणामः, रत्नप्रभा।

स्वतन्त्रता लुप्त हो गई ? कभी नहीं। यथार्थ तत्त्वदर्शीजन इसी भांति जगत्में ब्रह्मसत्ताको देखते हैं। किन्तु जो तत्वदर्शी नहीं—जो साधारण लोग हैं, वे भी क्या जगत्में इस प्रकार ब्रह्मसत्ताका दर्शन पाते हैं * ? कभी नहीं। वे तो जागतिक विकारोंको ही सर्वस्व समझ कर उन्हींमें व्यस्त या मस्त हो पड़ते हैं, विकारोंको ही सत्य मान बैठते हैं। वेदान्तभाष्य (२ । १ । १४) में शङ्कर कहते हैं,—" जो अज्ञानी हैं, वे इस जगत्को ही 'सत्य, समझते हैं „। अर्थात् जगत्की स्वकीय 'स्वतन्त्र, सत्ता है यही मानते रहते हैं। और ज्ञानी लोग जानते हैं कि यह जगत् 'असत्य, है। अर्थात् इस जगत्की कोई 'स्वतन्त्र, सत्ता नहीं, ब्रह्मकी ही सत्ता और स्फुरण इस जगत्में अनुस्यूत हो रहे हैं। पाठक, इस सिद्धान्त द्वारा क्या जगत उड़ गया ?

श्री शङ्कराचार्यकी युक्तियोंका अभिप्राय यही है। हम अज्ञानी संसारी लोग हैं हम संसारके पदार्थोंका दर्शन व ग्रहण विपरीत रूपसे करते हैं। प्रत्येक पदार्थके मध्यमें—प्रत्येक विकारके भीतर—जो ब्रह्मसत्ता वा कारणसत्ता प्रविष्ट है, उसको हम भूल जाते हैं। उसे भूल कर ही हम संसारके सब पदार्थोंको एक एक करके स्वतन्त्र वस्तु जानते हैं। जगत्के पदार्थ मात्र निरन्तर रूपान्तर ग्रहण करते—प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। हम इन्हीं आकारोंको देखते हुए उस सत्य कारणसत्तासे सर्वथा अनभिज्ञ रहते हैं। इसीको शङ्कर स्वामीने भ्रमज्ञान माना है। तत्वदर्शीजन ऐसे भ्रममें नहीं पड़ते। वे समझते हैं कि, पदार्थों या आकारोंकी स्थिरता नहीं, ये नियत परिवर्तन शील हैं, इनका इस समय जैसा रूप वा आकार है वह दूसरे समय वैसा न रहेगा †। किन्तु इन सब विकारोंके भीतर जो एक अनुगत 'सत्ता, है, उसीको ज्ञानी लोग

---

* " यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिः तावत्……व्यवहारेषु अनृतबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते, विकारानेवतु……आत्मात्मीयभावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते। वेदान्तभाष्य—२ । १ । १४ ।

† विवेकिभिर्विश्वं दृष्टं तच्चातीव चञ्चलं नाशप्रायं वर्त्तमानकालेऽपि तद्योग्यतासत्वात् ……तच्च नाशग्रस्तं, नाशादूर्ध्वमसत्यमेवोपगच्छति, न तर्हि तस्य परमार्थत्वम्" माण्डूक्यकारिकाभाष्यटीका, ३ । ३२। कोई कोई परिवर्तन अतिशीघ्र कोई कोई धीरेसे होता है। पर सभी पदार्थ परिवर्तन शील हैं।

एक मात्र सत्य एवं स्थिर वस्तु मानते हैं। इस सत्ताकी स्वतन्त्रताको कभी भी नहीं भूलते। परन्तु अज्ञानी साधारण जन इसे भूल कर अस्थिर नाम रूपात्मक विकारोंमें ही पड़े रहते हैं। ज्ञानी और अज्ञानीमें इतना ही पार्थक्य है। अज्ञानी लोग विकारों एवं विकारोंमें अनुगत सत्ताको एक एवं अभिन्न संसृष्ट समझकर केवल विकारोंमें ही निमग्न रहते हैं, उनको स्वतन्त्र, स्वाधीन वस्तु मान लेते हैं। और उस कारण—सत्ताको सर्वथा भूलजाते हैं *। ऐसा भ्रम ज्ञानी महात्मा जनोंको नहीं होता। उनकी दृष्टिसे तो एक सत्ता ही जगत्के विकारोंमें दीख पड़ती है, इसी सत्ताके सहारे सब विकार अवस्थित हैं। जो असत् वा शून्य है, वह कदापि विकारोंमें अनुस्यूत नहीं हो सकता, सुतरां इस सत्तामें ही विकारोंका अस्तित्व है †तात्पर्य यह कि, विकार निरन्तर चञ्चल हैं वे स्वतन्त्र स्वाधीन वस्तु नहीं हो सकते। अब जो बात जगत्के सम्बन्ध में कही गई, वही जगत् के उपादान मायाशक्तिके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। अज्ञानी लोग ही, मायाशक्तिको (सांख्यकी 'प्रकृति' वा न्यायके 'परमाणु' की भांति) एक स्वतन्त्र, स्वाधीन वस्तु समझते हैं। किन्तु तत्व-

---

* सुवर्णकी स्वतन्त्रताको भूलकर हार मुकुट कुंडल इत्यादिको स्वतन्त्र वस्तु मानना ही महाभ्रम है। "अतत्वदर्शी चित्तमात्मत्वेन प्रतिपन्नश्चित्तचलनमनुचलितमात्मानं मन्यमानस्तस्मांच्चलितं देहादिभूतमात्मानं मन्यते„ मांडूक्यकारिकाभाष्य ३। ३८।

† "नच असतो अधिष्ठानत्वमारोपितानुवेधाभावात्, तदनुवेधात्तु स-तोऽधिष्ठानत्वमेष्टव्यम्„ आत्मनस्तु सर्वकल्पनासु अधिष्ठानाकारेण स्फुरणा-ङ्गीकारात्„ आनन्दगिरि मा० का० ३। ३। "कल्पितानां प्राणादिभावानां अ-धिष्ठानसत्तया सत्वेन, न सत्ता अवकल्पयते„ (३। ३३) अधिष्ठान सत्तामें ही इनकी सत्ता है, इससे ये कल्पित, कहे जा सकते हैं। "स्वरूपेण अकल्पितस्य संसृष्टरूपेण कल्पितत्वमिष्टम्"। अज्ञानी लोग सर्वत्र अनुगत सत्ताकी स्वतन्त्र-ताको भूलकर उसे विकारों द्वारा संसृष्ट जानते हैं, अर्थात् सत्ताको ही वि-कारी मानते हैं। यही भ्रम है। इस प्रकार अज्ञानी लोग बुद्धिके विकार सुखदुःखादि द्वारा आत्माको ही सुखी दुःखी आदि समझ बैठते हैं।

दर्शी कहते हैं, वह निर्विशेष ब्रह्मसत्ताकी ही * एक आगन्तुक अवस्था वा परिणामिनी सत्ता मात्र है, न कि अन्य कोई स्वतन्त्र वस्तु। वह ब्रह्मसत्ता की ही परिणामोन्मुख अवस्था है, ब्रह्मसत्ता ही उसमें अनुस्यूत है। यही शङ्करका सिद्धान्त है।

घ। शङ्कराचार्यने केवल इस 'स्वतन्त्रता, की बातको लेकर ही सांख्य, के साथ विवाद बढ़ाया है। वेदान्तभाष्य (१।२।२२) में सांख्यवालों को लक्ष्य करके स्पष्ट ही लिख दिया है कि—

सांख्य और वेदान्त में विरोध कहां है

"यदि आपकी 'प्रकृति' स्वतन्त्र कोई पदार्थ है, तो उसी में हमारी आपत्ति है। और यदि आप भी हमारी स्वीकृत अस्वतन्त्र 'अव्यक्तशक्ति' की भांति, प्रकृतिको ब्रह्म से 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं मानते, तो हमारी कुछ आपत्ति नहीं,, †। सांख्य वाले प्रकृतिको, पुरुषसे नितान्त 'स्वतन्त्र, समझते हैं। फिर उसे 'सत्य, भी कहते हैं और ध्यानादि द्वारा 'ज्ञेय, भी बतलाते हैं। इधर शङ्कराचार्य भी प्रकृतिको स्वीकार तो करते हैं किन्तु उस की सत्ताको ब्रह्मसत्ता से भिन्न—स्वतन्त्र—नहीं मानते। उनका उपदेश है कि, वा जब निर्विशेष ब्रह्मसत्ताका ही एक सृष्टिकालीन आकार विशेष (सर्गोन्मुख परिणाम) मात्र है, तब ब्रह्मसत्ता से व्यतिरिक्त उसकी 'स्वतन्त्र, सत्ता कहां रही? और जिसकी अपनी स्वतः सिद्ध स्वतन्त्र सत्ता नहीं, वह 'सत्य, नहीं, कल्पित है ‡। इसलिये प्रकृति 'सत्य, भी नहीं। और शङ्कर एकमात्र ब्रह्म

---

* निर्विशेष ब्रह्मसत्ता—अचल, कूटस्थ, अपरिणामी है। सृष्टिकालमें इस सत्ता की ही परिणामोन्मुख अवस्था अङ्गीकार करली जाती है। किन्तु उसके द्वारा इसकी स्वतन्त्रताकी हानि नहीं होती। परिणामिनी अवस्था द्वारा स्वातन्त्र्यकी हानि होना मानना भ्रम है। "स्वतो निर्विकल्पस्फुरणेऽपि समारोपितसंसृष्टाकारेण भ्रमविषयत्वम्.,।

† "नात्र प्रधानं नाम किञ्चित् 'स्वतन्त्रं, तत्त्वमभ्युपगम्य तस्मादभेदव्यपदेश उच्यते। किं तर्हि? यदि प्रधानमपि कल्पयनानं श्रुत्यविरोधेन अव्याकृतनादिशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्मं परिकल्प्येत, कल्प्यताम्,,।

‡ 'यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति, तत् 'सत्यम्,—तैत्तिरीयभाष्य,। प्रकृतिका 'आकार, तो चिरस्थायी नहीं। सृष्टिके पूर्व वह ब्रह्म में एकाकार रहती है। सृष्टिके प्राक्कालमें एक विशेष आकार हुआ। फिर उसी

को ही मुख्य 'ज्ञेय, वस्तु बतलाते हैं। प्रकृति प्रभृति पदार्थ मुख्यरूपसे 'ज्ञेय, नहीं हो सकते। किन्तु शङ्करने यह भी स्पष्ट कह दिया है कि, प्रकृति प्रभृति पदार्थ ब्रह्मको जानने के उपाय मात्र हैं। "विष्णुके परम पदका दर्शन करानेके ही लिये 'अव्यक्त, निर्देशित हुआ है,, *। वास्तव में सांख्य वालों के साथ शङ्करका विरोध नाम मात्रको ही है, यही हमारा बिश्वास है। 'प्रकृति, शब्द उच्चारण करते ही सांख्य की प्रकृति मनमें आ जाती है एवं सांख्य-मतमें प्रकृति पुरुष चैतन्यसे 'स्वतन्त्र, वस्तु है। इस स्वतन्त्र शब्दके ही कारण शङ्कराचार्य उक्त प्रकृति शब्दको ग्रहण करने में अप्रसन्न थे। इसीलिये वेदान्तदर्शन प्रथम अध्यायके चतुर्थपादमें तथा अन्य स्थानोंमें भी इस प्रकृति का खण्डन किया है। इन स्थानों में यथार्थमें प्रकृति खण्डित नहीं हुई है केवल 'स्वतन्त्र, प्रकृति का ही खण्डन हुआ है। अर्थात् उन्होंने जगत् की उपादान शक्ति 'प्रकृति, को स्वीकार किया है। किन्तु उन का यह उपदेश अवश्य है कि, प्रकृति वा जगत् कोई भी ब्रह्मसत्तासे एकान्त 'स्वतन्त्र, नहीं

ने जगदाकार धारण किया। प्रलयमें यह आकार नहीं रहता, सुतरां 'असत्य' है। चिर स्थिर ही सत्य कहा जायगा। "यन्न स्वतः सिद्धं तत्„ 'कल्पितम्, रामतीर्थ। असत्य कहनेसे अलीक समझना ठीक नहीं। शङ्करने अलीक और असत्य में भेद माना है। आकाशकुसुम, मृगतृष्णा प्रभृति अलीक पदार्थ हैं। इन पदार्थोंकी तुलना में जगत्को शङ्करने 'सत्य, कहा है। इसलिये शङ्कर-मतमें जगत् अलीक नहीं। शक्ति भी मिथ्या नहीं। तैत्तिरीयभाष्य देखो २।६।३। केवल ब्रह्मके सन्मुख ही जगत् 'असत्य, कहा गया है।

* "विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यासः„ वेदान्तभाष्य १।४।४। हमने यह सब मर्म वेदान्तभाष्य १।४।५।९से संग्रह किया है। इस भाष्य में प्रकृति का खण्डन हुआ है, यह बात मनमें आ सकती है, किन्तु हमने जो कहा, उस की ओर लक्ष्य रखने से निश्चय प्रतीत होगा कि. शङ्कर प्रकृतिकी स्वतन्त्रताका ही विरोध करते हैं। और उपर्युक्त प्रणालीसे प्रकृति को सत्य व ज्ञेय भी नहीं मानते। यही सांख्य और वेदान्त में विरोध है। वस्तुतः अन्य मूल विषयमें विरोध नहीं।

है। परन्तु प्रकृति व जगत् दोनों 'आगन्तुक, हैं, इससे ब्रह्म दोनोंसे स्वतन्त्र है। यही शङ्करका सिद्धान्त है *।

ङ। उपदेश-साहस्री ग्रन्थ में मायाशक्तिकी इस स्वतन्त्रता के सम्बन्धमें एक बड़ा अच्छा दृष्टान्त दिया गया है। इस दृष्टान्त द्वारा शङ्कर के अद्वैतवाद का अभिप्राय भी सहज व सुन्दर रीति से समझ में आ जाता है। इस कारण उस का लिखना हम आवश्यक समझते हैं। देखिये—

दर्पण के दृष्टान्त से अद्वैत-वाद का व्याख्या।

सन्मुखवर्ती दर्पण में हमारे मुख का प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। दर्पण वाला मुख हमारे मुख से कुछ विकृत है। दर्पण के कांच एवं अन्य भी अनेक कारणों से वह किञ्चित् बिगड़ा भी हो, तथापि वह हमारे मुखके सिवा अन्य कुछ नहीं है। दर्पणस्थ मुख की अपनी कोई 'स्वतन्त्र' सत्ता नहीं है, हमारे (ग्रीवास्थ) मुखकी ही सत्ता व स्फुरण पर—दर्पणस्थ मुख की सत्ता व स्फुरण अवलम्बित है। हमारे मुख की सत्ता व स्फुरण के बिना दर्पणस्थ मुख की जब स्वतन्त्र सत्ता व स्फुरण नहीं है, तब उसे एक प्रकार 'असत्य, कह सकते हैं। क्योंकि जिसकी स्वाधीन सत्ता ही नहीं वह अवश्य असत्य माना जायगा। किन्तु इतना होने पर भी उसे 'मिथ्या, कह कर एक बार ही उड़ा नहीं सकते †। कारण कि दर्पण में हमारे मुख का प्रतिबिम्ब पड़ा है इस में कुछ भी सन्देह नहीं। यहां पर और भी एक तत्व है। अवश्य ही उसकी 'स्वतन्त्र सत्ता, नहीं किन्तु हमारा मुख स्व-

---

* हमने प्रथम खण्डकी अवतरणिका में यह दिखानेकी चेष्टा की है कि सांख्यने जो प्रकृतिको स्वतन्त्र पदार्थ कहा है, सो कहना मात्र ही है। चैतन्य के संयोग बिना जब प्रकृति परिणाम को नहीं प्राप्त हो सकती, प्रकृति पुरुषके संयोग बिना जब सृष्टि हो ही नहीं सकती, तब सांख्यकी प्रकृतिकी 'स्वाधीन,सत्ता, वाली बात बात मात्र ही है। इस विषय में अधिक जानने की इच्छा हो तो प्रथम खण्ड देखिये॥

† रामतीर्थ कहते हैं—"नापि 'असत्, (अलीकं) अपरोक्ष प्रतिभासात्,, प्रत्यक्ष ही जब प्रतिबिम्ब देखा जाता है तब वह 'अलीक, नहीं।

लन्त्र ही बना रहता है *। आप दर्पण को भले तोड़ डालें वा दर्पणस्थमुख में कुछ भी करें, उस से हमारे मुख की कुछ भी क्षति वृद्धि नहीं हो सकती।

इस दृष्टान्त की सहायता से अद्वैतवाद स्पष्ट ज्ञात हो जायगा। यद्यपि मायाशक्ति ब्रह्मसत्ता की अपेक्षा किञ्चित् विकृत (परिणामिनी) है तथापि वह ब्रह्मसत्ता से व्यतिरिक्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। किन्तु वह अलीक भी नहीं अथच ब्रह्मसत्ता उस से 'स्वतन्त्र, ही बनी रही। आशा है कि ऊपर लिखी हुई बातों से पाठक महाशय अद्वैतवाद का यथार्थ मर्म समझ जावेंगे।

शङ्कर-मत में जगत वा जगत् का उपादान अलीक नहीं।

१०। बहुत सज्जनों की धारणा यही है कि शङ्कराचार्य ने जगत् को अलीक व असत्य ही माना है। हमने ऊपर जो आलोचना की है उस से कुछ तो मर्म अवश्य ही खुल गया है। किन्तु यह विषय अति गम्भीर है। इस लिये हम विस्तारपूर्वक फिर भी कुछ विचार करते हैं। हमारा तो यही दृढ़ विश्वास है कि शङ्कर ने किसी भी स्थान में जगत् एवं उसकी उपादानशक्तिको अलीक कह कर उड़ा नहीं दिया। तब उन्हों ने निःसन्देह अनेक स्थलों में जगत् के सम्बन्ध में असत्य मृषा कल्पित आदि शब्दों का व्यवहार किया है। इन सब शब्द प्रयोगों को ही देख देख कर सम्भवतः अनेक लोगों की विपरीत धारणा हो गई है। किन्तु यह बात क्या वास्तव में सत्य है!—शङ्कर ने क्या यथार्थ ही जगत् को उड़ा दिया है।

अद्वैतवादकी विशेष आलोचना

ब्रह्म निरवयव एवं सब प्रकारके विकारसे वर्जित है। और यह जगत् सावयव एवं विकारी है। ब्रह्मचेतन शुद्ध एकरस है। और यह जगत्—अचेतन अशुद्ध अनेक रस है। ब्रह्म सब भांति के विशेषत्व से शून्य है। और जगत्—विशेषत्व युक्त है अब यह देखना चाहिये कि निरवयव चेतन निर्विशेष, निर्विकार ब्रह्म से यह सावयव जड़ विशेषत्व युक्त विकारी जगत् किस प्रकार प्रादुर्भूत हुआ! इस बात में कोई सन्देह नहीं कि यह इन्द्रजाल की भांति एक बड़ा विस्मयोत्पादक व्यापार है! किन्तु तो भी इस विषय की यथाशक्ति मीमांसा करना आवश्यक है। शङ्कर ने इसकी कैसी मीमांसा की है!

---

* "तस्मात् अन्यत् सुखम् ,,—रामतीर्थ।

उन्हों ने ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण एवं उपादान कारण भी माना है। ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण हो सकता है। जैसे कुम्भकार घटका निमित्त कारण है। कुम्भकार स्वतन्त्र रहकर ही मृत्तिका जल प्रभृतिके द्वारा घट निर्माणका कर्त्ता हुआ करता है। इसी भांति ब्रह्म भी स्वतन्त्र रहकर किसी उपादान द्वारा जगत्का निर्माण करता है। यह बात समझनेमें कोई गड़बड़ी नहीं हो सकती। किन्तु ब्रह्म जगत्का उपादान कारण किस रीतिसे हो सकता है? यह जगत् तो जड़ है, विकारी है, अचेतन है। इसलिये इसका उपादान—जिससे जगत् उत्पन्न हुआ है,—वह उपादान भी अवश्य ही जड़, विकारी और अचेतन होगा। चैतन्य ब्रह्म ऐसा उपादान क्यों कर हो सकता है? अन्यच्च शङ्कर स्वामी क्या जादूगर हैं कि असाध्य साधनमें उद्यत हुए? उन्होंने ब्रह्मको ही जगत् का उपादान कारण बतलाया है *।

ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण एव उपादानकारण भी है।

---

* वेदान्त दर्शन १।४।२३–२६ सूत्रोंके भाष्यमें ब्रह्मको निमित्त एवं उपादान कारण बतलाया है। २६ वें सूत्रके भाष्यमें—"तदात्मानं स्वयमकुरुत" यह श्रुति उद्धृत है। इसका अर्थ लिखा है—"आत्माने स्वयं आत्माको जगदाकारसे परिणत किया„। आत्मा तो अपरिणामी है, तो उक्त अर्थ क्योंकर संगत हो? वेदान्त २।१।१७ सूत्र भाष्यमें भी यह श्रुतिवाक्य उद्धृत हुआ है। वहां लिखा है—"यह जगत् सृष्टिके पहले सत् रूपसे—सत्ता रूपसे अवस्थित था। वह सत्ता ही जगदाकारसे परिणत हुई है। उसी सत्ताको लक्ष्य करके यह श्रुति उक्त हुई है„। सुतरां यहां आत्माका अर्थ सद्ब्रह्म है। सद्ब्रह्मने ही अपनेको परिणत किया,—यही अर्थ निकलता है। हम लिख आये हैं कि शक्ति द्वारा ही ब्रह्म सद्ब्रह्म कहलाता है। शक्ति रहित शुद्ध ब्रह्मको सद्ब्रह्म नहीं कहते। "बीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव......सत् शब्दवाच्यता है (गौड़पादकारिकाभाष्य १।२) वास्तवमें यह बीजशक्ति ब्रह्मसे" स्वतन्त्र नहीं, इसलिये उद्धृत श्रुति वाक्यका अर्थ हुआ—ब्रह्मकी आत्मभूत—ब्रह्म से अस्वतन्त्र शक्ति ही परिणत होती है। ऐतरेयभाष्यमें शक्ति को—"आत्मभूतामात्मैक-शब्दवाच्याम्"—कहा है। अतएव श्रुतिके आत्मा शब्द का अर्थ 'शक्ति, है। गीताभाष्य (१०।६) में आनन्दगिरि भी कहते हैं—"आत्मातिरेकेणाभावात्......न केवलं भगवतः सर्वप्रकृतित्वं किन्तु सर्वज्ञत्वमित्यादि„। तभी हम

शङ्करको वेदमें विवर्तवाद एवं परिणामवाद, दोनों मिले हैं। वेदमें जैसे ब्रह्म निरवयव लिखा है, वैसे ही ब्रह्मसे विकारी, परिणामी जगत् प्रकट हुआ,—यह बात भी पाई जाती है। इन परस्पर विरुद्ध उक्तियोंका सामञ्जस्य करने के प्रयोजन से ही शङ्कर नामक जादूगर इन्द्रजाल दिखला गए हैं। और अपने ऐन्द्रजालिक मन्त्रोंकी फूंकसे विरोध को छार छार कर उड़ा गए हैं?

इस कठिन समस्या का सामञ्जस्य वा समाधान दो प्रकार से हो सकता है। शक्ति और जगत् को एक वार ही उड़ा देनेसे एक प्रकार छुट्टी मिल सकती है। बहुत लोग समझते हैं कि भाष्यकार ने ऐसा ही Destruceine सामञ्जस्य किया है। परन्तु हम कहते हैं कि शक्ति और जगत् की रक्षा करके भी सामञ्जस्य होना सम्भव है।

हम दिखला देंगे कि, शङ्करने जगत् या शक्ति—किसीको भी नहीं हटाया। उनके सामञ्जस्य की प्रणाली जैसी लोगोंने समझ रक्खी है, वैसी वह नहीं है। शङ्कर भारतके ब्राह्मण हैं। किसीको हिंसा करना, किसी का प्राणनाश करना ब्राह्मणका धर्म नहीं है। विशेषत: शक्ति और विचारे जगत्का अपराध क्या है कि, शङ्कर जैसे दयालु संन्यासी ब्राह्मण अस्त्र उठाकर युद्ध बीरों की भांति, उसके प्राणवध की व्यवस्था करें।

शङ्कराचार्य ने पहले ही, इस जगत्की दोनों अवस्थाओंकी बात उठाई है। प्रथम अवस्था—जब इस जगत्का विकाश नहीं हुआ, जब जगत् अव्यक्त शक्ति रूपसे * ब्रह्म में लीन था। और दूसरी अवस्था यह है,—जब इस जगत्का विकाश हुआ है, जब अव्यक्तशक्ति जगत्के आकारसे दर्शन दे रही है।

जानते हैं कि, शक्ति ही जगत्का उपादान कारण है किन्तु आत्मा से एकान्त स्वतन्त्र नहीं, इससे आत्मा ही उपादान कारण कहा गया है। पाठक महोदय इस तात्पर्यको भली भांति स्मरण रक्खें।

* 'प्रलीयमानमपि चेदं जगत् शक्त्यवशेषमेव प्रलीयते, शक्तिमूलमेव च प्रभवति, इतरथा आकस्मिकत्वप्रसङ्गात्„—वे० भा० १। ३। ३०। "प्रलये सर्वकार्यकरणशक्तीनामवस्थानमभ्युपगन्तव्यं, शक्तिलक्षणस्य नित्यत्वनिर्वाहाय" कठभाष्यव्याख्यायामानन्दगिरिः। 'इदमेव जगत् प्रागवस्थायां......वीजशक्त्यवस्थं अव्यक्तशब्दयोग्यम्„—वे० भा० १। ४। २। इसीको भाष्यकार सृष्टि के प्राक्काल में ब्रह्मकी "व्याचिकीर्षित अवस्था„ कहते हैं।

क। इस समय शङ्का यह उठ रही है कि, जब यह जगत् शक्तिरूप से ब्रह्म में स्थित था, तब इस शक्ति के साथ ब्रह्मका भेद क्यों न होगा? ब्रह्म तो स्वजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहित है। वह तो अद्वितीय है। यदि ब्रह्ममें शक्तिका रहना स्वीकार करोगे, तो ब्रह्मकी अद्वितीयता क्यों न नष्ट हो जायगी। इस प्रश्नका उत्तर क्या है?

१। मायाशक्ति के द्वारा ब्रह्मके अद्वितीयत्व का कोई हानि नहीं।

शक्ति परिग्रह करके केवल गृहस्थ ही परवश हो जाते हैं, सो नहीं, संन्यासी बाबा और भी अधिक दुर्दशाग्रस्त हो गिरते हैं! । अब इस विपत्तिके हाथसे उद्धारका क्या उपाय है? शङ्कर और उनके शिष्योंने नानाप्रकारसे इस प्रश्नका उत्तर दिया है । पाठक मन लगाकर देखें,

(१) शङ्करका पहला उत्तर कठ उपनिषद् (३।११) के भाष्यमें मिलता है यह भाष्य हम प्रथम ही उद्धृत कर चुके हैं। शङ्कर कहते हैं,—"वट के बीज में जैसे भावी वट वृक्ष की शक्ति ओतप्रोतभाव से आश्रित रहती है वैसे ही अव्यक्त शक्ति भी परमात्म चैतन्य में ओतप्रोत भावसे आश्रित थी। इस शङ्करोक्ति की व्याख्या में टीकाकार आनन्दगिरिने पूर्वोक्त प्रश्नका तीन प्रकारसे उत्तर दिया है। (क) वट बीज में भावी वृक्षकी शक्ति रहती है। उस शक्तिके रहने से क्या एक बीज के स्थान में दो बीज हो जाते हैं? नहीं। इसी प्रकार शक्तिके रहने पर भी ब्रह्म की अद्वितीयता कहीं नहीं जाती। (ख) उस समय शक्तिकी सत्त्व रज, तम प्रभृति रूपोंसे विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति न थी, वह उस काल में एकाकार होकर ही ब्रह्म में अवस्थित थी। इस लिये उसके द्वारा ब्रह्म में कोई 'भेद, नहीं आ सकता। (ग) ब्रह्म सत्ता से पृथक् इस शक्तिकी 'स्वतन्त्र, सत्ता नहीं मानी जाती। आत्मसत्ता में ही इसकी सत्ता है। आत्मसत्ता में ही जिस की सत्ता है उसकी अपनी निज की कोई स्वतन्त्र स्वाधीन सत्ता नहीं हो सकती। सुतरां इस शक्तिके कारण ब्रह्ममें कदापि भेद नहीं पड़ सकता *

* शक्तिमत्त्वेन अद्वितीयत्वाविरोधित्वमाह। भाविवटवृक्षशक्तिमद्वट बीज स्व शक्त्या न स–द्वितीयं कथ्यते, तद्वत् ब्रह्मापि न मायाशक्ति–स–द्वितीयम्„। सत्त्वादिरूपेण निरूप्यमाने व्यक्तिरस्य नास्तीति अव्यक्तम् ततो व्यक्तशब्दादपि अद्वैताविरोधित्वम्। पृथक् सत्त्वे प्रमाणाभावात् आत्मसत्तयैव सत्तावत्त्वाच्च।

(२) प्रथम उत्तर हो चुका। वेदान्त भाष्य ऐतरेय भाष्य और तैत्तिरीय भाष्यमें दूसरा उत्तर भी लिखा है हम यहां पर केवल ऐतरेय—भाष्यका अवलम्बन कर शङ्कर के दूसरे उत्तर का उल्लेख करेंगे। शङ्कर कहते हैं—

"सांख्यकी 'प्रकृति, पुरुष से स्वतन्त्र वस्तु एवं वह 'अनात्मपक्षपातिनी, * है। वह स्वतन्त्र है, इसी कारण 'आत्म, शब्द द्वारा उसका निर्देश नहीं हो सकता। किन्तु हमारा अव्यक्त उस प्रकार का नहीं है। हमारा अव्यक्त आत्मा से 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं है। इसलिये 'आत्मशब्द, द्वारा उसका निर्देश कर सकते हैं। वर्त्तमान काल में जगत् अगणित नामों व रूपों (पशुपक्षितरुलतादि) से अभिव्यक्त हो रहा है। इस कारण अब जगत् का निर्देश केवल एक आत्मशब्द द्वारा नहीं किया जाता। किन्तु जब-सृष्टिके पहले यह जगत् अव्यक्त रूपसे स्थित था, उस समय केवल एक आत्म शब्द से ही वह निर्दिष्ट होता था उस समय इस अव्यक्त जगत् की किसी प्रकार की क्रिया भी अभिव्यक्त न हुई थी।" टीकाकार ने इस भाष्यका मर्म खोल कर पूर्वोक्त प्रश्न का तीन प्रकार से उत्तर दिया है। उन्हों ने कहा है कि, मायाशक्ति रहते भी ब्रह्म में विजातीय और सजातीय भेद नहीं आसकता, यही भाष्यकारका अभिप्राय है।

मायाशक्तिके रहते भी ब्रह्ममें विजातीय, स्वजातीय और स्वगत भेद नहीं पडता।

(क) यदि कहो जड़ जगतका उपादान जड़ माया तो वर्त्तमान है, फिर उसके कारण ब्रह्म में विजातीय भेद क्यों न होगा? यह शङ्का निर्मूल है। क्योंकि आत्मसत्तामें ही माया की सत्ता है। जो आत्मसत्ता से 'स्वतन्त्र, नहीं,—जो आत्मा के ही अन्तर्भूत है—जो आत्म शब्दवाच्य है—वह तो किसी भांति भी 'विजातीय, वस्तु नहीं हो सकता। (ख) उस समय माया

---

* "प्रागुत्पत्तेरव्याकृतनामरूपभेदम् आत्मभूतमात्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं जगत्। इदानीं व्याकृत नामरूपभेदत्वात् अनेकशब्दप्रत्ययगोचरमात्मैक—शब्द प्रत्ययगोचरश्चेति विशेषः।"........यथा सांख्यानामनात्मपक्षपाति 'स्वतन्त्रं, प्रधानं.......तद्वदिह अन्यदात्मनः न किञ्चिदपि वस्तु विद्यते। किं तर्हि? आत्मैवेकमासीदित्यभिप्रायः।" तैत्तिरीयभाष्येऽपि, "नहि आत्मनोऽन्यत् अनात्मभूतंतत्।........तौ नामरूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैव आत्मवती, न ब्रह्म तदात्मकम्।" [अनात्मपक्षपाती=अर्थात् आत्मासे (पुरुषचैतन्यसे) पूर्ण स्वतन्त्र पदार्थ]

की कोई क्रिया भी न थी। माया केवल आत्माकार—ज्ञानाकारसे अवस्थित थी। इसलिये वह आत्मा से पृथक् 'विजातीय, वस्तु क्योंकर हो सकती है! *। तत्पश्चात् टीकाकारने यह भी कहा है कि, माया रहते, ब्रह्ममें 'सजातीय भेद, भी नहीं आ सकता, यह भी प्रकारान्तर से भाष्यकार ने कह दिया है। (ग) अव्यक्तशक्ति (मायाशक्ति) जब वास्तव में आत्मा से 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं—वह जब आत्मा ही है—तब वह आत्मा की 'सजातीय, हुई। किन्तु इससे आत्मा में कोई भेद नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता? यथार्थ में आत्मसत्ता से स्वतन्त्र उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं एवं स्वतन्त्र क्रिया भी नहीं। इस कारण उसके द्वारा ब्रह्म में सजातीय भेद भी नहीं पड़ सकता। आत्मा की ही सत्ता व स्फुरणमें उसकी सत्ता व स्फुरण हैं † (घ) इसके सम्बन्ध में उपदेश साहस्री ग्रन्थ से एक और भी उत्तर मिलता है। यह उत्तर यथार्थ में श्रुति का ही बतलाया हुआ है। वृहदारण्यक (३।४।७) में कहा गया है,—"जो व्यक्ति दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति प्रभृति शक्तियों के द्वारा ही आत्मा के स्वरूप का सब परिचय मिल गया, ऐसा मानता है, वह सम्यक्‌दर्शी नहीं कहा जा सकता। वह व्यक्ति नितान्त 'अकृत्स्नदर्शी, है ‡। इसी श्रुति की सहायता से उपदेशसाहस्री ग्रन्थ में

---

* "ननुजड़प्रपञ्चस्य कारणीभूता जड़ामाया वर्त्तते इति कथं विजातीयनिषेध इति अत आह।„ "आत्मातिरिक्तं वस्तु न सम्भाव्यते, तस्मादात्मतादात्म्येनैव नामरूपयोः सिद्धिः।„ "जड़स्य मायिकस्य कदाचिदपि स्वतः सत्ताऽयोगात्, आत्मनोऽद्वितीयस्य न विरोधः„। "अव्यक्ता—वस्थायां मायायाः आत्मतादात्म्योक्त्या सांख्यादिवत् 'स्वतन्त्रत्व, निरासः। मिषदित्यनेन स्वतन्त्रं स्वतः सत्ताकमुच्यते, तथाविधस्य च निषेधः माया तु न तथा विधा,,। "मायायाः सत्वेपि तदानीं व्यापाराभावात् व्यापारवतोऽन्यस्य निषधः,,—इत्यादि।

† सजातीयभेद—स्वगतभेदनिराकरणत्वेन पदद्वयमित्यभिप्रेत्य विजातीय भेद निराकरणार्थत्वेन नान्यत्किञ्चनेत्यादि।

‡ ऐतरेय आरण्यक (२।३) में शङ्करने स्वयं इस श्रुतिकी व्याख्या में कहा है कि " प्राणशक्ति ही शरीर की सब क्रियाओं का मूल है। किन्तु ब्रह्म प्राण का भी प्राण है। इस लिये ब्रह्म के होनेसे ही दर्शन श्रवणादि शक्तियां अनुभूत होती है, केवल प्राण द्वारा उनका अनुभव नहीं हो सकता

प्रकारान्तर से इस रीति का उत्तर लिखा है कि,—दर्शनशक्ति—श्रवणशक्ति आत्मशक्ति प्रभृति रूपों से शक्ति का सजातीय भेद दृष्ट होता है * अर्थात् इन शक्तियों के द्वारा तो आत्मचैतन्य वा ब्रह्म में सजातीय और स्वगत भेद आता है, जिससे आत्मा की अद्वितोयता में विघ्न पड़ता है। इस शङ्का का समाधान यह है कि, श्रुतिने स्वयं कह दिया है, इन शक्तियों के द्वारा आत्मा का पूर्णरूप व्यञ्जित नहीं होता। ब्रह्म स्वरूपतः पूर्णरूप है। उसमें सम्पूर्ण शक्तियां शक्तिरूप से एकाकार होकर स्थित हैं। अतएव उनसे सजातीय भेद नहीं आसकता,, †।

(३) इस विषय में भाष्यकार का एक उत्तर और भी है। यह उत्तर परमार्थदर्शी की दृष्टि से निकला है, यह बात पाठक स्मरण रक्खें। उत्तर नीचे लिखा जाता है।

मायाशक्ति क्यों 'असत्य, और 'कल्पित, कही गई।

"जिस की अपनी निजकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं, जिसकी सत्ता दूसरे की ही सत्ता पर सर्वथा अवलंबित है, उसको 'कल्पित, 'असत्य, और मिथ्या कहते हैं। और जो कल्पित है, जो असत्य है, उसके द्वारा ब्रह्मके अद्वितीयत्व की कोई हानि नहीं हो सकती। 'असत्य' 'कल्पित' प्रभृति शब्दों का व्यवहार भाष्यकार ने अलीक वा असत् या एकबार ही शून्य के अभिप्राय से नहीं किया। इस बात की

इस से ब्रह्म पूर्णशक्तिस्वरूप सिद्ध हुआ " प्राणेन केवल वार्क संयुक्तमात्रेण मनसा च प्रेर्यमाणो......वदनक्रियां नानुभवति (लौकिकः पुरुषः) यदा पुनः स्वात्मस्थेन स्वतन्त्रेण प्राणेन प्रेर्यमाणो वाक् मनसा चास्यमानो वदनक्रियामनुभवत्येव „

* इस स्थलमें केवल आन्तरिक शक्तियोंका उल्लेख हुआ है किन्तु शब्दस्पर्शादि वाह्य शक्तियोंको भी यहां समझना अनुचित नहीं।

† तथापि नात्मनोऽद्वितीयत्वम्, दृष्टि श्रुतीत्यादि शक्तिरूपस्य स्वगतभेदस्य सत्वात् सजातीयभेदोपपत्तेश्च इत्याशङ्क्य नैवमित्याह तथा च श्रुतिः— "अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवतीत्यादि,,—उपदेशसाहस्रीटीका। पाश्चात्य जातिने भी अब समझा है कि, भिन्न भिन्न शक्तियां मूलतः एक ही शक्तिके रूपान्तर हैं। यह महातत्त्व भारतमें अति प्राचीन कालसे सुविदित है।

हम आगे विस्तृत समालोचना करेंगे। इस स्थानमें हम संक्षेपसे केवल इतना ही दिखलाते हैं कि, उन्होंने किस प्रयोजन से इन शब्दों का प्रयोग किया है। तैत्तिरीय भाष्य में देखिये

शंकरने असत्य और अलीक में भेद माना है।

भाष्यकार ने 'असत्य' एवं 'अलीक, इन दोनों में भेद स्वीकार किया है। उन्होंने समझाया है कि, आकाशकुसुम, मृगतृष्णा, शशविषाण प्रभृति एकान्त अलीक एवं असत् पदार्थ हैं। इन सब अलीक पदार्थों की तुलना में जगत् 'सत्य, कहा जा सकता है। इससे पाठकगण समझ लें कि भाष्यकार आकाश पुष्प आदि की भांति जगत् को अलीक नहीं मानते। उन्होंने उसी स्थल में यह भी कहा है कि, ब्रह्म ही एक मात्र नित्य 'सत्य, वस्तु है। केवल उस के सन्मुख ही—उसकी तुलना में जगत् 'असत्य, वस्तु है *। इत्यादि प्रमाणोंसे स्पष्ट हो गया कि, शङ्कर के 'असत्य, व 'मिथ्या, आदि शब्दों का तात्पर्य 'अलीक, वा सर्वथा 'शून्य, नहीं है। यदि यही होता, तो भाष्यकार क्यों कहते, "यदि जगत् का उपादान एकान्त 'असत्, ही होता, तो हम जगत् को भी 'असत्. समझते, अर्थात् हम जगत् को 'असत्, नहीं मानते †। पाठक, इस स्थल में भी देखिये, असत्य कल्पित प्रभृति शब्दों का व्यवहार 'अलीक, वा 'असत्, या 'शून्य, अर्थ में नहीं किया गया है। टीकाकार भी असत्य कल्पित आदि शब्दों का वैसा अर्थ नहीं करते हैं। उनकी दो चार उक्तियां यहां पर उद्धृत की जाती हैं। जिनसे हमारे कथन की सत्यता भलीभांति सिद्ध हो जायगी।

"तस्याःपरिकल्पितसत्यस्वतन्त्रप्रधानाद्वैलक्षण्यमाह अविद्यादिना। मायामयी मायावत् परतन्त्रा,—रत्नप्रभा।

"तस्याश्च आत्मतादात्म्योक्त्या सांख्यमतवत्।

स्वतन्त्रत्वनिरासेन तत्र 'कल्पितत्वं, सिध्यति,,—ज्ञानामृत।

"यन्न स्वतः सिद्धं तत् कल्पितम्,,—रामतीर्थ।

'आत्मैवेति स्वतन्त्रत्वनिषेधेन स्वतःसत्तानिषेधात्।

'मृषात्व,मपि—ज्ञानामृते।

---

* "एकमेव हि परमार्थ 'सत्यं, ब्रह्म। इह पुनर्व्यवहारविषयमापेक्षिकं सत्यं, मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षया उदकादि सत्यमुच्यते। अनृतं तद्विपरीतम्,, इत्यादि।

† "असच्चेन्नामरूपादिकं कार्यं निरात्मकत्वान्नोपलभ्येत,, असतश्चेत्कार्यं गृह्यमाणमपि असदन्वित-मेवस्यात्, न चैवम्,,।

"अधिष्ठानातिरेकेण सत्तास्फूर्त्योरभावात्।

"मृषात्वम्,—आनन्दगिरि। *

इन सब अवतरणों द्वारा, टीकाकार भी किस अर्थ में शङ्करके व्यवहृत 'असत्य, 'कल्पित प्रभृति शब्दों को समझते हैं, सो पाठक अवश्य जान लेंगे।

अब भाष्यकारके सब उत्तरों का सार यही निकलता है कि, मायाशक्ति को अङ्गीकार करके ही उन्होंने सामञ्जस्य किया है। न कि मायाशक्ति को उड़ा कर उन्हों ने विरोध को हटाया है। और मायाशक्ति मानने पर पर भी, ब्रह्म की अद्वितीयता नष्ट नहीं होती। शङ्कर भगवान् माया को उड़ाते भी नहीं, और उसे ब्रह्मके सहित एक वा अभिन्न भी नहीं बतलाते †। परमार्थदृष्टि से उन्होंने केवल यही दिखलाया है कि, ब्रह्मसत्ता पर ही माया की सत्ता अवलम्बित है, उसकी स्वतन्त्र' सत्ता नहीं हो सकती।

२। विकारी जगत् के द्वारा भी ब्रह्मके अद्वितीयत्व की कोई हानि नहीं।

ख। जगत् के उपादान मायाशक्ति की बात हो चुकी। अब हम जगत् की बात कहते हैं। जब ब्रह्मस्थित अव्यक्त मायाशक्ति जगत् के आकारसे—विविध नाम रूपोंमें अभिव्यक्त हो पड़ी, तब उसके द्वारा ब्रह्मकी अद्वितीयतामें कोई बाधा पड़ी या नहीं? इस प्रश्न का भाष्यकार ने क्या उत्तर दिया है—इसी अंशपर अब विचार करना आवश्यक है।

(१) "सृष्टि के पूर्व में जब जगत् अव्यक्त भाव से—बीज शक्ति रूप से ब्रह्म में स्थित था, तब जिस प्रकार वह आत्मभूत था ‡ उसी प्रकार अब भी—विविध नामों व रूपों से प्रकट होने पर भी—वह आत्म—स्वरूप से

---

* इन उक्तियों का तात्पर्य यही है कि, ब्रह्मसत्ता में ही मायाशक्ति की सत्ता है, ब्रह्म से व्यतिरिक्त उसकी 'स्वतन्त्र, सत्ता नहीं। और जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं, उसीको 'असत्य, 'कल्पित, और 'मिथ्या, कहते हैं। इसकी सत्ता ब्रह्मसत्ता के नितान्त अधीन होने से ही, यह 'मायामयी, कही जाती है।

† ब्रह्म नित्य सिद्ध पदार्थ है परन्तु मायाशक्ति—आगन्तुक मात्र है। इस कारण ब्रह्म मायासे स्वतन्त्र है। इसीलिये ब्रह्म और मायाशक्ति सर्वथा 'एक, भी नहीं। नित्यशक्ति और परिणामिनी शक्तिको 'एक, नहीं कह सकते। "अनुभाव्ये नामरूपे अनुभवात्मक ब्रह्मरूपे कथ्यते, नतु ऐक्याभिप्रायेण,, (ज्ञानामृत)

‡ आत्मभूत—आत्मसत्ता से स्वतन्त्र नहीं।

पृथक् नहीं है"। तैत्तिरीय एवं वेदान्त के भाष्य में भाष्यकार का यही उप-देश पाया जाता है * ।

कार्य का आकार धारण करने से ही क्या कारण शक्ति अपनी स्वतन्त्रता छोड़ देती है! नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। कार्य तो कारण का ही आकार भेद मात्र—अवस्था विशेष मात्र है। एक विशेष अवस्थान्तर उपस्थित होने से यह नहीं माना जा सकता है कि कोई नई वस्तु स्वतन्त्ररूप से उत्पन्न होगई । † । भाष्यकार का यह उत्तर विज्ञानानुमोदित है विज्ञान से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि,—शक्ति की अवस्था मात्र Transformation बदलती है, अवस्थान्तर होने से शक्ति की स्वतन्त्रता नहीं नष्ट होती, और न शक्ति का ही ध्वन्स हो जाता है। तौलने से ज्ञात होगा कि अवस्था बदलने पर भी शक्ति का परिणाम ठीक वही रहता है ‡। जो साधारण लोग ज्ञान विज्ञान की बातें नहीं जानते, उनके ही मन में अवस्थान्तर होने—रूपान्तर धारण करने पर—वस्तु एकवार ही पृथक् हो जाती है। औ[र] वैज्ञानिकों के अटल सिद्धान्त में शक्ति रूप बदलने पर भी, वही की वह रहती है। केवल रूप वा आकार मात्र ही सर्वदा परिवर्तित हुआ करते हैं एकके पश्चात् दूसरा, फिर तीसरा—इसी प्रकार आकार आते जाते रहते हैं + एक दृष्टान्त देखिये। मृत्तिका से एक घट बन गया, तो क्या यथार्थ में घ[ट]

कार्य-कारण की ही विशेष अवस्थामात्र है, स्वतन्त्र वस्तु नहीं।

---

* "यदा आत्मस्थे अनभिव्यक्ते नामरूपे व्याक्रियेते, तदा नामरू[पे] आत्मस्वरूपापरित्यागेनै[व] ....सर्वावस्थासु व्याक्रियेते,,—तैत्तिरीयभाष्य, २।६।२। अर्थात् किसी भी अवस्था में नामरूप आत्मसत्ता से एकान्त 'स्वतन्त्र, नहीं हैं। "यथैव हि इदानीमपीदं कार्यं कारणात्मना सत्, एवं प्रागुत्पत्तेरपीति,,—वेदान्तभाष्य २।१।७।

† "कार्याकारोपि कारणस्य आत्मभूत एव। ··· न च विशेष दर्शन मात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति" स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्—वे० भा० २। १। १[८]

‡ तौल कर देखने से शक्ति का परिणाम निर्द्धारित हो सकता है, यह वैज्ञानिक तत्त्व सांख्य में भी है"।

+ छान्दोग्यभाष्य (८) ५। (४) में अविकल यही बात है—"विकार "आकार के द्वारा ही असत्य हैं, किन्तु ब्रह्म शक्ति रूप से सत्य हैं।,,

मृत्तिका से भिन्न या स्वतन्त्र एक नूतन पदार्थ उत्पन्न हो गया ? क्या घट में मृत्तिका नहीं है ? या मृत्तिका से भिन्न कोई दूसरा तत्त्व दीख पड़ता है ? देखिये घट फूट गया—अब भी मृत्तिका दर्शन दे रही है। फूटी मिट्टी से एक हांडी बना ली गई, यह हांड़ी भी मृत्तिका से खाली नहीं भिन्न नहीं, या यों कहो कि मृत्तिकासे पृथक् स्वतन्त्र कोई नई वस्तु नहीं। घटके पहले मृत्तिका है, घट बन जाने पर मृत्तिका ही है और घट फूटने पर या हांड़ी होने पर भी मृत्तिका ज्यों की त्यों है। घट हांड़ी प्रभृति कार्य मृत्तिकाके ही रूपान्तर हैं—अवस्था विशेष मात्र हैं। इनके बनने विगड़ने से मृत्तिकाकी स्वतन्त्रतामें कुछ भी विपत्ति नहीं पड़ती। अतएव शक्ति जगत् का आकार धरकर भी शक्ति ही रहती है—शक्ति से भिन्न कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं हो जाती। जो शक्ति पहले थी वही जगत् के रूप से अब भी है। उसके द्वारा जैसे सृष्टिके पहले ब्रह्मकी अद्वितीयतामें हानि नहीं हुई, वैसे ही सृष्टि बन जाने पर अब भी उसके द्वारा—या उसके रूपान्तर जगत् के द्वारा ब्रह्म की अद्वितीयता में कोई आपत्ति नहीं आती। इस प्रकार पाठक देखें, जगत् को उड़ा देने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

कार्य और कारण के 'अनन्यत्व, द्वारा उक्त प्रकार से भाष्यकार ने यह उत्तर प्रदान किया है *। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक और उत्तर लिखा है। आगे हम उसी उत्तर की चर्चा करना चाहते हैं।

---

* वेदान्तदर्शनभाष्य २। १। १४ में कार्य और कारण के सम्बन्ध की बात पहले कही गई है। शङ्करका उपदेश यही है कि, यथार्थमें कार्य अपने कारण से स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है। तत्पश्चात् 'ब्रह्मैवेदं सर्वं, 'आत्मैवेदं सर्वं, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, 'नेहनानास्ति किञ्चन ये सब श्रुतिवाक्य उदाहरण-रूपसे लिखे हैं। 'आत्मा ही सब कुछ, ब्रह्म ही जगत् है—इन प्रयोगों का यथार्थ भाव शङ्कर मत में यही है कि जगत् वा जगत् के किसी पदार्थ की भी परमार्थतः ब्रह्मसत्ता से 'स्वतन्त्र, सत्ता नहीं है। एक ब्रह्मसत्ता ही जगत् के प्रत्येक पदार्थ में भरी हुई है। विकार अस्थिर हैं, वह नित्य स्थिर है। किन्तु शङ्कर के इस अद्वैतवाद का यह मर्म बहुत जनों को ज्ञात नहीं हुआ। वे तो कहते हैं—ब्रह्म ही जगत् है—'ब्रह्मभिन्न कुछ भी नहीं,—इन सब प्रमाणों का अर्थ है-"जगत् नामक कोई पदार्थ नहीं,,। विचारे जगत् का दुर्भाग्य !!!

(२) भाष्यकार के दिए इस उत्तर से उन के मत में जगत् किस प्रयोजन से 'असत्य, 'कल्पित, एवं 'मिथ्या, है—सो भी विदित हो जायगा। मायाशक्ति के तत्त्व की विवेचना में हम बतला आए हैं कि, शङ्कर स्वामी 'असत्य, और 'अलीक, में भेद स्वीकार करते हैं। उन्होंने जगत् का शशशृङ्ग, खपुष्प की भांति अलीक नहीं कहा। यहांपर भी हम सबसे पहले प्रिय पाठकों को इस सिद्धान्त का स्मरण करा देते हैं। (क) भाष्यकार ने श्रुति में एक तत्त्व पाया है। वह यह कि, 'विकार नाममात्र हैं 'असत्य, हैं, विकारों का जो उपादान कारण है, वही सत्य है। श्रुति में 'सत्य, एवं 'असत्य, शब्दों का ऐसा ही अर्थ निर्दिष्ट हुआ है। कारण और कार्य में सम्बन्ध कैसा है? कारण—कार्याकार धारण करके भी निज स्वातन्त्र्य नहीं त्यागता, इसलिये कारण अपने कार्यों से 'स्वतन्त्र, है। किन्तु कार्य स्वरूपतः अपने कारणसे एकान्त 'स्वतन्त्र' नहीं है। * मृत्तिका घटका कारण और घट मृत्तिका का कार्य है। पर घट मृत्तिका से एकबार ही स्वतन्त्र नहीं, मृत्तिका का ही रूपान्तर—अवस्थान्तर—आकार विशेष मात्र है। सुतरां घटको मृत्तिका से पृथक् एवं स्वतन्त्र वस्तु मानना भूल है। यही वैज्ञानिकों की सम्मति है। इससे एवं 'स्वतन्त्र, वस्तु रूपसे घट अवश्य ही 'असत्य, है या 'मिथ्या, है। इसीलिये श्रुतिने कह दिया, मृत्तिका ही सत्य है, घटादिक विकार मिथ्या हैं †। 'सत्य, और 'मिथ्या, का इस भांति तात्पर्य निर्णय कर, वेदान्तदर्शन भाष्य (२।१।१४) में शङ्कर 'ब्रह्मैवेदं सर्वं (यह जगत् ब्रह्म ही है)-इत्यादि श्रुति वाक्यों को उठाते हैं। जिनका अर्थ यही है कि, ब्रह्मसे व्यतिरिक्त स्वतन्त्रभावसे ‡ कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। + वस्तुतः जगत् ब्रह्मसत्ता से स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं। हां ब्रह्मसत्तारूपसे जगत् 'सत्य, है, परन्तु स्वतन्त्र

जगत् क्यों 'असत्य, व 'कल्पित, कहा गया।

---

* अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयोः, कार्यस्य कारणात्मत्वं, नतु कारणस्य कार्यात्मत्वम्—वे० भा० २।१।९।

† "न कारणात् कार्यं पृथगस्ति अतः 'असत्यम्,। कारणं कार्यात् पृथक् सत्ताकमतः 'सत्यम्,—रत्नप्रभा।

‡ स्वतन्त्रभावसे—Independently of and unrelatedly to ब्रह्मसत्ता।

+ "विदुषो विद्यावस्थायां सर्वमात्ममात्रं नातिरिक्तमस्तीति, विद्या द्वारा द्वैतस्य आत्ममात्रत्वात्,,—माण्डूक्य २।

वस्तुरूपसे 'असत्य' है। इस सिद्धान्तमें जगत् अलीक कहकर उड़ा नहीं दिया गया और न ब्रह्म ही अपनी स्वतन्त्रता छोड़ जगत् हो पड़ा है। (ख) तैत्तिरीय भाष्य (२ । १) में ब्रह्म की अनन्तता का व्याख्यान करते हुए शङ्कर ने जिस भाव से जगत् के कार्यों को 'असत्य, बतलाया है, उस भाव को भी हृदयङ्गम करना आवश्यक है। विकार वा कार्य ब्रह्म से स्वतन्त्र वा भिन्न नहीं हैं। क्यों भिन्न नहीं हैं? ब्रह्म ही उनका कारण है, इसीसे विकार भिन्न नहीं हैं। ब्रह्म के कारण होनेपर भी विकार 'भिन्न, क्यों न होंगे? न होंगे, इसलिये कि, कार्य कारण से वस्तुतः भिन्न नहीं होते। कार्यमें क्या कारण बुद्धि लुप्त हो जाती है? कभी नहीं। कारण ही तो कार्य के आकार से दीख पड़ता है। अपनी स्वतन्त्रता से च्युत होकर कारण कार्यरूप से दर्शन नहीं देता है। तात्पर्य, कार्योंके उपस्थित होने पर भी, उनके द्वारा कारण बुद्धि विलुप्त नहीं हो जाती। तब 'कार्य, कहां है? जिसको आप 'कार्य, कहते हैं, वह तो वास्तवमें कारण ही है, अतएव कार्याकार धारण करने पर भी जब कारण बुद्धि बनी रहती है, तब किसी कार्यके द्वारा ब्रह्म की अनन्ततामें बाधा क्यों पड़ने लगी क्योंकि ब्रह्मभी 'कारण, है तथा कार्य भी कारण ही है अपने द्वारा अपनी अनन्तता क्यों बिगड़ने लगी? हां यदि कोई वस्तु ब्रह्मसे अलग होती तो ब्रह्मकी भी अनन्ततामें बाधा पड़ती *। आहा कैसी सुन्दर युक्ति है? इस प्रकारकी युक्तियोंसे क्या जगत् अलीक वा मिथ्या होकर शून्यमें लुप्त हो गया? (ग) 'असत्य, शब्दका और भी एक अर्थ तैत्तिरीय भाष्यमें मिलता है। जिसकी सत्ता स्थिर नहीं, जो प्रतिक्षण रूप बदलता रहता है, उसीको अनृत या असत्य कहते हैं। और जिसका कभी रूपान्तर नहीं होता, वही सत्य कहा जाता है †। पाठक इन बातों पर विशेष ध्यान दें। यही हमारा अनुरोध है। अनृत वा असत्य किसे कहते हैं? जो वस्तु सर्वदा अपना रूप वा आकार परिवर्तित करती रहती है, वही असत्य कहलाती है। सत्य किसे कहते हैं? जिसका रूप निश्चित है

---

* अनृतत्वात् कार्यवस्तुनः। नहि कारणव्यतिरेकेण कार्यं नाम वस्तुतोऽस्ति, यतः कारणबुद्धिर्विनिवर्तेत। अतः कार्यापेक्षया वस्तुतः ब्रह्मणोऽन्तवत्त्वं नास्ति,,—इत्यादि।

† यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति, तत्सत्यम्। यद्रूपेण निश्चितं यत् तद्रूपं व्यभिचरति, तदनृतमित्युच्यते"।

नित्य ही जिसका स्वरूप स्थिर (Persist) है, वही सत्य है । विज्ञान ब-तलाता है कि, विकार वा कार्य्य सर्वदा अपना आकार बदला करते हैं । इस समय जो 'ताप, (Heat) है, अवस्था भेदसे वही, विद्युत् (Electricity) है, वही आगे 'आलोक, (Light) रूप से दर्शन देगी * । सुतरां इनकी सत्ता अनस्थिर है । किन्तु इनके भीतर जो शक्ति अनुगत है, वह चिर स्थिर है। एक शक्तिके ही सब विकार आगन्तुक आकार मात्र हैं, इससे सभी आकार असत्य हैं, किन्तु केवल शक्ति रूपसे सत्य हैं । (घ) गीताभाष्य (२ । १६) में शङ्करने 'सत्य, और 'असत्य, का जो अर्थ निर्णय किया है, † । सो भी यहां पर लिखा जाता है । मनमें सोचिये, मृत्तिका से घट, मठ एवं मिट्टीके हाथी घोड़े बन गये । इनमें हम क्या देख रहे हैं, एक ही मिट्टी घट मठ और हाथी घोड़ोंमें अनुस्यूत हो रही है । इनकी उत्पत्तिके पहले मृत्तिका थी, अब भी मृत्तिका है और इनके नष्ट हो जाने पर भी मृत्तिका ही रहेगी। मृत्तिका की सत्ता कभी नहीं बिगड़ती । परन्तु घट, मठ, हाथी, घोड़े आदि खिलौने सदा बना बिगड़ा करते हैं । जिस मिट्टी से घट मठादि बने हैं, उसीसे आप अन्य मृण्मय पदार्थ बना सकते हैं और जो बने हैं, उनको तोड़ फोड़ कर बिगाड़ भी सकते हैं, क्योंकि विकारोंमें स्थिरता नहीं है । इस लिये आकार 'असत्, एवं मृत्तिका 'सत्, है । गीता भाष्यमें भाष्यकार ने यही शिक्षा दी है। इसके द्वारा भी घट मठ प्रभृति पदार्थ आकाश पुष्प की भांति अलीक नहीं सिद्ध होते हैं । भाष्यकारने यथार्थ वैज्ञानिककी रीति से उचित मीमांसा करदी है।

(ङ) अब अधिक भाष्य उद्धृत करना अनावश्यक है। हम टीकाकारों को कुछ सम्मति दिखलाकर अब इस सम्बन्धमें अपना वक्तव्य समाप्त करना चाहते हैं । ऐतरेयभाष्यके एक अंश की व्याख्या में ज्ञानामृत समझाते हैं कि, अब तो जगत विविध नाम रूपोंसे अभिव्यक्त है, जब नामरूप प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, तब उन को

इस विषय में टीकाकार क्या कहते हैं ।

* Herbert spencer प्रणीत First principles नामक ग्रन्थका chapter Viii देखो ॥

† यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति, तत् सत् । यद्विषया व्यभिचरति तत् असत्.......सन् घटः सन् पटः सन् हस्ती इत्येवं सर्वत्र । तयोर्बुद्ध्योर्घटादि-बुद्धिर्व्यभिचरति, नतु सद्बुद्धिः । इत्यादि देखो ।

एक बार ही मिथ्या कहना ठीक नहीं। प्रत्यक्ष पर धूलि फेंकना अनुचित है। प्रत्यक्षका अपलाप असम्भव है। तब एक प्रकारसे ये मिथ्या कहे जा सकते हैं। सुनिये, ये नाम

ज्ञानामृत।

रूप सृष्टिके प्रथम न थे, वर्तमानमें ही दृष्टि गोचर होरहे हैं अतएव ये आगन्तुक हैं। परन्तु आगन्तुक होनेसे ही इनको रज्जुमें सर्पकी भांति 'मिथ्या, मत मान लेना *। पाठक महाशय देखते हैं, नाम रूप सर्वथा मिथ्या कह कर उड़ाये नहीं गये। किन्तु 'आगन्तुक, होनेसे ही मिथ्या कहे जाते हैं। आगन्तुक कहनेसे क्या अर्थ समझना चाहिये? शङ्कर प्रणीत उपदेश साहस्री ग्रन्थके टीकाकार उत्तर देते हैं कि, जो आगन्तुक हैं, उसकी अपनी निजकी सत्ता नहीं होती †। उन्होंने यह भी कहा है कि जो पहले भी था, पश्चात् भी रहेगा, उसको 'स्वतःसिद्ध, मानिये और जो पहले भी न था, पश्चात् भी न रहेगा, केवल वर्त्तमान मात्र

रामतीर्थ।

में आया है, उसको 'कल्पित, कहना चाहिये ‡। इन उक्तियोंसे अधिक पाठक और क्या प्रमाण चाहते हैं! आगन्तुक कल्पित आदि शब्दोंसे यही समझना चाहिये कि, विकार या नाम रूपादि आकार सृष्टिके पूर्वमें ऐसे न थे, प्रलयमें भी न ठहरेंगे। इस कारण ये स्वतः सिद्ध वा चिरसिद्ध नहीं हैं। ब्रह्म ही एक मात्र स्वतःसिद्ध वस्तु है। जो स्वतः सिद्ध नहीं, वह निश्चय

---

* नच साक्षादिदानीमेव मायात्मत्वेन मृषात्वमुच्यतामिति वाच्यम्। इदानीं प्रत्यक्षादिविरोधेन तथा बोधयितुमशक्यत्वात्……इदानीमेव विद्यमानत्वेन कादाचित्कादपि रज्जुसर्पवन्मृषात्वमिति। वेदान्तमें रज्जुसर्पका दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। इसका भी तात्पर्य समझनेमें अनेक लोगोंने भूल की है। रज्जुकी सत्ताका अवलम्बन करके ही, उस सत्तामें एक 'आगन्तुक, सर्पका बोध होता है। इसी प्रकार ब्रह्मसत्ताका अवलम्बन करके ही अनेक आगन्तुक विकारोंका बोध हुआ करता है। 'रज्जुसर्पादीनां रज्ज्वाद्यात्मना सत्त्वं। नहिं निरास्पदा रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते केनचित्" "एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक् प्राणबीजात्मनैव सत्त्वम्.,—शङ्कर, गौड़पादकारिकाभाष्य १। ६।

† आगन्तुकतया स्वरूपसत्ताऽभावात् १९। १३।

‡ यत् प्रागेव सिद्धं……पश्चादप्यवशिष्यमाणं, तत्र 'कल्पितं, किन्तु स्वतः सिद्धम्,। यत्र स्वतः सिद्धं तत् कल्पितम्।

आगन्तुक व कल्पित है। विकार स्वतः सिद्ध भी नहीं स्वरूप सत्ता वाले भी नहीं। अतएव 'असत्य, हैं।

ग। प्रिय पाठक, इन सब उल्लिखित अवतरणों द्वारा निश्चय ज्ञात होता है कि, इसी प्रकार विकार 'असत्य, कहे गये हैं। शङ्कर या शङ्कर के प्रधान शिष्य—किसीने भी विकारों वा कार्यों को, अलीक कह कर, असत् कहकर, शून्य कह कर उड़ा नहीं दिया।

अद्वैतवाद की आलोचना से हम क्या समझें।

उन्होंने मायाशक्तिको भी, जो विकारोंका उपादान है-अलीक कहकर नहीं उड़ाया। शङ्करदर्शनमें जगत् का भी स्थान है, शक्ति का भी स्थान है। पूर्ण ब्रह्मसत्ता चिरनित्य, चिरस्थिर, चिरस्वतन्त्र है। जगत् के विकाशार्थ इस निर्विशेष सत्ता की जब एक विशेष अवस्था—शङ्कर की 'व्याचिकीर्षित अवस्था-टीकाकारों की 'परिणामोन्मुख अवस्था—होती है, एवं जब पशु-पक्षितरुलतादिक विविध नामरूपों से जगत् का स्थूल विकाश हुआ, तब भी नित्य सत्ताकी कोई क्षति नहीं होती है। यही परमार्थ दृष्टि है। ज्ञानियों का यही सिद्धान्त है। किन्तु इस सिद्धान्त से जगत् शून्य नहीं हो गया, और जगत्की उपादानसत्ता भी नष्ट नहीं हुई। उपादानसत्ता—ब्रह्मसत्ता का ही एक आगन्तुक आकार विशेष है। ब्रह्मसत्ता ही उस में प्रविष्ट है, ब्रह्मसत्ता में ही उस की सत्ता है, वह पूर्ण 'भिन्न, कोई वस्तु नहीं है। इस कारण ब्रह्मसत्ता की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं पड़ती। और इसी भावसे उपादानसत्ता वा मायाशक्ति 'असत्य, है। इसी भांति जगत् भी असत्य है। जगत्के विकारोंकी स्वतन्त्रसत्ता नहीं, वे सब नित्य ब्रह्मसत्ता पर ही अवलम्बित हैं। यही महातत्त्व, 'असत्य, 'कल्पित, 'मिथ्या, और 'आगन्तुक, प्रभृति शब्दों से बतलाया गया है। हा हन्त! यह सुन्दर सत्य सुदृढ़ सिद्धान्त जिनकी समझमें नहीं आया, या जानबूझ कर भी जिन लोगोंने पक्षपात वश अन्याय किया है, ऐसे अनेक पुरुषोंने शङ्करको 'मायावादी, प्रच्छन्न बौद्ध, प्रभृति उपाधियों से विभूषित किया है!! इतना ही नहीं, कई लोगोंने तो यह भी कहनेका दुःसाहस करडाला है कि जबसे शङ्करने मिथ्या मिथ्या कह जगत्का सत्यानाश किया तभीसे हिन्दूजातिका अधःपतन हुआ है!!! किन्तु शङ्करका अद्वैतवाद अत्यन्त वैज्ञानिक है, वैज्ञानिक सुदृढ़ भित्तिके ऊपर सुन्दरता से संस्थापित है। यही दिखलानेके निमित्त हमने अद्वैतवादकी विस्तृत समालोचना की है। आशा की जाती है कि अब शङ्कराचार्यके ऊपर मिथ्या कलंक लगानेका पाप किसीसे न होगा।

हमारे पूर्वोक्त विचार से वाचकवृन्द यह भी समझ गये होंगे कि, शङ्कर ने परमार्थदर्शी की दृष्टिसे भाष्य बनाया है। संसार के अज्ञानी जन—अविद्याच्छन्न साधारण मनुष्य प्रत्येक पदार्थ या जगत् की प्रत्येक वस्तुको एक एक स्वाधीन पदार्थ मानकर उसी में मुग्ध हो पड़ते हैं। यह अज्ञानता परमार्थदृष्टि होते ही दूर हो जाती है। तभी जगत्में सर्वत्र सब अवस्थामें ब्रह्मका दर्शन होने लगता है। उस समय ब्रह्मसत्तासे पृथक् स्वतन्त्ररूपेण किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु परमार्थ दृष्टि होने पर भी, यह ससागरवनशैला मेदिनी अन्तर्हित नहीं हो जाती है। जगत् वा उसकी उपादानशक्ति विलुप्त नहीं हो जाती। जगत् जगत् ही रहता और शक्ति भी शक्ति ही रहती है। यही शङ्कर—सिद्धान्त का सार है। अब परमार्थ दृष्टि उत्पन्न होने पर भी जगत् उड़ नहीं जाता—इस विषय में दो एक प्रमाण लिख कर हम अद्वैतवादकी आलोचना समाप्त करेंगे। श्री शङ्कराचार्यजीने वेदान्तभाष्य में स्वयं बतला दिया है कि "अज्ञानाच्छन्न„ मूढ़ व्यक्ति ही आत्माको शरीर और इन्द्रियादिके साथ अभिन्न मान लेते हैं। इनको आत्माकी स्वतन्त्रता वाली बात किञ्चित् भी ज्ञात नहीं। ये नहीं जानते कि, सब विकारोंमें ब्रह्मसत्ता है, कोई भी विकार उस ब्रह्मसत्ता को विकृत नहीं कर सकता, वह विकारों से चिर-स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता से अपरिचित अज्ञानी शरीर आदि से आत्मीयता स्थापित कर—अहं बुद्धि करते हैं। एवं इसी अन्धकारमें आत्माको भी भयशोकादि द्वारा आच्छन्न मान बैठते हैं। किन्तु यथार्थ तत्वज्ञान वा यथार्थ ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होनेसे यह भ्रम नष्ट हो जाता है। तब देहादिक विकारों में आत्मदर्शन होता है। तब आत्मसत्ता सब विकारों में स्वतन्त्रता से अनुस्यूत है—यह ज्ञान दृढ़ होने से जड़ की क्रिया वा विकार द्वारा आत्मा विकृत नहीं जान पड़ता। ज्ञानी व्यक्ति इसी प्रकार परमार्थदर्शन करते हैं" *। इसी भांति शङ्कर ने यथार्थ ज्ञानीका वर्णन किया है। इस परमार्थज्ञान की अवस्थामें भी, संसार अलीक होकर रसातल

ब्रह्मज्ञान होने पर भी जगत् अलीक होकर उड़ नहीं जाता है, शङ्कर।

---

* "नहि शरीराद्यभिमानिनो दुःखभयादिमत्वं दृष्टमिति, तस्यैव वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मावगमे तदभिमाननिवृत्तौ तदेव मिथ्या ज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम् १।१।४।

को नहीं चला गया! प्रश्नोपनिषद् में इस परमार्थ दृष्टि और व्यवहार दृ
की व्याख्या करते हुए महामति आनन्दगिरि ने भी एक दृष्टान्त लिखा है
उसका भी तात्पर्य यहां देख लेना चाहिये। आनन्दगिरि कहते हैं,—"
आनन्दगिरि। मुद्र का जल सूर्य किरणों के द्वारा आकृष्ट होकर मे
कार धारण करता है एवं वही जल मेघों से अभिवर्षि
होकर गङ्गा यमुनादि नदियोंमें गिरता है। तब वह समुद्र जल नहीं कहा जा
है। गङ्गाका जल यमुनाका जल कह कर ही लोग व्यवहार करते हैं। इस अवस्
में यह जल अवश्य ही समुद्र जल से 'भिन्न' प्रतीत होने लगता है। कि
स्वरूपतः यह जल समुद्र जल के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। तत्पश्चात्
नदियां वहकर सागर में मिल जाती हैं, तब उनके जलोंकी वह 'भिन्नत
नहीं रहती, सब जल एक समुद्र जल रूप में ही परिणत हो जाते हैं।
प्रकार विविध नामरूपादि विकारों को भी लोग आत्मा स्वरूप से भि
समझते हैं,। परन्तु वास्तव में भिन्नता नहीं है। तथापि लोग भिन्न स
कर ही व्यवहार करते हैं। किन्तु जब सत्य ज्ञानके उदय होने पर अवि
दूर हो जाती है, तब इन नाम रूपादि विकारों का यथार्थ में आत्मा
रूप से भिन्न होनेका ज्ञान नहीं रहता *।

पाठक, इस स्थल में भी देखें, नामरूपादिक सर्वथा मिथ्या नहीं हु
दृष्टान्त में लिखी गङ्गा यमुनादिक नदियां जैसे अलीक नहीं वैसे ही न
रूपादिक विकार भी अलीक नहीं हैं। सारांश यह हि, परमार्थ दृष्टि उत्
होने पर जगत् उड़ नहीं जाता है। केवल 'स्वतन्त्रता, का ज्ञान मात्र
रहता है। शङ्कर प्रणीत सुप्रसिद्ध विवेक चूड़ामणि ग्रन्थ में लिखा है,—"
विवेक—चूड़ामणि। परमार्थ दृष्टि उत्पन्न होती है, तब दुःखजनक पदार्थ भि
में उद्वेग नहीं उपजा सकते ,, †। उपदेश साहस्री ग्र
के भी अनेक स्थानोंमें यही बात पाई जाती है। हम केवल एक स्थल
उपदेश-साहस्री। यहां चर्चा करते हैं। टीकाकार कहते हैं,—यथ
ब्रह्मात्मज्ञान होने पर भीतर या वाहर का कोई

---

* "यथा समुद्रस्वरूपभूतं जलं मेघैराकृष्य अभिवृष्टं गङ्गादिनामरूप
पाधिना समुद्राद्भिन्नमेव व्यवह्रियमाणं तदुपाधिविगमे समुद्रस्वरूपमेव प्रति
पद्यते। एवं......आत्मनो भिन्नमिव स्थितं सर्वं जगत् अविद्यया अविद्याकृ
नामरूपविगमे ब्रह्ममात्रतया अवशिष्यते इत्यर्थः" ६। ५।

† "दृष्टदुःखेष्वनुद्वेगो विद्यायाः प्रस्तुतं फलम् „ इत्यादि।

पदार्थ आत्म-स्वरूपसे पृथक् वा भिन्न नहीं जान पड़ता *,,। वेदान्तपरि-भाषा ग्रन्थ के अन्तिम अंश की टीका में महामहोपाध्याय कृष्णनाथ न्याय पञ्चानन ने परमार्थ दृष्टि का अभिप्राय यों समझाया है, कि ब्रह्मात्मबोध उत्पन्न होने पर, जीवन्मुक्त पुरुष इस जगत्-प्रपञ्च को देखता ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। तब संसारी लोगों की भांति वह जगत् को नहीं देखता इतनी ही विशेषता है ,, †।

वेदान्त-परिभाषा।

११। सर्वत्र यही एक ही बात है। परमार्थ दृष्टिमें जगत् उड़ नहीं जाता। जगत्के विकारोंमें ब्रह्मसत्ता अनुस्यूत है यही ज्ञान दृढ़ हो जाता है। ब्रह्मसत्तामें ही जगत्की सत्ता है, यही ज्ञान सुदृढ हो जाता है। अन्तमें एक और बात कह देना भी आवश्यक है। वेदान्त भाष्यमें एक शङ्करोक्ति ‡ देखकर बहुत लोग समझते हैं कि शङ्करने सृष्टि तत्वको ही नहीं किन्तु ईश्वरको भी मायामय कहकर उड़ा दिया है। किन्तु हमारा दृढ विश्वास यही है कि, यह भी अत्यन्त भ्रान्त धारणा है। जो लोग शङ्कर स्वामीके अद्वैतवादका यथार्थ तात्पर्य नहीं समझते, वे ही शङ्करके नामसे ऐसी झूठी बातें कहते फिरते हैं। हम ऊपर बतला आये हैं कि, भाष्यकारने जगत् एवं जगत्की उपादान शक्तिको उड़ा नहीं दिया है और न परमार्थ दृष्टि उत्पन्न होने पर भी जगत्को अलीक सिद्ध किया है। जो विवेकी हमारी उक्त समालोचना को समझ लेंगे, वे अवश्य ही हमारी इस बातको भी भलीभांति समझ जावेंगे, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। हम देखते हैं कि सृष्टिके पूर्व कालमें निर्विशेष ब्रह्मसत्ता

शङ्कर मतमें सृष्टितत्त्व एवं ईश्वर अलीक नहीं।

---

* "न ततः पृथगस्तीति प्रत्यक्तेऽवधार्यमाणे, बाह्याध्यात्मिकादि-'भेद' स्फूर्तेरनवकाशात् प्रत्यगात्मब्रह्म-तावन्मात्रमवशिष्यते " ९। २ "ज्ञानावस्थायां कदाचित् प्राणाद्याकारां मायां पश्यन् अज्ञानावस्था—यामिव न व्यामुह्यति ,,

† "प्रपञ्चं पश्यन्तोऽपि पारमार्थिकत्वेन न जानन्ति, न तु प्रपञ्चं न पश्यन्तीति।

‡ वह स्थल यह है,—"उपाधिपरिच्छेदापेक्षमेव ईश्वरस्य ईश्वरत्वम् न परमार्थतः। यदा अभेदः प्रतिबोधितो भवति, अपगतं भवति तदा"……ब्रह्मणः स्रष्टृत्वम् वेदान्तभाष्य २। १ १४ और २१।

की ही एक सर्गोन्मुख विशेष अवस्था होती है। किन्तु उस के कारण ब्रह्म सत्ता एक 'स्वतन्त्र, वस्तु नहीं हो जाती। परमार्थ दर्शी जन जानते हैं कि एक विशेष अवस्थाके होनेसे वस्तु कोई नई या 'अन्य, वस्तु नहीं हो जाती है। इस लिये सृष्टि भी ज्ञानी की दृष्टि में कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं मानी जा सकती। क्योंकि पहले भी वह ब्रह्मसत्ता थी अब भी वह ब्रह्मसत्ता ही है। हम इस के पहले बतला आये हैं कि सृष्टि के प्राक्काल में 'आगन्तुक, मायाशक्ति के द्वारा ही ब्रह्मको 'सगुण, ब्रह्म वा 'ईश्वर, कहते हैं। किन्तु यह ईश्वर क्या ब्रह्मसे कोई 'स्वतन्त्र, पदार्थ है? सुतरां परमार्थ दर्शीकी दृष्टि में ईश्वर 'असत्य, नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञानी जानता है कि एक अवस्था विशेष का नाम 'स्वतन्त्र, वस्तु नहीं हुआ करता। जो ब्रह्म पहले था वही ब्रह्म अब भी है। सर्गोन्मुख अवस्था होनेके कारण उस ने अपनी 'स्वतन्त्रता, नहीं छोड़ दी। *। यही शङ्कर का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में 'ईश्वर, या 'सृष्टि, अलीक कह कर उड़ा नहीं दिये गये हैं। इस सिद्धान्त में हम यही महान् तत्त्व पाते हैं कि यथार्थ ज्ञानियों के समक्ष सृष्टि कोई एक 'स्वतन्त्र, वस्तु नहीं और ईश्वर भी निर्गुण ब्रह्म से 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं है। वे लोग ईश्वर को स्वरूपतः निर्गुण ब्रह्म ही मानते हैं। सृष्टि को भी कोई एक 'स्वतन्त्र, अवस्था नहीं मानते। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि, सृष्टि व ईश्वर अलीक हैं। जो लोग सृष्टिको एवं ईश्वर को,-ब्रह्मसे पृथक् 'स्वतन्त्र, पदार्थ समझते हैं वे अज्ञानी हैं अविद्यासे ग्रसित हैं। इन अज्ञानियोंकी समझमें, ईश्वर निर्गुण ब्रह्मसे अतिरिक्त 'अन्य, कुछ नहीं—यह तत्त्व नहीं आता है। इसी अभिप्राय

* "ईक्षणीय—व्याकर्तव्य-प्रपञ्चात् 'पृथक्, ईश्वरसत्त्वश्रुतेर्नकृत्स्नप्रसक्तिः—रत्नप्रभा, २।१।२७।"'कल्पितात् ''चिन्मात्रईश्वरः 'पृथक्, अस्तीति न मिथ्यात्वम्—रत्नप्रभा १।१।१७" कल्पितस्य अधिष्ठानात् भेदेऽपि अधिष्ठानस्यततोऽभेदः,,। "Reality itself is motan aggregate but a uniform whole, whose members stand in a uniform and general relation to each other This fact does not exclude differentiation—only differentiation dose not mean separation (स्वतन्त्रता) and isolation, but a living relation to the whole."—Paulsen (Living relation.)- i e. (ब्रह्मसत्ता में ही जगत् की सत्ता है)

से भाष्यकार ने कहा है, कि अविद्याच्छन्न दृष्टिमें ही ईश्वर तथा सृष्टि ब्रह्म सत्ता से—निर्गुण ब्रह्म सत्ता से—स्वतन्त्र अथवा भिन्न जान पड़ते हैं। खेद है कि शङ्कराचार्य की इन सब बातों पर विचार कर उनके अद्वैतवाद के मूल मर्मको लोग नहीं ढूंढते। इसी कारण अद्वैतवादके सम्बन्धमें देश और विदेशमें भी अनेक मिथ्या बातें प्रचलित हो गई हैं। हमने शङ्कर भगवान् के भाष्यसे, उनकी उक्तियोंको उद्धृत कर, उनके अद्वैतवादके प्रकृत सिद्धान्त को दिखलानेकी चेष्टाकी है। यदि हम इस दिशामें कृतकार्य हुए तो अपने परिश्रमको सफल समझेंगे।

जगत् एवं मायाशक्ति अलीक नहीं इस विषयमें शङ्करकी कोई सुस्पष्ट उक्ति है या नहीं।

हम और एक प्रमाण लिखकर इस विषयको समाप्त करेंगे। ऊपर के अंशोंसे पाठक देख चुके हैं कि, शङ्कर मतमें जगत् अलीक वस्तु नहीं है। जगत्के किसी भी पदार्थ का शङ्कराचार्यने संहार नहीं किया है। यह बात उन्होंने स्वयं माण्डूक्यकारिका भाष्य (४।५७) में स्पष्टतासे कह दी है। हम पाठकोंसे वह स्थल भी देखनेके लिये अनुरोध करते हैं। वहां पर शङ्कर कहते हैं कि,—जगत्के सब पदार्थ कार्य कारण सम्बन्धके द्वारा विधृत हैं। संसार के सब पदार्थ उत्पत्ति विनाश शील हैं। अज्ञानी लोग इसी भावसे संसार को देखते हैं। परन्तु जो वस्तु इस संसारमें नित्य है, उसको अज्ञानी लोग नहीं देख सकते। किन्तु जो तत्वदर्शी हैं, उनके सन्मुख यह जगत् आत्मसत्ता सम्पन्न कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। सुतरां कार्यकारणात्मक किसी पदार्थका भी उच्छेद नहीं होता है *। इसीकी टीकामें आनन्दगिरि कहतेहैं, "संसारके रहते भी परमार्थ दृष्टि उत्पन्न हो सकती है। वस्तुतः संसारी लोगोंकी और परमार्थ दृष्टिमें कोई विरोध नहीं पाया जाता। भ्रान्त व्यक्ति रज्जुको सर्प

* ननु आत्मनोऽन्यत् नास्त्येव, तत् कथं हेतुफलयोः संसारस्य उत्पत्ति विनाशावुच्येते त्वया। शृणु। ....अविद्याविषयो लौकिकव्यवहारस्तया संवृत्या जायते सर्वं तेन अविद्याविषये शाश्वतं नास्ति वै। अतः उत्पत्ति विनाशलक्षणः संसार आयातः। परमार्थसद्भावेन तु अजं—सर्वमात्मैव यस्मात्। अतः......उच्छेदः तेन नास्ति केस्यचिद्धेतुफलादेः। वेदान्तभाष्य (२।१ १४) में कहते हैं 'सर्वमात्मैव' इन सब श्रुतियोंका अर्थ यह है कि, कार्य जगत् परमकारण ब्रह्मसे 'अन्य' या 'स्वतन्त्र' नहीं है।

समझकर भीत होता है और उसके पाससे भगता है, यह उसकी अपनी निजकी मूर्खता मात्र है। किन्तु जो विवेकी हैं उनके विचारमें रज्जु रज्जु ही है वह सर्प नहीं हो जाती। तत्त्वदर्शी जानते हैं कि, जगत्में ब्रह्मकी ही सत्ता सब पदार्थों में विराजमान है। अज्ञानी लोग इस सत्ताकी बातको भूलजाते हैं एवं जगत्की स्वतन्त्र सत्ता है—ऐसा मान बैठते हैं। अतएव परमार्थ दृष्टि के साथ अज्ञानदृष्टिका कोई विरोध नहीं *। इस स्थलमें शङ्कर तथा आनन्दगिरि दोनों जगत्को मानते हैं। हां, दोनोंका यह कहना अवश्य है कि, जगत्के रहते भी ज्ञानी जन जगत्में केवल ब्रह्मसत्ताका ही अनुभव करते रहते हैं। और इसी स्थलकी ५४ कारिकाके भाष्यमें शङ्करने कह दिया है कि घट पटादिक बाह्य पदार्थ केवल चित्तके विकार मात्र केवल विज्ञान मात्र (Iaeas) ही नहीं हैं †। इस भाष्यको समझाते हुए आनन्द गिरि कहते हैं कि जो पहले मनमें ज्ञानके आकारसे रहता है, वही क्रियाके आकारसे बाहर प्रकाशित होता है। बाहर प्रकाशित होने पर ज्ञान व क्रिया एक ही वस्तु है ऐसा नहीं विदित होता। उस समय दोनोंका व्यवहार पृथक मानकर ही होता है। किन्तु जो लोग ज्ञानी हैं, वे ही क्रियाको ज्ञानसे अन्य वा स्वतन्त्र वस्तु नहीं मानते।

पाठक ! देखिये कितनी स्पष्ट बात है। इन सब बातों से क्या जगत उड़ गया ? नहीं कदापि नहीं केवल दो चार तत्त्वज्ञानी महात्मा जगत् को ब्रह्म कह कर—जगत् ब्रह्मसत्ता से स्वतन्त्र नहीं कह कर—सर्वत्र ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं। यही शङ्कर स्वामी का सिद्धान्त निकलता है।

---

* न चित्तजा बाह्यधर्माः इत्यादि। [बाह्यधर्माः घटादयः]। मूल ग्रन्थ, द्वितीय अध्याय, तृतीय परिच्छेद पढ़ो।

† "चिकीर्षित कुम्भ संवेदन समनन्तरं कुम्भः सम्भवति। सम्भूतश्चासौ कर्मतया स्वसंविदं जनयतीति व्यवहारो नोपपद्यते। कस्यचिदपि विद्वद्दृष्टानुरोधेन अनन्यत्वादित्याह। केवल विद्वान् या तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें ही ज्ञान और क्रिया (शक्ति) अलग नहीं हैं। इस बातसे ज्ञान या क्रिया उड़ नहीं गई। इसीके आगे कारिकामें आनन्दगिरिने स्पष्ट कहा है कि कार्यसे कारण या कारणसे कार्य उत्पन्न नहीं होता इस प्रकारकी बातें केवल तत्त्वदृष्टि की हैं। केवल तत्त्वदृष्टिमें ही कोई वस्तु ब्रह्मसे भिन्न नहीं जान पड़ती है।

शङ्कराचार्य ने जगत् के उपादान मायाशक्ति को भी नहीं उड़ाया—अर्थात् अलीक—विज्ञानमात्र (Idea) नहीं बतलाया, यह बात भी पाठक पढ़ चुके हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में भी हम शङ्कर की सुस्पष्ट उक्ति उद्धृत करते हैं। यह देखिये माण्डूक्यकारिका (१।२) के भाष्य में शङ्कर स्पष्ट कहते हैं "कार्य के द्वारा ही कारण का अस्तित्व जाना जाता है। कार्य न होने से—कार्य 'असत्, होने से—उसका कारण भी नहीं हो सकता। यह जगत् असत् वा शून्य नहीं है। इस लिये जगत् को देख कर ही—जगत् में अनुप्रविष्ट कारण की सत्ता भी निर्द्धारित होती है। प्राणवीज ही जगत् का उपादान है यह वीजयुक्त ब्रह्म ही श्रुति में सद्ब्रह्म कहा गया है। यदि यह बीज न स्वीकार किया जाय तो इस जगत् की उत्पत्ति न हो सके। इस वीज से अतीत जो निर्गुण ब्रह्म है, वह जगत् का कारण नहीं कहा जाता। वह तो कार्य और कारण दोनों से परे हैं ,, *। शङ्कर ने इस स्थान में अति स्पष्ट भाव से मायाशक्ति वा प्राणशक्ति को जगत् का बीज (उपादान) मान लिया है। इस भाष्य के टीकाकार आनन्दगिरि का कथन इससे भी अधिक स्पष्टतर है। उन्होंने प्रथम यह शङ्का उठाई कि "अज्ञान वा माया को जगत् का उपादान कहने की क्या आवश्यकता है ? अज्ञान वा माया, मनका एक विज्ञान वा संस्कार (Idea) मात्र है। यही कह देने से तो काम चल सकता है।? इस शङ्काके समाधान में गिरिजी कहते हैं—"नहीं, अज्ञान वा माया केवल मन का विज्ञान या संस्कार मात्र नहीं है, वह इस जगत् का उपादान है,, †। इसी से पाठक विश्वास

---

* "यदि असतामेव जन्म स्यात्, ब्रह्मणो व्यवहार्यस्य ग्रहणद्वाराभावात् असत्त्वप्रसङ्गः।"'एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक् प्राणवीजात्मनैव सत्त्वमिति,,। बीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राणशब्दत्वं सतः सत् शब्द वाच्यता च। निर्बीजतयैव चेत्"'सुषुप्ति—प्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात्,,—इत्यादि

† "ननु अनाद्यनिर्वाच्यमज्ञानं संसारस्य बीजभूतं नास्त्येव। मिथ्याज्ञान—तत्संस्काराणामज्ञानशब्दवाच्यत्वात्तत्राह , "' "' अतः 'उपादानत्वेन, अनाद्यज्ञानसिद्धिः। मायाशक्ति केवल विज्ञान मात्र नहीं, यह बात गीता में भी स्पष्टतया आनन्दगिरि ने कह दी है—"मायाशब्दस्यापि 'प्रज्ञा, नामसु पाठात् विज्ञानशक्ति विषयत्वमाशङ्क्याह त्रिगुणात्मिकामिति,,—गीता ७। ४६। गीता १३। २९ एवं १५। १६ का शङ्करभाष्य भी देखो !

करें कि, केवल युक्ति द्वारा ही नहीं, शङ्कराचार्य ने अति स्पष्टता से जगत् एवं जगत् के उपादान को स्वीकार किया है। अर्थात् शङ्कर–मतमें जगत् है और जगत् का उपादान भी है।

१२। इसी के उपलक्ष्य में यहां पर हम एक और बात कहना चाहते हैं। कुछ पण्डित कहते रहते हैं कि, शङ्कराचार्य जगत् में ब्रह्मदर्शन के विरोधी हैं। शङ्कर तो जगत् को केवल ब्रह्म का आवरक मानते हैं। जगत् में ब्रह्म की ही महिमा, ऐश्वर्य, विभूति प्रकाशित है—यह बात शङ्कर नहीं मानते। किन्तु हमारा विश्वास अन्य प्रकारका है। इस बात का आभास पाठकों को हमारी अद्वैतवाद वाली समालोचनासे मिल चुका है। हमारा तो यही विश्वास है कि जगत्में ब्रह्मदर्शन का विरोध कैसा, शङ्कराचार्य ने तो जगत् को ब्रह्मदर्शन के अनुकूल रूप से ग्रहण करने का ही उपदेश दिया है। इस सम्बन्ध में यहां संक्षिप्त आलोचना करके, हम शङ्कर के अद्वैतवाद का विचार समाप्त करेंगे।

यह जगत् ब्रह्म की ही महिमा, ऐश्वर्य और विभूति की अभिव्यक्ति का क्षेत्र है—यह बात शङ्करने स्वीकार की है या नहीं।

ऊपरकी समालोचनासे अवश्य ही पाठकों ने भाष्यकार की दो प्रधान मीमांसाओं को लक्ष्य किया होगा। उन की एक मीमांसा तो यह है कि, ब्रह्म अव्यक्तशक्तिसे स्वतन्त्र है। और दूसरी मीमांसा यह है कि, परमार्थतः अव्यक्त शक्ति वा जगत् ब्रह्मसत्ता से स्वतन्त्र नहीं,—ब्रह्मसत्ता में ही इनकी सत्ता है।

शङ्कर के दो मूल सिद्धान्त।

शङ्कर ने क्यों अव्यक्त शक्तिसे ब्रह्मको स्वतन्त्र कहा है? हम पहले ही लिख आये हैं कि, शङ्कर समझते थे सृष्टिके प्राक्कालमें निर्विशेष ब्रह्मसत्ताका ही एक परिणाम अभिव्यक्त होनेके हेतु एक अवस्थान्तर उपस्थित हुआ। * यह अवस्था पहले न थी, सृष्टिके पूर्व क्षण मात्रमें उपस्थित हुई इस लिये यह आगन्तुक हुई। और इसी लिये ब्रह्म इससे स्वतन्त्र भी हुआ। यह परिणामिनी शक्ति है इसीसे इसको जड़ शक्ति कहते हैं। परन्तु ब्रह्म अपरिणामी है। सुतरां ब्रह्म इस

१। ब्रह्मचैतन्य मायाशक्ति से स्वतन्त्र है।

---

* पाठक पहले पढ़ चुके हैं कि, इस अवस्थाको शङ्करने वेदान्तभाष्यमें व्याचिकीर्षित अवस्था, 'जायमान अवस्था' कहा है। और उनके टीकाकारों ने इसका सर्गोन्मुख परिणाम नाम रक्खा है।

शक्तिसे स्वतन्त्र है। हम नीचे भाष्यके प्रमाणोंसे सिद्ध करते हैं कि, शङ्करने ब्रह्मको अव्यक्त शक्तिसे स्वतन्त्र माना है—

(१) जगत्में अभिव्यक्त यावत् नामरूपोंकी बीज शक्तिको, अव्याकृत एवं अक्षर कहते हैं। भूतसूक्ष्म भी कहते हैं। यह शक्ति परमेश्वरके आश्रित एवं उसकी उपाधि है। यह सब भांतिके विकारोंकी जननी है। इस अव्याकृत शक्तिसे परमात्मा भिन्न स्वतन्त्र है। वेदान्तभाष्य १।२।२२*।

(२) सब कार्यों व करण शक्तिको समष्टि जगत्का बीज यह अव्यक्त, अव्याकृत आकाश प्रभृति शब्दों द्वारा निर्दिष्ट होता है। बीजमें वृक्षशक्ति की भांति, यह अव्यक्त परमात्मामें आश्रित है। पुरुष चैतन्य इस अव्यक्त शक्तिसे स्वतन्त्र है, कठभाष्य, ३।११ †।

(३) सब कार्य व करण की बीजस्वरूप यह अक्षर शक्ति, अपने विकारोंसे स्वतन्त्र है क्योंकि वह सकल विकारों की जननी है। निरुपाधिक पुरुष चैतन्य इस अक्षर शक्तिसे भी स्वतन्त्र है मुण्डकभाष्य, २।१।२। ‡।

(४) सबकी बीज भूत प्राणशक्तिके द्वारा ही ब्रह्म जगत्का कारण या सद्ब्रह्म कहा जाता है। इस बीज वा अक्षर या प्राणशक्तिसे भी ब्रह्म स्वतन्त्र है मुण्डक गौड़पादकारिका भाष्य १।६ +।

अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। उक्त वाक्योंसे हम

---

* "अक्षरमव्याकृतं नामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्मईश्वराश्रयं···सर्वस्मात् विकारात्परो योऽविकारः, तस्मात्परतः पर इति भेदेन व्यपदेशात् परमात्मानमिह विवक्षितं दर्शयति"।

† सर्वमहत्तरञ्च अव्यक्तं सर्वस्य जगतोबीजभूतं·········सर्वकार्यकरणशक्ति समाहाररूपं अव्यक्तमव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मनिओतप्रोतभावेन समाश्रितं बटकणिकायामिव बटबीजशक्तिः। तस्माद्व्यक्तात्परः सूक्ष्मतमः ····· पुरुषः।

‡ अतोऽक्षरात्·····सर्वकार्यकरणबीजत्वेन उपलक्ष्यमाणत्वात् परं तस्मात् परतो अक्षरात् परो निरूपाधिकः पुरुषः।

+ तस्मात्सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः, सर्व श्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः। अतएवाक्षरात्परतः पर इत्यादिना बीजवत्त्वापनयनेन व्यपदेशः। तां तुरीयत्वेन पृथक् वक्ष्यति।

समझते हैं कि, अव्यक्त शक्तिसे ब्रह्म स्वतन्त्र कहा गया है। अथ च यह शक्ति ब्रह्ममें ही ओत प्रोत भरी हुई (गुथी हुई) है।

अब हम भाष्यकारकी दूसरी मीमांसाकी चर्चा करेंगे। ब्रह्म इस आगन्तुक शक्तिसे स्वतन्त्र है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु वास्तवमें यह शक्ति ब्रह्मसे अलग स्वतन्त्र नहीं हो सकती। शङ्करने यह बात क्यों कही? आप पहले ही देख आये हैं कि, शङ्कर समझते हैं, एक विशेष अवस्था होने से ही वस्तु कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हो जाती। अव्यक्त शक्ति क्या यथार्थ में एक स्वतन्त्र पदार्थ है? नहीं, वह तो निर्विशेष ब्रह्मसत्ताकी ही एक विशेष अवस्था मात्र है। इस लिये वह ब्रह्मसत्ता से एक वार ही स्वतन्त्र वस्तु नहीं कही जा सकती। अर्थात् बात यह है कि ब्रह्मकी ही जो एक आगन्तुक अवस्था है, उसे स्वतन्त्र वस्तु मानना ठीक नहीं। वह पहले भी ब्रह्मसत्ता थी अब भी ब्रह्मसत्ता ही है। ज्ञानीके निकट वह स्वतन्त्र वस्तु नहीं कहला सकती। इसी उद्देश्य से शङ्कर कहते हैं कि, ब्रह्मसत्तामें ही अव्यक्त शक्तिकी सत्ता है या उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।*। इसी प्रकार ब्रह्मसत्तामें ही जगत्‌की सत्ता है उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इन सब बातों पर विचार कर चुके हैं। जिससे पाठक महोदय हमारा अभिप्राय भली भांति समझ गये होंगे।

२। ब्रह्मसत्तामें हीं माया की सत्ता है। इस लिये माया शक्ति ब्रह्म से एकान्त स्वतन्त्र नहीं।

जगत् भी ब्रह्म से एकान्त स्वतन्त्र नहीं हैं।

शङ्कर की इस मीमांसा का स्मरण रखने से, पाठक और भी एक विषय सहज में ही समझ लेंगे। वह यह कि, यदि ब्रह्मसत्ता में ही जगत् की सत्ता हुई, तब यह बात भी सुनिश्चित हो गई कि यह जगत् ब्रह्मसत्ता की ही अभिव्यक्ति है। ब्रह्मसत्ता ही इस जगत् में अनुप्रविष्ट है। ब्रह्मसत्ता का अवलम्बन करके ही यह जगत् अवस्थित है। ब्रह्मसत्ता ही विविध पदार्थों के रूप से—नाना प्रकार के आकार धारण कर—दर्शन दे रही है। यह शङ्कर की सुन्दर मीमांसा सुस्पष्ट समझ ली गई। †।

---

* अतो नामरूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैव आत्मवती। न ब्रह्म तदात्मकम्। शङ्करभाष्य। नामरूपयोरीश्वरत्वं वक्तुमशक्यं जड़त्वात्। नापि ईश्वराद्न्यत्वं, कल्पितस्य पृथक् सत्तास्फूर्त्योरभावात् टीकाकार। इत्यादि बातें पहले लिख आये हैं।

† प्रमाणों के साथ आलोचना पहले कर आए हैं।

यह जगत् ब्रह्मसत्ता का ही विकाश है

पाठक देखें कि, यह जगत् ब्रह्मसत्ता की ही अभिव्यक्ति है, ब्रह्मसत्ता में ही जगत् की सत्ता है अब यह बात शङ्कर-मत में भली भांति सिद्ध हो गई। ब्रह्म निमित्त कारणके रूपसे इस जगत् से स्वतन्त्र है। किन्तु उपादान कारण के रूप से (अव्यक्तशक्ति ब्रह्म से वस्तुतः स्वतन्त्र नहीं है, इसलिये) वह जगत् के आकार से परिणत है। जब कि यथार्थ में अव्यक्तशक्ति ब्रह्मसत्ता से स्वतन्त्र नहीं, तब ब्रह्म ही अवश्य जगत् का उपादान-कारण माना जायगा। इसी लिये शङ्कर ने वेदान्त भाष्य में कह दिया है कि "ब्रह्म परिणाम आदि व्यवहारों का स्थान है और वह सब व्यवहारों से अतीत, अपरिणामी भी है *।

इसी से समझ लीजिये कि ब्रह्मसत्ता ही जब जगत् के आकार से परिणत है, तब यह जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति वा विकाश है, इस में क्या शङ्कर स्वामी की असम्मति रह सकती है?

यह जगत् ब्रह्मदर्शन का उपाय वा द्वारमात्र है।

किन्तु शङ्कराचार्य ने दूसरे स्थान में इस जगत् को—शब्द स्पर्श रूप रसादि को—ब्रह्म का आवरक कहा है। इस का भी क्या कोई तात्पर्य नहीं है? इस का तात्पर्य यही है कि जबतक हमें यथार्थ ज्ञान नहीं होता' जब तक परमार्थ दृष्टि उत्पन्न नहीं होती' तबतक हम जगत्को शब्द स्पर्श-सुख दुःखमय एक स्वतन्त्र वस्तु ही समझते हैं। जगत् ब्रह्मसत्ता का ही विकाश है किम्वा ब्रह्मसत्ता ही जगत् में अनुस्यूत है,-इस बात को भूल जाते हैं। किन्तु जब यथार्थ ज्ञानोदय होता है, तब फिर यह जगत् 'स्वतन्त्र, नहीं जान पड़ता। तब तो इस जगत् में ब्रह्मसत्ता का दर्शन होने लगता है। क्योंकि कारणसे उत्तम कार्यकी सत्ता नहीं रह सकती। यह जगत् कार्य है, और इस का कारण ब्रह्मसत्ता ही है। इसलिये इस जगत्की ब्रह्मसे भिन्न स्वतन्त्र सत्ता मानना ठीक नहीं †। वेदान्तभाष्य में शङ्करने इसीलिये कहा है कि, "इस परिणामी जगत्को यदि ब्रह्मसे स्वतन्त्र ही मानते हो यदि तुम समझते हो कि इन परिणामी

---

* ब्रह्म परिणामादि सर्व व्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते, सर्व व्यवहारातीतमपरिणतञ्च अवतिष्ठते"—२।१।१७।

† "अनन्यत्वेऽपि कार्य-कारणयोः, कार्यस्य कारणात्मत्वं न कारणस्य कार्यात्मत्वम्,,—वेदान्तभाष्य, २।१।९। 'कारणं कार्यात् भिन्नसत्ताकं, न कार्यं कारणाद्भिन्नम्—रत्नप्रभा टीका, १।१।८।

पदार्थोंका कोई स्वतन्त्र–स्वाधीन फल है, तो तुम अज्ञानताके कारण भारी भयंकर भूल करते हो। वास्तव में इस परिणामी जगत्का स्वतन्त्र कोई फल नहीं, ब्रह्मदर्शन ही इस का एकमात्र मुख्य प्रयोजन है। इसलिये जगत् को ब्रह्मदर्शनके उपाय रूपसे द्वाररूपसे देखना होगा। अर्थात् ब्रह्मदर्शन ही मुख्य उद्देश्य है, यह जगत् उसी उद्देश्य का उपाय वा द्वार मात्र है,, * शङ्कर ने अन्य प्रकार से भी वेदान्तभाष्य में यह बात कही है। प्रकृति स्वतन्त्र रूप से 'ज्ञेय, नहीं हो सकती। ब्रह्मका परमपद ही यथार्थ में ज्ञेय है उस परमपदकी प्राप्तिका ही द्वार प्रकृति है, इसी रूप से प्रकृति को ग्रहण करना चाहिये, स्वतन्त्र रूप से नहीं † । इस भांति हम देखते हैं कि, शङ्कर–मत में, जगत् में ब्रह्म का दर्शन ही मुख्य सिद्धान्त है। जगत् का स्वतन्त्र कोई फल नहीं, इस में ब्रह्मदर्शन ही मुख्य फल है।

इसी प्रकार भाष्यकार ने जगत् को ब्रह्म माना है ‡। वास्तव में ब्रह्म सत्ता से स्वतन्त्र रूप में जगत् की सत्ता नहीं हो सकती, बस, इसी अर्थ में जगत ब्रह्म है +। किन्तु निमित्तकारणरूप से—अधिष्ठानरूप से—ब्रह्म

---

*"यत्तत्र अफलं श्रूयते, ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि, तत् ब्रह्म-दर्शनोपायत्वेन विनियुज्यते.........न तु स्वतन्त्रफलाय कल्प्यते,,—वे० भा० २।१।१४। वेदान्त के १।४। १४ सूत्र में भी शङ्कर कहते हैं–"ब्रह्मदर्शन ही सृष्टि श्रुति का तात्पर्य है, स्वतन्त्र कोई भी तात्पर्य नहीं,,। "दर्शयति च सृष्ट्यादि–प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थताम्,, इत्यादि।

† "विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इति,,–वे० भा०, १।४।४।

‡ "आत्मैवेदं सर्वम्,, "ब्रह्मैवेदं सर्वम्,, इत्यादि।

+ पाठक यदि वेदान्तदर्शन २।१।१४ सूत्र का भाष्य खोल देखें, तो विदित हो जावे कि, भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में ही 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्,, "आत्मैवेदं सर्वम्,, "तत्त्वमसि,–इन सब श्रुतिवाक्यों का अर्थ निर्णय किया है। इस प्रसिद्ध सूत्र में, कार्य और कारण का अनन्यत्व अर्थात् कार्य वस्तुतः कारण से स्वतन्त्र नहीं, यही आलोचित हुआ है। शङ्कर ने दिखलाया है कि जगत् ब्रह्म से वस्तुतः स्वतन्त्र नहीं, इसी लिये कहाजाता है कि,–यह जगत् ब्रह्म ही है, जीव ब्रह्म है, जगत् में नानात्व नहीं–इत्यादि। इसी अभिप्रायसे—"ब्रह्मसे व्यतिरिक्त वस्तुका अभाव,, माना जाता है। इन सब बातोंका सारांश इतना ही है कि, ब्रह्मसत्तासे पृथक् किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। पाठक, शङ्करने क्या जगत्को उखाड़ कर उड़ा दिया ?॥

जगत् से स्वतन्त्र है। सुतरां यद्यपि ब्रह्म जगत् के आकार से अभिव्यक्त है, तथापि उस के निरवयवत्व की कुछ भी हानि नहीं हुई। यही भगवान् शङ्कर का उपदेश है। नहीं तो उन्हों ने जगत् और ब्रह्म को एक (अभिन्न) नहीं कहा और न जगत् को अलीक कहकर उड़ा ही दिया है।

इस आलोचना से पाठक देखते हैं कि ब्रह्मसत्ता ही जगदाकारसे विकाशित है—यही जिन का मत है उन का जगत् में ब्रह्मदर्शनसे विरोध होगा, ऐसा कभी नहीं हो सकता। उन्हों ने एक नहीं अनेक स्थानों में लिखा है कि जगत् के विकार निरन्तर रूपान्तरित होते रहते हैं, सर्वदा परिवर्तित हुआ करते हैं, अतएव सब विकार अनित्य हैं। जो सब मोहान्ध व्यक्ति केवल इन विकारों में ही आसक्त हैं, इन विकारों को ब्रह्मसत्ता से पृथक् स्वतन्त्र—सत्ताविशिष्ट व स्वाधीन पदार्थ रूप से देखते हैं वे ही अत्यन्त अज्ञानी हैं। किन्तु जो तत्त्वदर्शी ज्ञानी हैं वे विकारों को स्वाधीन पदार्थ नहीं समझते। उन का तो यही मत है कि सब विकारों से ब्रह्म की ही महिमा ब्रह्म की ही सत्ता ब्रह्म की ही विभूति प्रकाशित हो रही है। यही परमार्थ दृष्टि है। इसीलिये वेदान्त दर्शन के भाष्य में शङ्कर ने स्पष्ट रीति से कह दिया है कि

जगतको ब्रह्मकी विभूति व ऐश्वर्य रूप से देखना ही तत्त्वदर्शी का कर्त्तव्य है।

"स्तम्बसे लेकर मनुष्य पर्यन्त पदार्थों में क्रमशः नीचे से चलकर ऊपर तक क्रमोन्नत भावसे ज्ञान एवं ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति हुई है," *। ऐतरेय आरण्यक भाष्यमें भी शङ्कर बड़ी ही स्पष्टता से कहते हैं, "स्थावर से आरम्भ करके मनुष्य पर्यन्त पदार्थों में, आत्माने स्वयं अपने आप को क्रमोन्नतभावसे प्रकाश किया है एवं सब की अपेक्षा मनुष्य में ही उस के ज्ञानादिकी अधिक अभिव्यक्ति हुई है," †। तभी हम यह पाते हैं कि, जगत् के पदार्थों को (विकारोंको) स्वतन्त्र स्वतन्त्र वस्तुरूपसे जानना ही अज्ञानता का कार्य कहकर शङ्करमत

जगत् के सब पदार्थ क्रमोच्चभाव से ब्रह्मके ही ज्ञान-शक्ति आदि का विकाश कर रहे हैं।

---

* "......तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपि परेण परेण भूयसी भवति," इत्यादि। वेदान्तभाष्य १।३।३०

† "प्रविश्य आविरभवत् आत्मप्रकाशनाय,"। तत्र स्थावराद्यारभ्य उपर्युपरि, आविस्तरत्वमात्मन......प्राणभृत्स्वपि पुरुषेष्वेवाविस्तरात्मा, यस्मात् प्रकृष्टं ज्ञानं ......प्राणभृतां सम्पन्नतमः, इत्यादि। २।३

में निषिद्ध हुआ है। और परमार्थ दृष्टि में सब विकारों के भीतर ब्रह्मसत्ता का बोध एवं विकारों को केवल ब्रह्म के ही ऐश्वर्य महिमा आदिकी अभिव्यक्ति समझ कर ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है *। छान्दोग्य भाष्य (८।१२।३) में शङ्कर मुक्तकण्ठ होकर मुक्त पुरुषकी वर्णना करते हुए जो कुछ लिखते हैं, उस में भी हम यही तत्व पाते हैं। शङ्कर कहते हैं कि मुक्त पुरुष उस समय केवल मन के सङ्कल्प मात्र से मर्त्यलोक वा ब्रह्मलोक के यान स्त्री ज्ञाति मित्र प्रभृति किन्हीं भी पदार्थों के साथ परमानन्द को पाता है। इस स्थान में यह शङ्का हो सकती है कि मुक्त पुरुष जब ब्रह्मसे स्वतन्त्ररूप में किसी भी पदार्थ को जानता ही नहीं तब वह इन सब स्त्री यान वाहन मित्र प्रभृति का संकल्प किस प्रकार करेगा? इस प्रश्न के उत्तर में शंकर ने स्पष्ट कह दिया है कि मुक्त पुरुष उन पदार्थों को भी स्वतन्त्र नहीं समझता। मुक्त पुरुष यान वाहनादि उन सब पदार्थों को भी ब्रह्म की ही विभूति, ऐश्वर्य व महिमा जानकर अनुभव करता रहता है एवं उसके फल से परमानन्द में निमग्न हो जाता है। इस से पाठक समझलें कि, ज्ञानी पुरुष इस जगत् को ब्रह्म की ही विभूति समझता है। वह प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्म के ही ज्ञान, शक्ति आदि की अभिव्यक्ति व विकाश का अनुभव कर आनन्द लाभ करता है। इसी लिये शंकर के नितान्त अनुगत शिष्य टीकाकार—आनन्दगिरि जी ने जगत् की उपादान मायाशक्ति का ब्रह्म की ही "ऐश्वर्यभूता,, कहकर निर्देश किया है †। इसीलिये गीताके दशम अध्यायमें जगत्के विविध पदार्थ ब्रह्मके ही अंश रूपसे—विभूति व ऐश्वर्य रूपसे व-

---

* मुण्डक उपनिषद् के जिस भाष्य में शंकर ने ब्रह्म की महिमा—विभूति का वर्णन किया है, उस (२ । २ । ६) भाष्य को पाठक अवश्य पढ़ें। सूर्य चन्द्र, पर्वत नदी, समुद्र आदि का निज निज कार्य निर्वाद प्रभृति सब कुछ ब्रह्म की ही विभूति, है। इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में उक्त भाष्य का अनुवाद दिया है।

† "माया......ऐश्वरी तदाश्रया तदैश्वर्यभूता,,—गीता ७।४। शंकर ने स्वयं लिखा है—"अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगात,,—माण्डूक्यकारिका-भाष्य का अन्तिम श्लोक। स्पष्ट ही मायाशक्ति 'ऐश्वर्य, कही गई है।

र्णित हुए हैं * । और इसी लिये जगत् को एवं सृष्टि विषयक श्रुतिवाक्यों को "ब्रह्मलिङ्ग" वा ब्रह्मके ही परिचायक चिन्ह माननेकी मीमांसा की गई है † । तथा श्रुतियोंमें आकाश मन प्रभृति, ब्रह्मके लिङ्ग वा पाद रूपसे वर्णित हुए हैं । सुतरां हम देखते हैं कि, अज्ञानी व्यक्ति ही जगत्के पदार्थोंको ब्रह्म सत्तासे एकान्त स्वतन्त्र व स्वाधीन समझते हैं, इसीसे इनकी दृष्टिमें ब्रह्म शब्द स्पर्शादि द्वारा आवृत हो पड़ता है ‡ । किन्तु तत्त्वदर्शी विवेकी व्यक्ति इस जगत्को कभी भी ब्रह्मसत्तासे स्वतन्त्र नहीं मानते, वे महात्मा इस जगत्में केवल ब्रह्मकी ही सत्ता, ब्रह्मकी ही महिमा, ब्रह्मकी ही शक्ति, ब्रह्मके ही ऐश्वर्य, और ब्रह्मके ही ज्ञान आदिका अनुभव करते हैं । यह ज्ञान जब अत्यन्त दृढ सुदृढ–सुदृढतर हो जाता है, तब उक्त ऐश्वर्यादि रूपका भी अनुभव नहीं रह जाता, उस समय तो पूर्ण अद्वैत ज्ञान के प्रकाशमें ब्रह्म ही ब्रह्म दीखता है + । ऐसा होना ही मुक्ति है । यही शङ्करका सिद्धान्त है ।

अव्यक्तशक्ति की अभिव्यक्ति का विवरण वा सृष्टितत्व ।

१३ । हमने अब तक ब्रह्म एवं अव्यक्तशक्ति वा मायाशक्तिके सम्बन्धमें ही आलोचना की है । किन्तु अव्यक्त शक्ति किस रूपसे व किस प्रणालीसे व्यक्त होती है, सो कुछ नहीं कहा है । अब आगे हम इसी आलोचनामें प्रवृत्त होते हैं । यह सृष्टितत्त्व का विषय है । अनेक पुरुषोंका विचार है कि, हिन्दू जातिका सृष्टितत्त्व अवैज्ञानिक है । परन्तु इस लेखमें हम यह बात सिद्ध करेंगे कि उपनिषदों व वेदान्तदर्शनमें सृष्टितत्त्वका जो विवरण मिलता है वह विज्ञानके लि-

---

* "यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवागच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्" १० । ४१ ।

† वेदान्त दर्शनका "आकाशस्तल्लिङ्गात्" सूत्र देखो । "ब्रह्मणस्ते सौम्य पादं ब्रवाणि" इत्यादि छान्दोग्य ४ । ६ ५ । २–८ देखो ।

‡ "अविद्वद्दृष्ट्यैव अविद्यावरणं सिद्ध्यति, न तत्त्वदृष्ट्या इति व्याचष्टे" आनन्दगिरि, गौड़पादकारिका ४ । ९८ ।

+ केवल इस प्रकारके पूर्ण ज्ञानवालोंकी ही किसी लोक विशेषमें गति नहीं होती ।

तान्त अनुकूल है। आधुनिक समयमें यूरप के वैज्ञानिक पण्डितोंने बड़े प-

भारतीय सृष्टितत्व वैज्ञानिक है

रिश्रमके साथ अति प्रयत्न से, नाना प्रकारके यन्त्रादि की सहायतासे, जिन सब वैज्ञानिक तत्वोंका आविष्कार किया है, उन के मूल तत्वों का पता भारत वासियोंको पहले अति प्राचीन कालमें ही मिल गया था। यह हमारी अत्युक्ति नहीं है। पाठक इस आ- लोचनासे भली भांति समझ लेंगे कि प्राचीन आर्यऋषियोंकी बातें वि- ज्ञानके विरुद्ध नहीं हैं। हम श्रुति वाक्यों और शङ्कर भाष्यके प्रमाणोंसे ही इस सृष्टि तत्व की व्याख्या करेंगे।

क। पाठक अवश्य ही जानते हैं कि सांख्यकारने, प्रकृतिसे सबके पहले

१। अव्यक्तशक्ति पहले सूक्ष्म रूप से अभिव्यक्त होती है

"महत्त्व" अभिव्यक्त होता है यह बात कही है। श्री शङ्कराचार्य जी भी इस महत्तत्वको स्वीकार * करते हैं। उन्होंने इस महत्तत्व का नाम " प्राण " वा " हिरण्यगर्भ „ रक्खा है †। यह प्राण वा हिरण्यगर्भ ही अव्यक्तशक्ति का पहला विकास है, यह बात

'हिरण्य गर्भ, किसे कहते हैं।

भी भाष्यकारने कह दी है। कठोपनिषद् के १।३।१० भाष्यमें कहते हैं—

(१) " सबसे पहले अव्यक्तशक्तिसे बोधात्मक व अबोधात्मक 'हैरण्य गर्भ—तत्व, उत्पन्न हुआ। इसको 'महानात्मा, भी कहते हैं " ‡।

---

* तब जो शङ्करने वेदान्त दर्शनके १।४।७ सूत्रके भाष्यमें सांख्योक्त महत्तत्वको अवैदिक होनेसे अग्राह्य ठहराया है, उसका कारण यह है कि, सांख्यका महत्तत्व पुरुष चैतन्यसे 'स्वतन्त्र, स्वाधीन वस्तु है। शङ्कर मतमें ऐसा नहीं हो सकता महत्तत्व ब्रह्मसे स्वतन्त्र व स्वाधीन नहीं हो सकता। इस स्वाधीनताके कारण ही शङ्करने सांख्योक्त प्रकृति व महत्तत्व आदि शब्दों के ग्रहणमें आपत्ति की है। यही दिखलानेके लिये उन्होंने सीधा महत्तत्व न कह कर महानात्मा कहा है। यह बात पाठक भूलें नहीं।

† अनेक श्रुतियों में इस प्राण वा हिरण्यगर्भ का उल्लेख है। मुण्डक में 'अन्नात्प्राणः,, १।१।८। " एतस्माज्जायते प्राणः २।१।३। इत्यादि प्रश्न, ६।३। में "सप्राणमसृजत इत्यादि। कठ १।३) १०—१२ में आ- त्मा—महान् परः, महतः परमव्यक्तम्' इत्यादि। और प्रश्नोपनिषद् ५।२ में "अक्षरञ्च प्राणाख्यं प्रथमजम „ इत्यादि।

‡ "अव्यक्तात् यत् प्रथमं जातं हैरण्यगर्भतत्वं बोधा बोधात्मकं महानात्मा,,

मुण्डकोपनिषद् के (१।१।८-९) भाष्य में भी ठीक ऐसी ही बात लिखी है—

(२) "बीजसे जैसे अङ्कुर की उत्पत्ति होती है, वैसे ही अव्याकृत शक्ति से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई। जगत् में जितने प्रकारका ज्ञान एवं क्रिया प्रकाशित हुई है, उसमें सबका साधारण बीज यह हिरण्यगर्भ ही है। इसे 'प्राण, भी कह सकतेहैं,,*। ऐतरेयोपनिषद्के (५।३) भाष्यमें भी लिखते हैं—

(३) "जगत्की बीजस्वरूपिणी अव्यक्तशक्तिका प्रवर्तक ब्रह्म, 'हिरण्य गर्भ' रूपसे व्यक्त हुआ। यह हिरण्यगर्भ स्थूल जगत्का सूक्ष्म बीज है। यह बुद्ध्यात्मा, (महदात्मा) नाम से भी कहा जाता है'†। अब विचार कर लेना चाहिये कि, यह महत्तत्व या हिरण्यगर्भ है क्या?

हिरण्यगर्भ को 'सूत्र, और वायु भी कहते हैं।

अनेक श्रुतियों में इस हिरण्यगर्भका 'सूत्र' शब्द से निर्देश किया गया है। यह सूत्र 'वायु' नाम से भी श्रुति में परिचित है‡। हम जिसे स्थूल वायु कहते हैं उस से यह श्रुति-कथित 'वायु, विलक्षण है। श्रुति में प्राण व वायु की गणना पृथक्रूप से नहीं की गई है। इसी लिये वृहदारण्यक में हम देखते हैं कि वायु 'अमूर्त, (सूक्ष्म) कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् की 'सम्वर्ग विद्या, में कहा गया है कि अग्नि, वायु सूर्य प्रभृति पदार्थ वायु से ही अभिव्यक्त हुए हैं एवं अन्त में ये वायु में ही विलीन हो जावेंगे+। अतएव इन

---

* "अव्याकृतात् व्याचिकीर्षितावस्थातोऽन्नात् प्राणोहिरण्यगर्भो ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यधिष्ठितजगत्साधारणः......बीजाङ्कुरः जगदात्माऽभिजायत,,।

† "......तदेव (अव्याकृत-जगद्बीजप्रवर्तकं) व्याकृत जगद्बीज भूत-बुद्ध्यात्माभिलक्षणहिरण्यगर्भसंज्ञं भवति,,।

‡ "अधिदैवतात्मानं सर्वात्मक-मनिलममृतं सूत्रात्मानम्'—ईशोपनिषद्भाष्य १७ "अधिदैवतञ्च यो वायुः सूत्रात्मा,,—माण्डूक्ये आनन्द गिरिः। "यद्यपि सूत्रात्मरूपेण वायुः परोक्षः,, —ऐतरेय ज्ञानामृत यति। "प्राणाद्ध्येष उदेति प्राणे अस्तमेतीति प्राणशब्दवाच्ये वायौ लय-श्रवणात्,, उपदेश साहस्री ग्रन्थे रामतीर्थ। अतएव प्राण, सूत्र, और वायु—एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए हैं। "प्राणश्चसूत्रं यदाचक्षते,,—शङ्कर, प्रश्न, ४।७

+ आनन्दगिरि ने भी कहा है—"वायुः सूत्रात्माखोऽग्न्यादीन् आत्मनि संहरति इति" सम्वर्गविद्यायां, संहर्तृत्वं वायोरुक्तम्,,—माण्डूक्य।

सब प्रमाणों से यही पाया जाता है कि अव्यक्तशक्ति सब से प्रथम हिरण्यगर्भरूप से—सूत्ररूप से—वायुरूपसे अभिव्यक्त हुई। तैत्तिरीय ३ । १० के भाष्य में शङ्कर भगवान् कहते हैं— सूर्य चन्द्रादिक आधिदैविक पदार्थ वायु में ही लीन हो जाते हैं। ब्रह्म वायु के द्वारा ही समस्त पदार्थों का संहार कर्त्ता है। यह वायु वा प्राण आकाश में अभिव्यक्त होता एवं इस लिये आकाश 'वाय्वात्मा, कहलाता है *। अतएव शङ्कर कहते हैं कि अनन्त आकाश में वायु वा प्राण अभिव्यक्त होता है। ऐतरेय आरण्यकभाष्य (२।२) में भी शङ्कर ने कहा है कि "आकाश में प्राण उप्त है" एवं आकाश प्राण द्वारा परिव्याप्त है †। अब देखना होगा कि यह प्राण वायु या सूत्र किस का परिचय देता है अर्थात् सूत्र से क्या समझा जाय! शङ्कर स्वामी ने सो सब बात स्पष्टतासे हमें बतलादी है। वृहदारण्यक भाष्य ३।५।२१—२३ में शङ्कर कहते हैं कि

सूत्र वा वायु स्पन्दन मात्र है।

"परिस्पन्दात्मक प्राण वा वायु—आधिदैविक वा आध्यात्मिक सभी पदार्थों में अनुस्यूत हो रहा है ‡। वेदान्तभाष्य एवं छान्दोग्यभाष्यमें भी शङ्करने प्राणको परिस्पन्दात्मक कहा है। उनके इन लेखोंसे स्पष्ट हो गया कि श्रुतिमें जिसका नाम वायु प्राण

---

* "परिम्रियन्तेऽस्मिन् देवा इति परिमरो 'वायुः,। वायुराकाशेनानन्य इति आकाशं वाय्वात्मानमुपायति,,।

† "प्रसिद्ध आकाशः प्राणेन..........व्याप्तः,, "अस्मिन्नाकाशे प्राण उप्तः,,—ऐतरेयारण्यक भाष्य २।२। इसी लिये श्रुति में 'वायुरंखम्, कहा गया है। अर्थात् आकाश वायु से भरा हुआ है। यह वायु युक्त आकाश ही 'भूताकाश, के नाम से श्रुति में कहा गया है। और जो नित्य आकाश है, उसको 'पुराणं खम्, कहा है।

‡ "वायोश्च प्राणस्यच परिस्पन्दात्मकत्वं"...आध्यात्मिकैराधिदैविकैश्च अनुवर्त्यमानम्,, वृहदारण्यकमें और भी है "नहि प्राणादन्यत्र चलनात्मकत्वोपपत्तिः,, वेदान्तभाष्य (१।४।१६) में शङ्कर कहते हैं परिस्पन्दलक्षणस्यकर्मणः प्राणाश्रयत्वात्,,। छान्दोग्यकी सम्वर्गविद्या एवं इन्द्रियकलह (वृहदारण्यक) में यह भी देखा जाता है कि, शरीरकी चक्षु कर्णादि इन्द्रिय शक्तियां सुषुप्तिमें प्राणमें लीन हो जाती हैं एवं जागने पर फिर प्राणसे ही अभिव्यक्त होती हैं। इन सब स्थानोंमें भी प्राण परिस्पन्दात्मक कहागयाहै।

वा सूत्र है, वह स्पन्दन मात्र Uibration है। अतएव हम देखते हैं कि स्पन्दन ही हिरण्य गर्भ है। इस स्पन्दन ही से सूर्य चन्द्रादि पदार्थ अभिव्यक्त हुए हैं और वे सब प्रलय कालमें इस स्पन्दनके आकारमें ही लीन हो जावेंगे *।

अतएव हिरण्यगर्भ स्पन्दनका ही दूसरा नाम है।

इस सम्पूर्ण समालोचनाका सार यही निकला कि, अव्यक्तशक्ति अनन्त आकाशके किसी एक देशमें सबसे पहले स्पन्दन रूपसे अभिव्यक्त हुई थी और यह स्पन्दन ही हिरण्यगर्भ है।

इस स्पन्दन क्रियाके साथ आकाशको एक मानकर ही श्रुतिमें आकाश को भूताकाश कहा गया है। वस्तुतः आकाश नित्य अनन्त है इसकी उत्पत्ति नहीं † यह स्पन्दन ही अव्यक्त का पहला सूक्ष्म विकास है। इस सूक्ष्मविकास को ही सांख्य वाले महत्तत्व कहा करते हैं।

भूताकाश किसे कहते हैं।

यह स्पन्दन हीं सांख्य का महत्तत्व है

उपर्युक्त आलोचनामें हम दिखला आये हैं कि, अव्यक्तशक्ति,—प्राण वा हिरण्यगर्भ वा स्पन्दन रूपसे सबसे प्रथम सूक्ष्मभाव से व्यक्त हुई थी। इस स्पन्दनने किस भांति स्थूल होकर जगत्के पदार्थों व शरीर आदिको निर्माण किया? अब, उसी प्रणालीकी आलोचना की जाती है।

ऊपर जो कठ-भाष्यसे अवतरण दियागया है उसमें शङ्करने कहा है कि "हिर-

---

* आधिदैविक वा आध्यात्मिक सभी पदार्थ इस स्पन्दनसे अभिव्यक्त हुए हैं एवं स्पन्दनमें ही लीन होंगे। इसी लिये वेदान्तदर्शनमें लिखा है। सूत्रात्मक प्राणस्य विकाराः सूर्यादयः (१।४।१६ रत्नप्रभा)। इसी लिये 'सर्वाणि स्थावराणि भूतानि प्राण' एव लिखा है (ऐतरेयारण्यक भाष्य २।२)

† "ननु वाय्वादेरेव शब्दवत्वश्रवणात् किमाकाशेन इति अतिप्रसङ्गात्! ······अतः श्रुतत्वात् वाय्वादि कारणत्वेन आकाशः अङ्गीकार्यः रत्नप्रभा १।१।५। वायुश्च आकाशेन ग्रस्त इति प्रसिद्धमेवैतत् रामतीर्थ। आनन्दगिरिने माण्डूक्य कारिका व्याख्यामें इस बातका स्पष्ट निर्देश किया है। आकाश क्रिया शक्ति द्वारा परिवृत है। यही श्रुतिमें कहा गया भूताकाश है। सुतरां यह जड़ है (४।१)

ण्यगर्भ बोधात्मक एवं अबोधात्मक है„। इसका अर्थ आनन्दगिरि लिखते हैं, हिरण्यगर्भ ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक है *। मुण्डकभाष्य १।१ ८–९ की टीकामें, आनन्दगिरिने इस बातको और भी स्पष्ट कर दिया है। उस स्थलमें गिरि जी कहते हैं, इस जगत्में जितने प्रकारका ज्ञान व क्रिया प्रकाशित है, उसका समष्टि बीज हिरण्यगर्भ ही है„। एक स्थानमें शङ्करने स्वयं इस हिरण्य गर्भको "करणाधार„ कहा है †। प्राणियोंके करण वा इन्द्रियां दो प्रकारकी हैं। कुछ इन्द्रियां तो ज्ञानात्मक हैं और कुछ इन्द्रियां क्रियात्मक हैं ‡। हिरण्यगर्भ जब इन्द्रियोंका बीजस्वरूप है, तब वह भी अवश्य ही ज्ञानात्मक व क्रियात्मक है। अब देखना होगा कि, हिरण्यगर्भ ज्ञानात्मक व क्रियात्मक क्यों कहा गया? पहले यही देखना चाहिये कि इसको क्रियात्मक, कहनेका अभिप्राय क्या है? ज्ञानात्मक होनेकी विवेचना पीछे करेंगे। किस प्रकार क्रिया विकाशित होती है? सुनिये।

हिरण्यगर्भ ज्ञानात्मक व क्रियात्मक है

ख। शंकर कहते हैं, क्रिया जब विकाशित होना चाहती है, तब वह 'कारणरूप, एवं 'कार्यरूप, से प्रकाशित होती है ×। श्रुति की भाषा में यों कहना होगा कि, क्रिया 'अ-

"क्रियात्मक„ कहने का तात्पर्य।

---

* "बोधाबोधात्मकमिति ज्ञानक्रियाशक्तिमत्वम्„। वेदान्त मतमें कोई भी पदार्थ चैतन्य शून्य नहीं है।

† "हिरण्यगर्भाख्यं सर्वप्राणिकरणाधारं......असृजत„ प्रश्नोपनिषद् भाष्य ६।४

‡ चक्षु कर्णादिक इन्द्रिय शक्तियोंके द्वारा ज्ञानका विकास (रूपादि ज्ञानका विकाश) होता है इससे ये ज्ञानेन्द्रिय हैं। और वाणी हस्त पदादिक इन्द्रिय शक्तियां कर्मेन्द्रिय कही जाती हैं।

× "द्विरूपो हि......कार्यमाधारः......कारणञ्च आधेयम्„ –बृहदारण्यकभाष्य' ३।५।११–१३ बृहदारण्यक–'मधुब्राह्मण, में भी यह तत्त्व है। "भूतानां शरीरारम्भकत्वेन उपकारः, तदन्तर्गतानां तेजोमयादीनां करणत्वेन उपकारः, शङ्कर, (४।५।१–१९)। "कार्यात्मके नामरूपे शरीरावस्थे, क्रियात्मकस्तु प्राणस्तयोरुपष्टम्भकः। अतः कार्य–करणात्मात्मा प्राणः„–(बृह०

न्नाद, व 'अन्न, रूप से प्रकाशित होती है। जो जिस का पोषण करता है वही उस का अन्न है एवं जो उस अन्न के आश्रय में पुष्ट होता है, वह उस अन्नका 'अन्नाद, कहा जाता है। ऐतरेय आरण्यक में लिखा है—"यह जगत् अन्न व अन्नाद रूप है। प्रजापति भी दोनों प्रकार का है *। आधुनिक अंग्रेजी विज्ञान की भाषा में, इस करणांशका Motion एवं कार्यांशका Matter अनुवाद हो सकता है †। इन में एक दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकता, कोई अकेला क्रिया नहीं कर सकता। स्पन्दन जिस मुहूर्त में स्थूलाकार से क्रिया का आरम्भ करता है, तभी वह 'करणाकार, एवं 'कार्याकार, से क्रिया करता है। कार्यांश के आश्रय में रह कर, करणांश के क्रिया करने पर,—उसका कार्यांश जैसे घनीभूत (Concentrated) होता रहता है, वैसे ही करणांश भी साथ ही साथ सघन (Integrated) होता है ‡। श्रुति और शङ्कर ने यही महातत्व वतला दिया है। क्रिया के विकास की प्रणाली ऐसी ही है।

२। सूक्ष्म स्पन्दन किस प्रकार स्थूल भाव में विकाशित होता है।

भाष्य, २। ३। १९)। "सर्व एव द्विप्रकारः। अन्तः प्राणः करणात्मकः उपष्टम्भकः"...प्रकाशकोऽमृतः, वाह्यश्च कार्यलक्षणः अप्रकाशकः उपजनापायधर्मकः,,—वृहदारण्यकभाष्य ४। ३। ६। प्रश्नोपनिषद् में भी यह वात है। प्राणश्च सूत्रं यदाचक्षते, तेन संग्रथनीयं सर्वं कार्यकरण जातम्,,। ऐतरेयारण्यक भाष्य में भी देख लीजिये। अयं प्राणः वाह्यभूताभ्यां नामरूपाभ्यां छन्नः, तयोरुपष्टम्भकः,, (२। १)। प्रथम खण्ड में 'सप्तान्न विद्या, देखो॥

* तदिदं जगत् अन्नमन्नादञ्च, उभयात्मको हि प्रजापतिः—ऐतरेयारण्यक भाष्य २। १। यह अन्न ही—कार्यांश Matter एवं अन्नाद ही—करणांश Motion है।

† पाश्चात्य जगत् के बड़े वैज्ञानिक दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर भी इसी सिद्धान्त में पहुंचे हैं। प्रथम खण्ड की अवतरणिका में उन की उक्ति उद्धृत हुई है।

‡ "The parts cannot become progressively integrated either individually or as a combination without their motions, individual are combined, becoming more integrated"—First principles p. 382 " In proportion as an aggregate retains, for a considerable time, such a quantity of motion as permits secondary redistri-

महाकाश के एक देश में अभिव्यक्त होकर स्पन्दन, जब क्रिया करने लगा, तभी उसका करणांश Motio तेजरूपसे चारो ओर विकीर्ण होने लगा, साथ ही उसका 'कार्यांश, भी घनी भूत वा संहत हो रहा है। साधारण प्रकारसे हम जिसे वायु कहते हैं, यह वायु अग्नि जलादि के सहित अनुगत रूपसे ही अभिव्यक्त होता है। इसी लिये छान्दोग्यकी सृष्टि-प्रक्रिया में वायुकी बात अलग नहीं कही गई, तेज की बात कही है उसीके साथ वायुकी बात भी कही गई माननी पड़तीहै। शङ्कराशचार्य ने भी कहदिया है कि,—वायु द्वारा दीप्त होकर ही तेज विकीर्ण हुआ करता है,, *। उपदेशसाहस्त्री ग्रन्थकी टीका मेंभी हम यही बात देखते हैं। "तेज की प्रवृत्ति वा निवृत्ति वायु के अधीन है, वायु ने ही तेज को ग्रास कर रक्खा है,, †। अतएव तेज ही—क्रिया की प्रथम स्थूल अभिव्यक्ति है। इसी से हम समझते हैं कि, स्पन्दन जितना हीं क्रिया का विकास करता रहता है, उतना ही वह तेज आलोक आदि रूप से विकीर्ण होता रहता है। एवं इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि तेजोविशिष्ट सौर जगत

(पंचभूत, किस प्रकार अभिव्यक्त होते ह)

---

bution of its component matter, there necessarily arises'Secondary redistribuition of its retained motion"—Ibid

" उपकार्योपकारकत्वात् अत्ता (करणांश) अन्नञ्च (कार्यांश) सर्वम्। एवं तदिदं जगत् अन्नमन्नादञ्च,,—ऐ० आ० भा० २।२। करणांश एवं कार्यांश—दोनों ही दोनोंके 'उपकारक, कहे गये हैं। बृहदारण्यकके 'मधुब्राह्मण, (४।५।१—१९) में भी इन दोनों के परस्पर उपकारकी बात कही गई है। "भूतानां शरीरारम्भकत्वेनोपकारः, तदन्तर्गतानां तेजोमयादीनां करणत्वेनोपकारः,,—शङ्कर।

* वायुनाहि संयुक्तं ज्योतिर्दीप्यते दीप्तंहि ज्योतिरन्नमत्तुं समर्थं भवति,, ऐ० भा० २।३।

† "ज्वालारूपस्य च वन्हेर्वायुवाधीनप्रवृत्तिनिवृत्तिदर्शनात्,,। तेजः वायुना ग्रस्तं वायुश्च आकाशेन ग्रस्तः। महाभारत इतिहासग्रन्थ में भी यह तत्व लिखा है। "अग्निः पवन-संयुक्तः खं समाक्षिपते जलम्,,—मोक्षधर्म, १९० अध्याय ६८१८—२० श्लोक। पश्चिमी पण्डितोंका भी सिद्धान्त देखिये—"The current of air is the effect of the difference in the heat of different parts of the earth's surface."—Paulsen.

की अभिव्यक्ति हो गई। यही वैदिक मत में आधिदैविक सृष्टि है। इसी लिये वेदान्त दर्शन की रत्नप्रभा टीका कहती है—

(क) आधिदैविक सृष्टि।

"सूर्यादि देवता ही सूत्रात्मक प्राण के प्रथम विकास हैं" *। कठोपनिषद् में भी इसी लिये, प्राण वा हिरण्यगर्भको 'सर्व देवतामयी, कहा है †।

हम कह चुके हैं कि 'करणांश —'तेज, आलोकादि के आकार से जब फैलता वा विकीर्ण होता—विखरता है, तब साथ ही साथ उस का कार्यांश भी घनीभूत वा संहत होने लगता है। इस घनीभवन की पहली अवस्था 'जल, (तरल) एवं और भी घनी भूत होने पर उस की अन्तिम अवस्था 'पृथिवी, (कठिन) है ‡। अतएव तेज, जल एवं पृथिवी— यही क्रिया की स्थूल अवस्था है। शङ्कर भगवान् ने इस बात को लक्ष्यकर वृहदारण्यक भाष्य में कह दिया है कि "किसी जलीय या पार्थिव धातु के आश्रय विना अग्नि की अभिव्यक्ति नहीं होती +। अर्थात् अभिप्राय यह कि करणांश जैसे तेज आलोकादि के आकार मे क्रिया करता रहता है, उसका कार्यांश भी साथ साथ जलीय वा पार्थिव आकारसे संहत Intergrated होता जाता है। जलीय भाव ही अधिक घनीभूत होकर कठिन पार्थिव आकारसे

---

* "सूत्रात्मक–प्राणस्य विकाराः सूर्यादयः' वे० द० भा० १। ४। १६

† "अदितिर्देवतामयी ,,—४। ७। प्र० भा० ३। ८। व्याख्या में गिरि जी कहते हैं—"प्राण ही—वाह्य सूर्य, अग्नि, तेज, वायु प्रभृति पदार्थों का आकार धारण कर रहा है एवं प्राण ही भीतरी चक्षु कर्णादि इन्द्रियों का आकार धारण कर टिका है।

‡ Every mass from a grain of sand to a planet, rediates heat to other masses and absorbs heat rediated by other masses and in so far as it does the one it becomes entegrated while in so far as it does the other it becomes disentegrated if the loss of molecular motion proceedsit will presently be followed by liquifaction and eventually by solidification.' Herbert Spencer.

+ "अग्नेः–आप्यं वा पार्थिवं वा धातुमनाश्रित्य""स्वातन्त्र्येणात्मलाभो नास्ति ,,

संहत हो जाता है इस तत्व का निर्देश भाष्यकार ने स्पष्ट कर दिया है *। देखिये ऐतरेयारण्यक भाष्य में,—" (तेजसंयुक्त) जल ही अधिक संहत होकर 'पृथिवी, (कठिन) रूप में परिणत हुआ करता है,, † । इसी प्रकार जगत् में यावत् पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार आधिभौतिक सृष्टि सम्पन्न हुई है। सूक्ष्म स्पन्दन क्रिया शील होकर इसी प्रणाली से स्थूलावस्था को प्राप्त हुआ है। करणांश एवं कार्यांश—इन दोनों ने मिलकर इसी भांति जगत् को गढ़ बनायाहै

(ख) आधिभौतिक सृष्टि

प्राणि—वर्ग में भी क्रिया विकाश की प्रणाली अविकल इसी प्रकार है गर्भस्थ भ्रूण में सबसे पहले प्राण शक्तिकी अभिव्यक्ति होती है यही श्रुति का सिद्धांत है। इसी लिये प्राण ज्येष्ठ व सर्व श्रेष्ठ माना गया है ‡। यह प्राण शक्ति ही रस रुधिर आदिकी परिचालना द्वारा गर्भका पोषण करती रहती है। साथ ही उसका 'कार्यांश' संहत होता है एवं क्रमशः इन्द्रियोंके गोलक वा स्थान निर्मित हुआ करते हैं। इस प्रकार देहके अवयव बनते रहते हैं, तभी 'करणांश' भी इन सब गोलकों के आश्रय में विविध इन्द्रियादि शक्ति रूपसे (Functions) अभिव्यक्त होता है +। इस लिये ही प्राण और देह दोनों

---

* "तेजसा वाह्यान्तःपच्यमानः योऽपांशवः स समहन्यत, सा पृथिव्य भवत् ,, ।

† "दृश्यतेहि अप् बाहुल्यं जगतः संहतत्वात्, संहतिश्च अप्कार्या मृत्दिरडादिषुदृष्टा ,,—२ । २ ।

‡ "गर्भस्थेहि पुरुषे प्राणस्य वृत्ति""""पूर्वं लब्धात्मिका भवति । यथा गर्भो विवर्द्धते, चक्षुरादि—स्थानावयव—निष्पत्तौ सत्यां पश्चाद्भागादीनां वृत्तिलाभः '—शङ्कर (वृ० भा०) "भूतविषये अन्नान्नात्तृत्वमुक्तम् । भूत विकारे इदानीमुच्यते प्राणिजाते । """पुरुषस्य यदुष्णंतत् ज्योतिरग्निर्देहे यानि खानि सुषिराणि तान्याकाशः, यल्लोहितं श्लेष्मारेतस्ता आपः, यत् शरीरं काठिन्यात् सा पृथिवी। यः प्राणः स वायुः, देहान्तः प्राणः—सर्व क्रिया हेतुः । किञ्च, याश्च ताः सर्वज्ञानहेतुभूताः चक्षुः श्रोत्रं मनो वागित्येताः प्राणापानयोर्निविष्टा"""तदनुवृत्तयः,,—ऐ० भा० २ । ३ । इस प्रकार श्रुति और शंकरने,—करणांश वा कार्यांश दोनों के द्वारा ही प्राणीका शरीर वा इन्द्रियां गठित होती हैं, यह समझा दिया है ।

+ In orgnisms, the advance towards a more integrated...distribution of the retained motion which accompanies the advance

का शङ्करने "तुल्यप्रसव" शब्दसे निर्देश किया है *। इस भांति प्राणिराज्य में 'कार्यांश' देहरूपसे एवं 'करणांश' इन्द्रियादि शक्ति रूपसे प्रकट होता है †। इसीका नाम श्रुति में आध्यात्मिक सृष्टि है। हमने प्रथम खण्डमें इन सब बातों को विस्तार से लिखा है, इस कारण यहां पर उनकी संक्षेप से ही सूचना दी गई है। अन्य प्राणियोंमें

ग, आध्यात्मिक सृष्टि।

भी सब से प्रथम यह प्राणशक्ति ही अभिव्यक्त होती है एवं एक ही प्रणाली से उनके भी देह व इन्द्रियादि रूपसे परिणत होती है। तब उन प्राणियों में इन्द्रिय आदिका विकास एवं शरीर का संगठन वैसा उन्नत नहीं होता। केवल मनुष्य जगत् में ही इन्द्रियादिका अधिकतर प्रकाश होता है। उक्त रीति से आप समझ सकते हैं कि, श्रुति एवं शङ्कर के मतमें—सबसे प्रथम प्राणशक्ति की अभिव्यक्ति हुई, एवं यह प्राणशक्ति करणाकार तथा कार्याकार से क्रिया करती रहती है। सर्वत्र यही एक नियम है।

करणांश ही तेज आलोकादि रूपसे एवं संग में कार्यांश भी जलीय व पार्थिव आकार में परिणत होता है। यही सुनिश्चित सिद्धान्त है। प्राणि वर्ग में भी गर्भ के भ्रूण में पहले प्राणशक्ति की अभिव्यक्ति होती है। इसी का करणांश इन्द्रियादि शक्तिरूप से एवं कार्यांश देह व देहावयव रूपसे परिणत होता है। इसी प्रकार स्पन्दन स्थूल आकार धारण कर क्रिया करता है ‡। यह तत्त्व विज्ञान के नितान्त अनुकूल है, सो पाठक देख ही

---

towards a more integrated...distribution of the component matter is mainly what we understand as the development of function"-Herbert Spencer.

पाठक शङ्कर सिद्धान्तके साथ हर्वर्ट स्पेन्सरका सिद्धान्त मूलमें क्या अभिन्न नहीं ?

* "प्राणः......शरीरेण......सयोनि...तुल्य-प्रसव......नित्यसहभूतत्वात्"—ऐ० आ० २।३। (तुल्यप्रसव=एकत्र अभिव्यक्त होते व क्रिया करते हैं)

† करणांश—Motion कार्यांश—देह और उसके अवयव। "कार्यलक्षणाः शरीराकारेण परिणताः, करणलक्षणाःनि इन्द्रियाणि„ प्र० उ० आ० गिरि।

‡ पाश्चात्य पण्डित भी धीरे धीरे अब इसी सिद्धान्त की ओर झुकते जाते हैं।

Psychology tents more and more to consider will as the primary and the constitutive function and intelligence (इन्द्रिय मन प्रभृति)

चुके हैं। किन्तु हमारे वाचकवृन्द यह बात कभी न भूलें कि, प्राणशक्ति किसी भी अवस्था में चैतन्य वर्जित नहीं रहती।*

हिरण्यगर्भ क्यों क्रियात्मक कहा गया, सो आलोचित हो चुका अब संक्षेप से इस बातकी आलोचना की जायगी कि, हिरण्यगर्भ ज्ञानात्मक क्यों माना गया।

ज्ञानात्मक कहनेका तात्पर्य।

हम बतला चुके हैं कि, हिरण्यगर्भ वा प्राणशक्ति ही, क्रमाभिव्यक्तिके नियम से, प्राणि जगत्में विशेषकर मनुष्य वर्गमें, बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि रूपों से अभिव्यक्त हुई है। ये इन्द्रिय आदिक ही ज्ञानके अभिव्यञ्जक हैं। देह में इन्द्रियादिका विकास विना हुए ज्ञान की विशेष अभिव्यक्ति नहीं होती †। उद्भिज्ज एवं निम्न श्रेणीके प्राणियों

---

as a secondary evolution. Gradually as some organ and nervous system come into existence and as their inner side we assume sensation and perception—Paulson.

शङ्कर का भी ठीक यही सिद्धान्त है—"अन्येदेहाकारे परिणते प्राणस्ति ष्ठति, तदनुसारिणश्च वागादयःस्थितिभाजः" बृ० भाष्य। मुख्यप्राणस्य वृत्ति भेदात् यथास्थानं अदयादिगोलक—स्थाने सन्निधापयति इतरान् चक्षुरादीन्" प्रश्नोपनिषद्, ३। कार्यांश (Matter) देहाकार से परिणत होता रहता है, साथ में करणांश (Mation) चक्षु आदि इन्द्रियशक्ति रूपसे दर्शन देता है। "जठराग्नि—पाकजन्यान्नरसबलेन दर्शनादीनाम्प्रवृत्तिः प्रश्न ३।

* सर्वदा चैतन्यउपस्थित है, यह जानकर शङ्कर कहते हैं—"देहे प्राण प्रवेशादेव आत्मा प्रविष्ट इव पश्यन् शृण्वन् इत्यादि"—ऐ० आ० भाष्य, २।३। "प्राणेन केवलवाक्संयुक्तमात्रेण........वदनक्रियांनानुभवति...... यदातुस्वतन्त्रेणात्मस्थेन प्राणेन प्रेर्यमाणावाक्......वदनक्रियामनुभवति—२। ३। चैतन्य ही प्राण का प्राण है।

† अस्मिन् (देहे) हि करणानि अधिष्ठितानि प्रलब्धात्मकानि 'उपपलब्धिद्वारं, भवन्ति..............उपसंहृतेषु करणेषु विज्ञानमयो नोपलभ्यते, शरीरदेशेव्यूढेषुतु करणेषु विज्ञानमय उपलभ्यते,, शङ्कर बृ० भा० ४।२।१—४।

Every human being interse the world as a blind will without intellect. Soon intelligence unfolds itself beginring with the exerise of the senses.—Paulson.

में इन्द्रियादिका विशेष विकास न होने से, ज्ञानकी भी वैसी अभिव्यक्ति नहीं होती। केवल मनुष्य वर्गमें ही इन्द्रियादिका समधिक विकास और मन बुद्धि आदिका उन्नत प्रकाश हुआ है। इस लिये ही मनुष्योंमें उनके द्वारा साथ ही साथ ज्ञानका भी विशेष विकास प्रतीत होता है। यह बात शङ्कर ने ऐतरेयारण्यकके भाष्य में लिख दी है *। हिरण्यगर्भ वा स्पन्दन ही तो मनुष्यके देह व इन्द्रिय आदि रूपसे अभिव्यक्त हुआ है। सुतरां मनुष्य जगत् में इन्द्रियादिके योगसे ज्ञानके इस विशेष विकासको लक्ष्य करके ही हिरण्यगर्भ का ज्ञानकी अभिव्यक्तिके बीजरूपसे निर्देश किया जाता है। हिरण्यगर्भ (स्पन्दन) यदि मनुष्यके शरीर व बुद्धि—इन्द्रियादि रूपसे परिणत न होता, तो चेतन की (ज्ञानकी) विशेष अभिव्यक्ति भी प्रतीत न हो सकती। इसी लिये भाष्यकार ने हिरण्यगर्भको "बोधात्मक„ वा "ज्ञानात्मक„ कहा है। आनन्दगिरि ने भी कहा है—यद्यपि हिरण्यगर्भ क्रियाशक्ति रूपसे ही प्रसिद्ध है, तथापि मनुष्य वर्ग में अभिव्यक्त बुद्धि के सहित अभेद रूपसे ही वह 'समष्टि बुद्धि वा ज्ञानात्मक, कहा जाता है †। सम्प्रति पश्चिम के दार्शनिक भी धीरे धीरे इसी

---

* "यस्मादस्थावरत्वादारभ्य 'उपर्युपरितया, अन्नत्वं प्रस्तुतं तत्पुरुषावसानमेवोक्तम् „। ········प्रविश्याविरभवदात्मप्रकाशनाय। तत्रस्थावराद्यारभ्य उपर्युपरि आविस्तरत्वमात्मनः। ··········ओषधिवनस्पतिषु रसो दृश्यते यत्र च रसस्तत्र चित्तमनुमीयते। यत्र चित्तं यावन्मात्रं तत्र तावदाविरात्मा··········अन्तःसंज्ञत्वेन। चित्तं प्राणभृत्सु अधिकमाविस्तरहेतु, तस्मात् प्राणभृत्सु त्वेवाविस्तरामात्मा। प्राणभृत्स्वपि पुरुषे (मनुष्ये) त्वेव आविस्तरामात्मा। यस्मात प्रकृष्टं ज्ञानं········प्राणभृतां सम्पन्नतमः„ इत्यादि २।३।

इस स्थलसे जाना जाता है कि शङ्कर "क्रम विकाशवाद को जानते मानते थे। लोग बिना देखे बिना समझे ही मान बैठते हैं कि श्रुति में क्रमोच्च विकाश नहीं है।

† हिरण्यगर्भस्य क्रियाशक्त्युपाधौ लिङ्गात्मतया प्रसिद्धत्वात् ' तस्य च मनसा सह अभेदावगमात„ इत्यादि। श्री विज्ञानभिक्षु ने भी अपने वेदान्त भाष्य में लिखा है।

सिद्धान्त की ओर आरहे हैं। जर्मन देशके सुप्रसिद्ध दार्शनिक महामति पण्डित Paulsen ने अपने सुप्रसिद्ध Introduction to philosopuly नामक ग्रन्थ में जो कुछ निर्देश किया है, सो सब शङ्कर सिद्धान्त के ही अनुरूप है। हम यहां पर उस ग्रन्थसे एक स्थल उद्धृत करते हैं।

Will (प्राण शक्ति) is that which appears in all physical processes in the vital processes of animals and plant as well as in the movements of inorganic bodies...will in the broadest aceeptation of the term, embracing under it blind impulse & striving devoid of ideas. Gradually in the prorressive series of aminal life intelligance (बुद्धि) in grafted upon the will......The will appears here as a saturated with intelligance; a rational will has been evolved from animal impulses.

हिरण्यगर्भ को "ज्ञानात्मक„ कहने का एक और भी कारण लिखा जा सकता है। पाठकों ने देखा है कि शङ्कराचार्य का सिद्धान्त यह हैं कि अव्यक्त शक्ति, ब्रह्मसत्तासे स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है। अब इस अव्यक्त शक्ति का कोई भी परिणाम क्यों न हो, वह परिणाम वास्तवमें ब्रह्मसत्तासे एकान्त स्वतन्त्र नहीं हो सकता। अतएव अव्यक्त शक्ति की पहली सूक्ष्म अभिव्यक्ति वा स्पन्दन भी ब्रह्मसत्ता से 'स्वतन्त्र, नहीं हो सकता। इस कारण भी शङ्करने हिरण्यगर्भको 'बोधात्मक' वा ज्ञानात्मक कहा है। अर्थात् अभिव्यक्ति कालसे ही, प्राणशक्तिके साथ साथ चेतन (ज्ञान) वर्तमान है, यही बात समझा देना शङ्करका उद्देश्यहै। हम समझते हैं कि सांख्यकारने भी इस बातको अपनी भाषा में प्रकारान्तर से कह दिया है। सांख्य मत में महत्तत्व

सांख्य और वेदान्त में एकही प्रणाली अवलम्बित हुई है

तीन अंशोंमें विभक्त है। सात्विक, राजसिक एवं तामसिक।. शङ्करने जिसको क्रिया का 'करणांश, माना है वही सांख्य मत में 'राजसिक, है एवं शङ्कर ने जिसको कार्यांश, कहा है, सांख्यमतमें वही 'तामसिक, है। और शङ्कर ने जिस उद्देश्य से 'ज्ञानात्मक, कहा है उसी

स महान् क्रियाशक्त्या प्राणः, निश्चयशक्त्या च बुद्धिः तयोर्मध्ये प्रथमं प्राणवृत्तिरुत्पद्यते। कठ भाष्यमें आनन्दगिरिने भी कहा है, "अधिकारि पुरुषाभिप्रायेण 'बोधात्मकत्व, मुक्तम्„।

उद्देश्य से सांख्य में सात्विक , है । क्योंकि सत्व ही सब प्रकार के ज्ञानका अभिव्यञ्जक है * ।

अव्यक्त शक्तिकी सूक्ष्म व स्थूल अभिव्यक्ति की प्रणाली वर्णित व व्याख्यात हो चुकी । श्रुति एवं श्रुतिके व्याख्याकर्ता भगवान् शङ्करने इसी प्रकार जगत् का 'सृष्टितत्व' समझाया है । श्रुतिप्रोक्त यह सृष्टितत्व ही वेदान्त एवं सांख्य दर्शन में परिगृहीत हुआ है । इस समय हम एक और विषय की विवेचना करके सृष्टितत्वकी बात समाप्त करेंगे ।

१४—यह जो सृष्टितत्व व्याख्यात हुआ, इसका मूल कहां है? पृथिवीमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है । इस ऋग्वेद में क्या सृष्टितत्व की कोई बात नहीं है? हिन्दू जाति का विश्वास है कि, जिस तत्वका मूल सूत्र ऋग्वेद में नहीं, वह अन्यत्र कहीं नहीं एवं जो ऋग्वेद में संक्षेपसे कथित है, वही उपनिषदों व पीछेके दर्शन ग्रन्थोंमें शाखापल्लव द्वारा विस्तारित हुआ है । हम इस महाप्राचीन ऋग्वेदमें सृष्टितत्त्वके मूल सूत्रका अनुसन्धान करना चाहते हैं । नहीं तो यह सृष्टि तत्व की बात अधूरी रह जायगी ।

इस सृष्टितत्व का मूल सूत्र ऋग्वेद में है ।

ऋग्वेदके दशममण्डल में "नासदीय सूक्त„ नामक एक सूक्त मिलता है। इस सूक्तमें अतिगम्भीर भाषामें इस महागम्भीर सृष्टि रहस्यका जो संक्षिप्त विवरण है, उसकी आलोचना से विदित होगा कि, इस सूक्त के भीतर ही बड़ी सुन्दरता के साथ विस्मय कर प्रणाली में जगद्विकाश का सम्पूर्ण सत्य ज्ञान निहित है । यह सूक्त केवल अपनी अति मीठी कविता ही के कारण प्रसिद्ध हो, सो बात नहीं, कठिनसे कठिन वैज्ञानिक तत्त्व भी ऐसी मधुर कविता द्वारा ग्रथित व प्रकाशित हो सकता है, इस बातका भी यह सूक्त सुन्दर निदर्शन है । हम यहां पर कुछ मन्त्रोंको उद्धृत करते हैं ।

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजोनोव्योमापरोयत् ।
किमावरीवः कुहकस्यशर्मन् ! अम्भः किमासीद्गहनंगभीरम् ॥१॥
नमृत्युरासीदमृतंनतर्हि, नरात्र्याअन्हआसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातंस्वधयातदेकं, तस्माद्धान्यंनपरं किञ्चनास ॥२॥

---

* सत्वं लघु 'प्रकाशक' मिष्टम् सांख्यकारिका । आनन्दगिरिने भी गीतामें सत्वको ज्ञानका अभिव्यञ्जक माना है ॥

तमआसीत्तमसागूढ़मग्रे, अप्रकेतंसलिलंसर्वमाइदम् ।
तुच्छ्येनाभ्यपिहितंयदासीत्, तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि' मनसोरेतःप्रथमंयदासीत् ।
सतोवन्धुमसतिनिरविन्दन्, हृदिप्रतीष्याकवयोमनीषा ॥४॥
तिरश्चीनोविततोरश्मिरेषामधःस्विदासी३दुपरिस्विदासी३त् ।
रेतोधाआसन्महिमानआसन् स्वधाअवस्तात्प्रयतिःपरस्तात् ॥५॥

* * * * *

इस विश्वविख्यात सूक्तके प्रारम्भ ही में सृष्टि के पहलेकी एक गम्भीर अवस्था का वर्णन है। "उस कालमें असत् भी न था, सत् भी न था, जो नहीं वह तब नहीं था जो है वह भी उस समय नहीं था *। यह पृथिवी भी न थी, ऊपर आकाश भी न था। किसने इनको ढंक रक्खा था ? या ये किसके आश्रयमें थे ? दुर्गम व गम्भीर जल क्या उस समय था ? तब मृत्यु न था अमरत्व भी न था। रात्रिसे दिनका भेद करने वाला कुछ न था। गाढ़ अन्धकार पर प्रगाढ़ अन्धकार पड़ने से जैसे होता है उस समय की अवस्था वैसी ही थी। अन्धकार से अन्धकार या किसी भी चिन्ह का पता न था सब चिन्हवर्जित था,,। इस प्रकार उस महागम्भीर अवस्थाके वर्णा के पश्चात् किस भांति यह विश्व प्रकट हुआ, इस विषय का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। आगे हम उसकी आलोचना करेंगे।

आनीदवातं स्वधयातदेकं, तस्माद्धान्यं न परं किञ्चनास ॥

उस समय क्या होता था ? वह एक अद्वितीय (ब्रह्मचैतन्य) उस समय आनीत प्राणन क्रिया कर रहा था। उस समय दूसरा कोई न था। यह प्राणन क्रिया कैसी "अवातम्,, वात रहित थी। वायु और प्राण में भेद क्या है, सो आगे देख लेना चाहिये। वायु भी गतिस्वरूप स्पन्दन स्वरूपहै, प्राण भी गति स्वरूप स्पन्दन स्वरूप है †। तब दोनों का पार्थक्य कहां

इस सूक्त के ऋषि परमेष्ठी प्रजापति हैं छन्द त्रिष्टुप् है।

* नामरूपरहितत्वेन "असत्,, शब्दवाच्यं "सत्" एव अवस्थितम् परमात्मतत्वम्,, तैत्तिरीय ब्राह्मण २।१।९।१।

† वायोः प्राणस्य च परिस्पन्दात्मकत्वम्। शङ्कर।

रहा ? दोनों में भेद यह है कि, जब केवल जड़ीय स्पन्दन की ही ओर लक्ष्य किया जाता है, तब वह वायु कहा जाता है, और जब चैतन्य के अधिष्ठान युक्त स्पन्दन की ओर दृष्टि रक्खी जाती है, तब वह 'प्राण' कहा जाता है। प्राण क्रिया कहनेसे, हम उसके साथ चैतन्यकी सत्ता भी समझते हैं, किन्तु वायु की क्रिया कहनेसे, हम जड़ीय क्रियाको समझते हैं। प्राणी मात्रकी ही शारीरिक क्रियाको प्राणन क्रिया कहते हैं इतनाही नहीं, उद्भिद् वर्ग की रस परिचालनादि क्रिया को भी * हम प्राणन क्रिया कहते हैं। क्योंकि, उद्भिद् में भी चैतन्य की सत्ता व अधिष्ठान है। अतएव जिस स्थान में चेतन की सत्ता व अधिष्ठान लक्ष्य है, उस स्थान की जो क्रिया वा स्पन्दन है, वही प्राण क्रिया नाम से परिचित है। सुतरां " आनीत् अवातम् ,, इस का अर्थ यह निकलता है कि उस समय चैतन्य की परिस्पन्दात्मक क्रिया ही रही थी।

नासदीय सूक्तकी व्याख्या।

अच्छा, चैतन्यकी इस परिस्पन्दात्मक क्रियाका अर्थ या अभिप्राय क्या है? इस का उत्तर भी कई मन्त्रों के आगे देख लीजिये स्पष्ट लिखा है,—

" कामस्तदग्रे समवर्तताधि, मनसोरेतः प्रथमं यदासीत् ,, ।

सब से पहिले कामना वा इच्छा वा सङ्कल्प † का आविर्भाव हुआ। इस कामना को मनकी उत्पत्ति का बीज वा प्रथम-कारण कह सकते हैं। मनुष्य वर्ग में मन और बुद्धि कहने से जो समझा जाता है उस की या यों कहो कि मन व बुद्धि की उत्पत्ति का बीज कामना ही है। इस स्थलमें "अधि" शब्द दीख पड़ता है। इस ' अधि , शब्द का अर्थ है—सब के पहले। तभी तो, पूर्वोक्त प्राणन क्रिया के भी पहले कामना वा सङ्कल्प का आविर्भाव हुआ था,—यही बात वेद से सिद्ध होती है। इसी से अब हम समझ गये कि एक अद्वितीय ज्ञानस्वरूप परब्रह्म के ज्ञान में, सृष्टि विषयक सङ्कल्प वा कामना उदित मात्र होकर, वह प्राणन क्रिया रूप से—स्पन्दन रूप से प्रकट हो गई।

---

* यत्र रसस्तत्र चित्तमनुमीयेत यत्र चित्तं यावन्मात्रं तत्र तावदाविरात्मा……अन्तःसंज्ञत्वेन शङ्कर ऐतरेयारण्यक भाष्य २। ३।

† शङ्कराचार्य और सायणाचार्य प्रभृति ने इस कामना वा सङ्कल्प को सृष्टि विषयक आलोचना मानी है। " नाम रूपाकारेण आविर्भवेयमिति पर्यालोचनरूपम् ,, …… तै० आ० भा० २। २।

इस के पश्चात् प्रिय पाठक ! हम को एक और शब्द की ओर भी दृष्टि डालनी चाहिये। "आनीदवातं स्वधया तदेकम्" ,,—इस स्थलमें "स्वधया" पद पड़ा है। इस 'स्वधा, शब्दका अर्थ क्या है ! शङ्करस्वामीने ऐतरेयारण्यक के भाष्य में ' स्वधा , शब्दका 'अन्न' अर्थ किया है। लिखते हैं—

" प्राणःस्वधया अन्नेन गृभीतः गृहीत इत्येतत् ।
अन्नेनहिदामस्थानीयेन बद्धः प्राणः ,, ॥

अन्नरूप रज्जु द्वारा बद्ध होकर ही ' प्राण , क्रिया करने में समर्थ होता है। अतएव अब हम इस भांति तात्पर्य पाते हैं कि ज्ञानस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म–चैतन्य की सृष्टि विषयक आलोचना प्राणन–क्रिया रूप से प्रकट हुई थी, एवं यह प्राण क्रिया ' स्वधा , के साथ विकासित हो रही थी *। अब इस 'स्वधा, वा 'अन्न, शब्द का यथार्थ मर्म किस प्रकार है सो देखना होगा।

श्रुतिप्रोक्त सृष्टि–तत्व की आलोचना में हम देख आये हैं कि क्रिया मात्र के ही दो अंश हैं—एक प्राणांश, दूसरा अन्नांश अनेक स्थानों में प्राण को ' अन्नाद ' (अन्न का भक्षक) भी । कहा है। यह प्राणांशही आधुनिक विज्ञान का (motion) एवं अन्नांश (motion) है– यह भी हम देख आये हैं। हम समझते हैं, (matter) के बिना (motion) एवं (motion) के बिना (matter) ठहर नहीं सकता क्रिया भी नहीं कर सकता। इस लिये स्वधा वा अन्न ही–प्राणशक्ति का बाह्य आधार वा (motion) कहा जा सकता है। प्राण वा (motion) जब क्रिया करता रहता है तब साथही साथ अन्न वा matter भी घनीभूत हुआ करता है। श्रुति में स्थूल वायु और तेज का नाम ' अत्ता , वा प्राण एवं जल और

---

* माण्डूक्यगौड़पादकारिका–भाष्यमें गिरिजी कहते हैं–जो पहले ज्ञानाकारसे रहता है वही क्रियाके आकार में बाहर प्रकाशित होता है प्रकाशित हो जाने पर ज्ञान और क्रिया एक नहीं भिन्न प्रतीत होते हैं। किन्तु तत्वदर्शी जन ज्ञानको क्रियासे अन्य वा स्वतन्त्र नहीं समझते। "चिकीर्षित कुम्भ ' सम्वेदन , समनन्तरं कुम्भः सम्भवति। सम्भूतश्चासौ " कर्मतया स्वसम्विदं जनयतीति न उपलभ्यते"·····विद्वद् दृष्ट्यनुरोधेनैव 'अनन्यत्वात्,"··· ४ । ५४ ।

पृथिवी का नाम ' अन्न , है * । जब प्राण शक्तिका (स्पन्दन का) कर-णांश वा अत्तांश (motion)-वायु व तेज के रूप से विकीर्ण होता है, तभी उसका आधार !' कार्यांश , वा अन्नांश (matter) भी घनीभूत वा संहत होता है। इस घनीभवन की प्रथम अवस्था है जल (तरल) और द्वितीय अवस्था है पृथिवी (कठिन) † यही वैज्ञानिक नियम है। इस तत्त्व की समालोचना हम पहिले ही कर आए हैं। इस से सिद्ध हुआ कि जहां प्राण है वहीं अन्न है एवं जहां अन्न वहीं प्राण क्रिया कर रहा है इसी लिये वेद में—" स्वधया आनीत् ,, । कहा गया ।

आगे चल कर और भी खोलकर सृष्टि की बात समझाई गई है। इस प्राण क्रिया ने स्वधा के साथ किस प्रकार इस जगत् का निर्माण किया ! देखिये मन्त्र—

" रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ,, ।

स्वधा वा अन्न नीचे एवं प्रयति (भोक्ता अन्नाद, अर्थात् प्राण शक्ति) ऊपर रही । इसके फल से पञ्चभूत (महिमानः,) ‡ प्रकाशित हो पड़े एवं क्रम से 'रेतोधा' वा मन अभिव्यक्त हुआ । इस सब संक्षिप्त कथन के द्वारा वेदों ने अतिविस्मय कर भाव में शक्ति के विकाश की मूल प्रणाली बतला दी है। स्पन्दन वा प्राण शक्ति के विकास की अवस्था में अन्नाद वा कर-णांश जितना ही, वायु तेज प्रभृति के आकार से ऊपर को विकीर्ण होने लगा, साथ में उसका आधार अन्नांश भी नीचे की ओर घनीभूत वा संहत होने लगा इसी के फल से पञ्चभूत प्रकट हुए। प्राणी देह की अभिव्यक्तिके सम्बन्ध में भी यही एक प्रणाली एवं नियम है इस तत्व को भी संक्षेप से-पर बड़ी ही सुन्दरता के साथ वेदों ने बतला दिया है । "मनसो रेतः"—कह कर

---

* तत्र अव–भूम्योरन्नत्वेन, वायुज्योतिषोरत्तृत्वेन विनियोगः । ज्योतिश्च वायुश्च अन्नादं; वायुनाहि संयुक्तं ज्योतिर्दीप्यते, दीप्तं हि ज्योतिरन्नमत्तुं समर्थं भवति"–ऐ० आ० शङ्कर ।

† हर्बर्ट स्पेन्सर..............................ने अविकल इसी तत्वका आविष्कार किया है ।

‡ श्री सायणाचार्य ने महिमानः । शब्द का अर्थ पञ्चभूत किया है ।

पहले ही सूचित कर दिया था कि इसीसे आगे मन अभिव्यक्त होगा। अब विकास की प्रणाली बतलाने के समय फिर स्मरण कराते हैं—"रेतोधाआ-सन् महिमान असन्„ । रेतोधा का अर्थ मन, बुद्धि इन्द्रियादि प्राण और स्वधा ने मिल कर=जिस प्रणाली से एकत्र हो कर–पञ्चभूत, का वि-कास कराया है–उसी प्रणाली से मन और इन्द्रियादि का विकास कराया है यही बात ऋषियों ने कौशल से बतला दी है।

पाश्चात्य देशों के हर्बर्टस्पेन्सर प्रभृति वैज्ञानिक पण्डितों ने शक्ति के विकास के सम्बन्ध में जिस नियम को ढूंढ़ निकाला है; उस नियम का प्रकाश भारत में कभी हो चुका था। और इस नियम के साथ ऋषियों का निजस्व सर्वस्व ज्ञान स्वरूप चेतन ब्रह्म भी सर्वदा है। प्राण का स्पन्दन अद्वितीय ज्ञान स्वरूप ब्रह्म चेतन के ही सङ्कल्प (काम) से उद्भूत होना है यही एक ऋषियोंकी अपनी अटल बात है। और वास्तवमें यही यथार्थ रहस्यकी बात है। इस बात के बिना माने जड़ जगत् में ज्ञानके आविर्भाव की मी-मांसा नहीं बन सकती।

अद्वैतवाद एवं सृष्टि तत्त्व की आलोचना समाप्त कर, हम अपनी लेखनी को थोड़ी सी विश्रांति देते हैं। श्रुति के धर्म–मत और उपासना प्रणाली की बात मूल ग्रन्थ में लिपि बद्ध है एवं प्रथम खण्ड की अवतरणिका में उसकी विस्तृत समालोचना हो चुकी है। इस कारण यहां पर तद्विषयक विचार लिखना अनावश्यक है। ओं तत् सत्।

चैत्र शुक्ल १४ सं० १९७०
टेढ़ा उन्नाव

नन्दकिशोर शुक्ल

* श्रीहरिः *

उपनिषद्का उपदेश ।

प्रथम अध्याय ।

यम और नचिकेता का उपाख्यान

(प्रेय और श्रेय मार्ग)

पूर्व काल में गौतम नामक महर्षि ने * उन्नत स्वर्ग लोक की आशा से, विश्वजित् ' नामक यज्ञ का अनुष्ठान किया था । इस यज्ञ में महर्षि ने अपना सर्वस्व लगा दिया था । यज्ञ समाप्त होने पर जब अन्तिम दक्षिणा रूप में महर्षि कुछ गौओंका दान करने लगे, तब उनका पुत्र नचिकेता मनमें सोचने लगा कि—" पिता जी सर्वस्व दान कर यज्ञ के अन्त में अब इन अकर्मण्य बूढ़ी अति बूढ़ी गौओं का दान क्यों करते हैं? । इनमें तो तृण भक्षण करने की भी शक्ति नहीं । मैंने सुना है, जो लोग दक्षिणा में इस प्रकार का दान करते हैं, उनको परलोक में सुखकी प्राप्ति नहीं होती,, । इस प्रकार अपने मनमें विचार कर, यज्ञ के भंग हो जाने के भय से भीत होकर नचिकेता बड़ी नम्रता से पिता के निकट उपस्थित हो बोला—" पिता ! इन गौओं के साथ क्या हमको भी दान न कर दोगे ,, ? पिता ने सुनी अनसुनी करदी, कुछ भी उत्तर न मिला । तब पुत्रने फिर वही प्रश्न पूछा । इसी

---

* विश्वजित् यज्ञका अनुष्ठान क्षत्रिय सम्राट् करते थे इससे अनेक लोग इन गौतम को क्षत्रिय मानते हैं । किन्तु आगे इनका नाम ' आरुणि उद्दालक , लिखा है ' छान्दोग्य में हम अरुण पुत्र उद्दालक का नाम पाते हैं । हमारी समझ में यह वही उद्दालक हैं । इनके ही पुत्र का नाम श्वेतु केतु भी है ।

भांति तीन चार बार ऐसा ही प्रश्न करने पर पिता गौतम महर्षि बहुत अप्रसन्न होकर बोल उठे—" हां ! हमने तुमको यमके अर्थ दान कर दिया पिता के इन शब्दोंको सुन कर नचिकेता ने सोचा—" मैं तो पिता के सब पुत्रों में नितान्त निर्गुण पुत्र नहीं हूं तथापि पिता जी मेरे ऊपर क्रुद्ध क्यों हुए ? जो हो क्रोध ही के कारण हो या अन्य कारण से हो, पिता ने जो कुछ कहा है, वह निष्फल या व्यर्थ जाना उचित नहीं । पिता की वाणी झूंठी न हो पिता जी वाक्य-भ्रष्ट न हों, यही हमारा कर्तव्य है । हम मृत्यु लोक के अधीश्वर यमदेव के निकट अवश्य जावेंगे ।

ऐसा संकल्प कर नचिकेता यमके भवन में उपस्थित हुआ। परन्तु यमराज उस समय अपने घरमें न थे । इस कारण नचिकेताके साथ किसीने सम्भाषण न किया । विचारा नचिकेता यमालय के द्वार पर खड़ा हुआ, यमदेव के लौटनेकी प्रतीक्षा करने लगा । तीन दिन के पश्चात् यमने घर आकर सुना कि, अग्निसदृश तेजस्वी एक ब्राह्मणकुमार अतिथिरूप से उपस्थित है. परन्तु अभी तक उस से बात नहीं हुई । अतिथि सत्कार नहीं हुआ सुनकर सशङ्क यम शीघ्र ही नचिकेता के पास पहुंचे और बोले—"तुम मनुष्यलोक के ब्राह्मण बालक जान पड़ते हो । तुम हमारे घर में आज तीन दिन तक सत्कृत न हुए । इस से हम को पापभागी होना पड़ा। यदि गृहस्थ के घर में अतिथि सत्कार नहीं पाता, तो गृहस्थ की यज्ञादिक क्रिया व दान पुण्य आदि सब निष्फल हो जाता है,—गृही पापग्रस्त होकर, कर्त्तव्य-लङ्घन से उत्पन्न पाप के कारण स्वर्गभ्रष्ट हो जाता है । हे ब्राह्मण कुमार ! हम पर प्रसन्न हो कर अर्घ पाद्यासनादि ग्रहण करो । प्रियदर्शन ! तुम तीन दिन तक हमारे घर में दुःखी रहे, इस से हम तुम को तीन वर प्रदान करेंगे । तुम्हारी जो इच्छा हो, मांगलो, हम तुम को मुंहमांगी वस्तु देंगे,, ।

हाथ जोड़ प्रणाम करके, नचिकेता यम से बोला-"हे देव ! आप मुझ पर प्रसन्न हुए हैं, यही मेरे लिये सर्वोत्तम वर है । तथापि, आपकी आज्ञानुसार मैं आप से तीन वरों की प्रार्थना करता हूं। मेरे पिता आरुणि गौतम, मुझे प्रेतलोक में भेजकर, चिन्ताग्रस्त हो म्रियमाण होगए हैं । मेरे अतिशय निर्बन्ध या बार बार पूछने से खिन्न वा क्रुद्ध हो कर ही, उन्होंने मुझे इस लोक में आने की अनुमति दी । हे यमराज ! मैं जब इस लोक से लौट कर फिर मृत्युलोकमें जाऊं, तब पिता जी मुझे पहिचान सकें एवं वे

मुझ पर पूर्ववत् दयालु व प्रसन्न रहें। यही आप से मेरी पहली प्रार्थना है,,। यमराज ने नचिकेता को यह वर दिया॥

नचिकेता ने फिर निवेदन किया—"हे देव! मेरी अब यह प्रार्थना है कि, मैं "अग्नि—विद्या का अभिलाषी हूं। आप जिस लोक के स्वामी हैं, वह यह स्वर्गलोक है। इस लोकमें रोग शोकादि की पीड़ा नहीं होती किसी प्रकार का भय नहीं। मर्त्यलोक की भांति यहां पर जरामरणजनित कोई क्लेश नहीं है। इस दिव्यलोक के निवासी तृष्णा—पाश तोड़कर दुःख से अलग हो गये हैं। किस साधन के बल से, इस लोकका निवास मिलता है? मैंने सुना है, जो 'अग्निविज्ञान, से परिचित हैं वे ही इस लोकमें आ सकते हैं। सो कृपा कर उसी अग्निविद्या का मुझे उपदेश दीजिये',। यमदेव ने कहा "विराट् पुरुष ही अग्नि नाम से विख्यात है। इस सर्वव्यापी विराट् पुरुष की जो लोग यथाविधि उपासना करते हैं, वे ही स्वर्गलोक में स्थान पाने के अधिकारी होते हैं: यह विराट् पुरुष—अग्नि, वायु, और आदित्य रूप से स्थित है- यही जीवकी बुद्धि—गुहा में * निरन्तर स्थित है। वैदिक यज्ञोंमें जिस अग्नि में होमादि क्रिया सम्पादित की जाती है, उस अग्निकी विराट् रूप से भावना कर्त्तव्य है। किन्तु यह सकाम यज्ञ है। जो साधक स्वर्गलोकादिकी प्राप्तिके उद्देश से, बाहरी द्रव्यात्मक यज्ञमें विराट् पुरुषकी भावना करते हैं, वे भावनात्मक यज्ञ का सम्प्रदान करते हैं सही, किन्तु स्वर्गादि लोकप्राप्ति की कामना रहने से, यह उपासना, सकाम—उपासना है †। इस का फल "स्वर्गलोक की प्राप्ति है,,। यह कहकर यमने नचि-

---

* बुद्धि—गुहा का वर्णन आगे होगा।

† श्रुति में (१) केवल कर्मानुष्ठानकारी, (२) कर्म के सहित ज्ञानानुष्ठानकारी एवं (३) केवल ज्ञानानुष्ठानकारी—इन तीन प्रकार के उपासकों की उपासना निर्दिष्ट हुई है। जो लोग पूर्णरीति से संसारमग्न हैं, केवल प्रवृत्ति के ही दासानुदास हैं, जो परलोक और ईश्वर के अस्तित्व का कुछ भी समाचार नहीं जानते, ऐसे व्यक्ति अधोगति को प्राप्त होते हैं। इन में जो लोग वापी कूपादि खनन व परोपकारार्थ दानादि द्वारा शुभ कर्म का कुछ कुछ आचरण करते हैं,—ये लोग पूर्वापेक्षा कुछ उन्नत हैं। और जो इन से भी अधिक उन्नतचित्त हैं, वे अपने सांसारिक लाभ के उद्देश

केता को उस 'अग्निविद्या, का तत्व बतला दिया। जितने इष्टकखंडों (ईंटों) के द्वारा गिनती कर, * एवं पिता माता और आचार्य का जिस प्रकार उपदेश लेकर इस अग्निविद्या की उपासना पद्धति निर्दिष्ट हुई है सो सब विधि यमराज ने नचिकेता को बतलादी । यम ने यह भी बतला दिया कि, यह अग्नि विद्या नचिकेता के नाम से ही प्रसिद्ध होगी । इस के पश्चात् यम ने तीसरा वर मांगनेके लिये नचिकेता से कहा ।

नचिकेता बड़े विनीत भावसे यमके निकट बोला हे "देवश्रेष्ठ,, ! हे धर्मराज ! मैं आत्मज्ञान का प्रार्थी हूं। मेरे मृत्युलोक में आत्मा के सम्बन्ध में

वा परलोक के स्वर्गादि सुख लाभ की प्रत्याशा से देवता पूजन वा याग यज्ञादि क्रियाओं में अनुरक्त रहते हैं । इनका नाम केवल कर्मी है । क्योंकि, अब भी इनको ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान नहीं हुआ अभी इनको भली भांति देवताओंके साथ ब्रह्म की अभिन्नता का ज्ञान नहीं हुआ । किन्तु जो अधिक शुद्धचित्त हैं, वे अग्नि आदिक देवताओं एवं यज्ञ की सामग्री व यज्ञादि में ब्रह्म की ही शक्ति महिमा का आरोप कर लेते हैं, ये कर्मके साथ ज्ञान का समुच्चय करते हैं। इस प्रकार इनके चित्तमें क्रमसे ब्रह्मज्ञान बढ़ता है। धीरे धीरे सब पदार्थों सब क्रियाओं में या सर्वत्र ये ब्रह्म के ही ऐश्वर्य की भावना करते हैं। ये ही फिर द्रव्यात्मक बाहरी यज्ञों को छोड़ भीतर भावनात्मक यज्ञका अनुष्ठान करते हैं। ये बाहर व भीतर सब पदार्थों में ब्रह्मज्ञान से सब क्रियाओं में अन्तर्याग वा भावनात्मक यज्ञ करते हैं। ये भी कर्म व ज्ञानके समुच्चयकारी साधक हैं। इन्हींको लक्ष्यकर यहां अग्नि विद्या वा विराट् की उपासना कही गई है। सर्वापेक्षा ऊंचे साधक वे हैं, जो केवल ध्यान योग व विचार द्वारा ज्ञानका अभ्यास करते हैं, अर्थात् जो लोग सर्वत्र साक्षी रूपसे स्थित निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपकी भावना करते हैं। वे ही केवल ज्ञानी हैं। क्रमसे इनको पूर्ण अद्वैत ज्ञानका लाभ हो जाता है। इस सम्बन्धकी अन्यान्य ज्ञातव्य बातें प्रथम खण्डमें लिखी हैं।

* द्रव्यात्मक यज्ञमें पहले ईंटें रखकर, कितनेवार यज्ञ सम्पादित हुआ, उस की गिनती रक्खी जाती थी। भावनात्मक यज्ञ में इस की आवश्यकता नहीं। दिवा और रात्रि भेदसे एक वर्षमें ७२० वार भावनात्मक यज्ञ सम्पादित होता है अतएव इस यज्ञ की संख्या ७२० निर्दिष्ट हुई है।

नाना प्रकार के मतवाद प्रचलित हैं। कुछ सज्जन कहते हैं, आत्मा—देह और इन्द्रियादि जड़ समूह से सर्वथा स्वतन्त्र है। मृत्यु में भी इस आत्मा का ध्वंस नहीं होता और अनेक लोग आत्मा के अस्तित्व में सन्देह करते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान—इन दोनों प्रमाणों से तो 'आत्मा का निर्णय हो नहीं सकता। क्योंकि परलोक की बात प्रत्यक्ष के अगोचर है, सुतरां वह अनुमान के भी बाहर है। हे यमराज! यदि भाग्य से आप जैसे देवता की शरण में आ पड़ा हूं' तो कृपया आप आत्मा का स्वरूप किस प्रकार है इस तत्त्व का व्याख्यान कर मुझे कृतार्थ करें। यही मैं आप से तीसरा वर मांगता हूं। यदि मुझ पर आपका स्नेह है तो मुझे यह वर दीजिये।

नचिकेता की बातें सुनकर यम विस्मित चित्त हो कहने लगे—प्यारे नचिकेता! तुम जिस विषय को जानना चाहते हो, वह बड़ा दुरूह और सूक्ष्म विषय है। देवगण भी इस विषय में सम्यक् ज्ञान लाभ नहीं कर सकते। तुम इस विषय को छोड़कर दूसरे वर की प्रार्थना करो,,। इन यम वाक्यों से नचिकेता बहुत क्षुब्ध हुआ। उस के नेत्रों में अश्रुजल भर आया। हाथ जोड़कर फिर बोला—'धर्मराज! आप दयालु नामसे प्रसिद्ध हैं। आप प्रसन्न होकर मुझ पर दया करें। आप के समान उपदेष्टा मुझे कहीं न मिलेगा। यह आत्मज्ञान ही एकमात्र पुरुषार्थ साधक है। यही कल्याण कर्त्ता है। मैं आप से इस आत्मज्ञान का उपदेश पाये बिना मान नहीं सकता। यह प्रार्थना आपको अवश्य ही पूर्ण करने पड़ेगी,,।

ऐसी आग्रहपूर्ण प्रार्थना सुनकर यमराज मन ही मन नचिकेता की प्रशंसा करने लगे। फिर उस की योग्यता की परीक्षा के लिये बोले। "हे सौम्य! हम तुम्हारी इस प्रार्थना को पूर्ण नहीं कर सकते। तुम किसी दूसरे वर की प्रार्थना करो। इस से भिन्न तुम जो चाहो, सो हम से लेलो। जो चाहो सो मांगलो। नचिकेता! हम तुम को विस्तीर्ण साम्राज्य का सम्राट् बना देते हैं। सैकड़ों हाथी और घोड़े तुम्हारे द्वार पर सर्वदा बंधे रहेंगे, ऐसी व्यवस्था हम किये देते हैं। धन—रत्न, मणि माणिक्य, जिस वस्तु की अभिलाषा हो, मांगलो। हम सब कुछ तुमको देंगे। हम इस बात का भी प्रबन्ध करदेंगे कि तुम बहुत काल तक चिरायु रहकर सब श्रीसमृद्धिका भोग कर सको। यह सब पाकर सन्तुष्ट हो जाओ। पुत्र पौत्रादिके क्रमसे संसार सुखका भोग करो। और स्वर्गलोक की भी सब सुख सम्पदा ले सुखी रहो।

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व वहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनंवृणीष्व स्वयंचजीवशरदोयावदिच्छसि ॥

नचिकेता ! अपने सामने ये देखो किङ्किणी नाद युक्त अश्वविभूषित रथ खड़े हैं। तुमको देने के लिये ही ये मंगाये गये हैं। इधर ये सुन्दर पुरुष तूर्य ध्वनि कर रहे हैं। हमारी आज्ञा पाकर अभी ये सब तुम्हारी सेवा में लग जावेंगे। यह जो कङ्कण निनाद और नूपुर सिञ्जन सुन पड़ता है, सो रमणियों के भूषणों की मधुर मनोहर ध्वनि है। ये सब मन्द मन्द मुसकाने वाली सुन्दरी युवती कामिनी स्त्रियां आप की आज्ञा चाहती हैं। मनुष्यलोक में ऐसी चन्द्रानना नारियां दुर्लभ हैं। तुम इन सब धन रत्न वस्त्र भूषण यान वाहन अश्व हाथी दास दासी और मृगाक्षी स्त्रियों को लेकर अपने घर जाओ एवं परम सुख भोग करो। आत्मा की बात न पूछो।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके, सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व ॥
इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥

यह कहकर यम के रुकने पर, अक्षुब्ध महाह्रदकी भांति दृढ़ता के साथ नचिकेता फिर निवेदन करने लगा,—हे धर्मराज ! मेरे साथ आप यह क्या कर रहे हैं ? यह सब धन–सम्पत्ति विषय–विभव लेकर मैं क्या करूंगा ? मैं यह धन वन कुछ नहीं चाहता । धन, रथ, पशु, स्त्री यह सब झगड़ा यहीं रखिये। इनसे मेरा प्रयोजन कदापि न सिद्ध होगा। धन के द्वारा क्या कभी किसी का मनोरथ पूरा हुआ है ? एक कामना पूर्ण हुई नहीं कि दूसरी शिर पर खड़ी है। धर्मराज ! भोगसे भी क्या कभी तृप्ति होती है ? और देखिये, भोग की सामग्री बड़ी चंचल है, आज है कल नहीं। उधर इन्द्रियोंकी शक्ति भी कितने दिनकी ? भोग करते करते शीघ्र ही इन्द्रियां शिथिल पड़ गईं अब न शक्ति है न सामर्थ्य, न सुख है न भोग। कामिनी काञ्चन आदि क्षणिक विनाशी असार पदार्थोंमें सुख कहां ? महाराज ! शरीर इन्द्रिय आदि हाड़ मांसके संयोगमें आनन्द कैसा ? फिर आयु कितने दिन ? एक दिन तो अवश्य ही शरीरके साथ सब भोग की सामग्री भी छोड़नी पड़ेगी ? आज इसे लेकर मैं क्या करूं। भगवन् ! आप प्रसन्न होकर मेरा प्रार्थित वर प्रदान करें। मेरा चित्त भोग लालसा में आकृष्ट नहीं। ऐसा

मूर्ख कौन है जो जन्मजरा मरण शील निकृष्ट मृत्युभूमिका निवासी होकर सौभाग्यसे अजर, अमर देवता का दर्शन पाकर, उससे केवल भोग विलासकी प्रार्थना करे ? नहीं प्रभो ! मैं आपसे महापुरुष के निकट इस प्रकार चञ्चल भोग वस्तु मात्र को लेकर लौटने वाला नहीं। मुझे आत्मतत्त्व का उपदेश दीजिये। आप जैसा उपदेशक फिर मुझे नहीं मिलनेका। कृपा कर उसी गूढ़, सूक्ष्म, आत्मतत्व की शिक्षा देकर मुझे कृतार्थ कीजिये।

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्योयत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ॥

योऽयंवरोगूढ़मनुप्रविष्टो नान्यंतस्मान्नचिकेतावृणीते २८ प्रथमा वल्ली ॥

यम,–बालक की ऐसी दृढ़ता देखकर अत्यन्त विस्मित भी हुए, मनमें बड़े आनन्दका भी अनुभव करने लगे। विषय विरोधी ऐसा विरागी बालक उन्होंने पहले कहीं देखा ही न था। प्रसन्न होकर यमदेव नचिकेता से कहने लगे—

“नचिकेता ! सब पुरुषोंके सन्मुख दो मार्ग खुले हुए हैं। एकका नाम है प्रेय मार्ग दूसरा श्रेय मार्ग कहलाता है। जो लोग संसारमें सुखकी लालसा करते हैं, वे प्रेयमार्गका अवलम्बन करते हैं। और जो मुक्ति चाहते हैं, वे श्रेयमार्गके पथिक होते हैं। इन दो मार्गोंके दो भिन्न फल हैं। यह प्रेय एवं श्रेय–यह अविद्या एवं विद्या परस्पर विरुद्ध धर्मी हैं। एक ही पुरुष एक ही समय में, दोनों मार्गोंका ग्रहण नहीं कर सकता। जो अदूरदर्शी विमूढ़ चित्त हैं वे ही इस प्रेय पथके पथिक बनते हैं, और जो अपने यथार्थ कल्याण की इच्छा करते हैं, वे विवेकी सज्जन श्रेयो मार्ग में ही चलते हैं। प्रत्येक मनुष्यके निकट, उक्त दोनों पथ फैले हुए हैं। हंस जैसे दुग्ध मिश्रित जलसे, जल परित्याग कर केवल दुग्ध निकाल लेता है, वैसे ही धीर, विवेचक व्यक्ति भी उत्तम अधम का विचार करके केवल श्रेयोमार्गको पकड़ लेता है। प्रेय मार्ग को त्याग देता है। जो मन्दबुद्धि मूर्ख हैं, वे हित अहित की विवेचना में असमर्थ होकर, शीघ्र सुखकारी एवं पुत्र धनादि लाभदाता प्रेयमार्ग में ही पड़े रहते हैं।

हम तुम्हारी परीक्षा करनेके उद्देश्यसे, तुम्हारे गलेमें यह वित्तमयी माला पहनाए देते थे नाना प्रकारके इन्द्रिय तृप्तिकारी भोग्य पदार्थों के

लालच में तुम को फंसाते थे। किन्तु तुमने इस मोहमयी मालाको दूरसे ही नमस्कार कर दिया ! तुमने धन जन कान्ता काञ्चनका तुरंत तिरस्कार कर दिया ?. इसमें तुम्हारी बुद्धिमत्ताका पूरा परिचय मिल गया है। प्रेय मार्गका फल संसार और श्रेयोमार्गका फल मुक्ति है। तुमने मुक्ति मार्गकीही इच्छाकी इससे ज्ञात हुआ कि, तुम्हारा चित्त ब्रह्म विज्ञानके उपयुक्त है।

एक अन्धा, दूसरे एक अन्धे को यदि मार्ग बतलाता या दिखलाता है, तो जैसे दोनों ही पथभ्रान्त हो पड़ते हैं एवं कुमार्गमें जा गिरते हैं, इसी प्रकार जो संसारी मूर्ख मनुष्य केवल पुत्र पशु, वित्त विभव आदिकी प्राप्ति की आशामें निरन्तर घूमते फिरते हैं, वे सब सैकड़ों तृष्णापाशोंमें फंसकर, घनीभूत अविद्यान्धकारमें निमज्जित हो जाते हैं। आत्माभिमानमें चूर्ण होकर अपने को विद्वान् व बुद्धिमान् मानते हैं। किन्तु इनके तुल्य मूर्ख व्यक्ति पृथिवी में और दूसरा नहीं। इन को परलोक की कुछ खबर ही नहीं, इसी कारण परलोक में संगति लाभार्थ किसी प्रकार के साधन का अवलम्बन भी इनको आवश्यक नहीं ज्ञात होता। इन की दृष्टि में तो केवल यही लोक है यह शरीर इन्द्रियां खाना पीना सोना विषय भोग करना–यही सर्वस्व है। धन जन विषय विभव की प्राप्ति ही इन के लिये एक मात्र परम लाभ है—यही आनन्द है, यही मुक्ति है यही दुःख निवृत्ति है और यह लौकिक वैषयिक उन्नति ही सर्वांगीण समुन्नति है। (साकाष्ठा सा परागतिः) सब कुछ यही है। इस विषयरूपी विषपान में ही मत्त वेसुध पड़े रहते हैं। विचारे वार वार जन्मते जराग्रस्त होते मरते क्लेश पर क्लेश उठाते रहते हैं। हाय ! इस संसार के सहस्रों जनों में एक भी आत्मतत्व का अनुसन्धान नहीं करता ! ये बड़े अभागी हैं इन मायोदासोंकी कुसंगत से हटकर आत्मतत्व की खोज लगाने वाले भाग्यवान् विरले ही हैं। बहुत कम लोग आत्मा के सम्बन्ध में उपदेश सुनना चाहते वा आत्मकथा में चित्त लगाते हैं। आत्मतत्व के उपदेशक भी संसार में विरले हैं। वास्तव में इस आत्मा की धारणा करना बड़ा ही कठिन काम है। आत्मा है या नहीं आत्मा एक है कि बहुत हैं आत्मानिर्विकार है कि विकारी—इन विविध मतों के बीच से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का निश्चय कर लेना जिस तिस का काम नहीं। यह अति सूक्ष्म व दुरूह विषय है। सच्चे ज्ञानी आचार्य के उपदेश विना एवं यावज्जीवन वार बार चिन्ता व मनन किए

विना अन्य किसी प्रकार आत्मा जाना नहीं जा सकता। आत्मा सब पदार्थों में अनुप्रविष्ट एव एक है सब भूतोंका अभ्यन्तरस्थ आत्मा एवं हमारा आत्मा एक ही वस्तु है इस प्रकार की धारणा विना आत्मा के सहज स्वरूप को बोध गम्य करने का कोई उपाय नहीं। आत्मा तर्क का विषय नहीं क्योंकि तर्क के द्वारा विषय का निर्द्धारण नहीं किया जा सकता। आत्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। केवल तर्क व युक्ति के द्वारा आत्मा के अस्तित्व व स्वरूप का निर्णय होना असम्भव है। श्रुति के बतलाये मार्ग से ही आत्मविषयक सिद्धांत निर्धारित हो सकता है। श्रुतिअनुगामिनी युक्तिके अवलम्बन से आत्मा का स्वरूप समझ में आ सकता है। नचिकेता! तुम श्रेयोमार्ग का अवलम्बन करो। तुम्हारे चित्त की चञ्चलता दूर हो गई है। तुम श्रुति का उपदेश अवश्य समझ सकोगे। तुम्हारा जैसा दृढ़चित्त विवेकी शिष्य भी संसार में दुर्लभ है।

अनित्य विषय कामना द्वारा आत्मा नहीं मिल सकता। इस बातको हम स्वयं जानते थे। किन्तु तो भी हम कामना के हाथ से एक बार ही अपना उद्धार नहीं कर सके। हमारी साधना में ऐश्वर्य प्राप्ति की कामना वर्तमान थी इसी से हम स्वर्गलोक में इस अधिकार को प्राप्त हुए हैं। सब प्रकार के ऐश्वर्य की कामना को दूर कर यदि हम केवल अद्वितीय परिपूर्ण ब्रह्म को पाने की कामना कर सकते तो हम एक बार ही मुक्त हो जाते। तुम्हारे नामसे जो अग्निविद्या प्रसिद्ध होगी स्वर्ग प्राप्ति के उद्देश्यसे हमने उसी अग्नि विद्या की उपासना की थी जिस के फल से हम इस उन्नत स्वर्गलोक में प्रेतों के स्वामी यम हुए हैं। किन्तु स्वर्गप्राप्ति ब्रह्मसाधन का निकृष्ट उद्देश्य मात्र है। तुम्हारा उद्देश्य एकमात्र ब्रह्म की प्राप्ति होना चाहिये।

हे पुत्र! ब्रह्म पदार्थ में सभी कामनाएं समाप्त हो जाती हैं। ब्रह्म से भिन्न अन्य विषय की कामना से पूर्णानन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं देखो, ब्रह्मसत्ता से अलग किसी भी पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अध्यात्म, अधिभूत एवं अधिदैव * सभी पदार्थों का ब्रह्म ही एक मात्र आश्रय है।

---

* अध्यात्म, अधिभूत एवं अधिदैव पदार्थ किसे कहते हैं, अवतरणिका में सृष्टितत्त्व देखो।

क्योंकि ब्रह्मसत्ता से अतिरिक्त किसी पदार्थ की सत्ता नहीं। संसार में जितने यज्ञों का अनुष्ठान होता है उन सब यज्ञों की गति यह ब्रह्म पदार्थ ही है *। परन्तु न जानकर लोग ब्रह्म से अलग स्वतन्त्र वस्तु ज्ञानसे देवताओं के उद्देश्य से यज्ञानुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं। ब्रह्म वस्तु ही अणिमादि सब प्रकार के ऐश्वर्य का आश्रय है। जगत् के सब पदार्थ ब्रह्म के ऐश्वर्य—ब्रह्म की ही विभूति मात्र हैं। ब्रह्म से स्वतन्त्र किसी भी पदार्थ की स्वाधीन सत्ता नहीं। यह ब्रह्म ही सब का वरणीय है। यही आत्मा की प्रतिष्ठानभूमि है तुम अन्य सब को परित्यागकर धीरता के साथ इस ब्रह्म वस्तु की ओर चले हो इस से हम को बड़ा ही हर्ष है। तुम्हारे सदृश स्थिर बुद्धि सारग्राही व्यक्ति हम ने दूसरा कभी भी कहीं नहीं देखा।

हे नचिकेता! आत्मवस्तु अतिशय सूक्ष्म है। इस से इसकी अनुभूतिका लाभ होना बड़ा ही कठिन है। शब्दस्पर्शरूपरसादि द्वारा यह निर्विकार आत्म-पदार्थ ढंका पड़ा है। लोग इन सब शब्दस्पर्शादि प्राकृत पदार्थों में ही अटके पड़े रहते हैं, इनके अन्तरालवर्ती आत्मा का अनुसन्धान नहीं करते। आत्मा सबकी बुद्धि-गुहा में अवस्थित—बुद्धिवृत्तिके साक्षी व प्रेरक रूप से विराजमान है। शब्दस्पर्शादि विषयों द्वारा आच्छन्न न होकर, विषयों से इन्द्रियों को हटाकर, अध्यात्मयोग † का अवलम्बन कर, इस आत्मपदार्थ की निरन्तर भावना करने से हर्ष शोक के हाथ से अपना उद्धार किया जा सकता है। आत्मा शरीरादिक सम्पूर्ण पदार्थों से स्वतन्त्र है। यह मरण धर्मशील मनुष्य, उक्त परम सूक्ष्म आत्मतत्त्व को जान कर,, सांसारिक हर्ष शोक से वचकर परमानन्द में निमग्न हो सकता है। इसी का नाम है श्रेय मार्ग। तुम्हारे आगे यह मार्ग खुल गया है। तुम अनायास इस मार्ग में चल सकते हो।

तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेनदेवं मत्वाधीरो हर्षशोकौ जहाति॥

श्रीधर्म राजके मुखारविन्द से यह तत्त्व सुनकर नचिकेता ने कहा—"हे देव! यदि मेरे ऊपर प्रसन्न होकर, मुझे ब्रह्म विद्याके योग्य आप मानते हैं,

---

* गीता में लिखा है—" तेऽपिमामेवकौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्,,"
† अध्यात्मयोग का वर्णन सप्तम परिच्छेद में है।

तो मेरी सब शङ्काओं को दूर करने की कृपा करें। मेरा प्रश्न यह है कि, जो कर्मानुष्ठान फल के अतीत है, जो भूत एवं भविष्यत् सब कालसे स्वतन्त्र है, वह सर्वातीत ब्रह्मवस्तु किस प्रकारका है? आप अवश्य ही इस तत्वको जानते हैं। आपके आशीर्वाद से मैं भी इस तत्व से परिचित होना चाहता हूं सो दया कर मेरे इस प्रश्न का उत्तर प्रदान कीजिये और आपने जिस श्रेयोमार्गकी बात कही उस मार्ग में प्रवेश करने का क्या उपाय है! सो भी बतला कर अनुग्रहीत कीजिये।

अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्रभूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ द्वि० वल्ली०
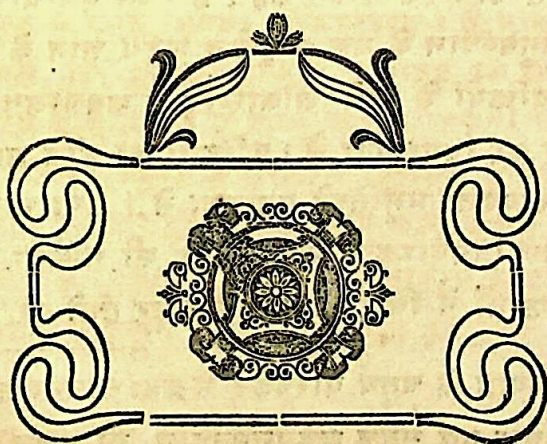
द्वितीय परिच्छेद ।

(श्रेयमार्गमें प्रवेशका साधन)

परलोक के अधीश्वर महामति यमराज, नचिकेता के चित्त की दृढ़ता देख कर एवं उसके मुख से ऐसा प्रश्न सुनकर बहुत विस्मित हुए । इस से पहले ब्रह्म विषय में इस प्रकार आग्रह करने वाला कोई भी मर्त्यलोकवासी यमकी दृष्टि में नहीं पड़ा था । विशेष कर ऐसे बालक—विमलमति बालकका तो कभी नाम भी नहीं सुना था । यमने देखा यह उद्यमी श्रीमान् बालक पूर्ण विरक्त है । इसका चित्त केवल ब्रह्म विज्ञान जानने के लिये नितान्त व्याकुल है । बालक नचिकेता की प्रबल जिज्ञासा को जान कर यमदेव त्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे—

प्यारे नचिकेता ? तुमने जिस विषय की जिज्ञासा की, उपनिषदादि ग्रन्थोंमें उस विषय का साक्षात् सम्बन्ध से उपदेश मिलता है । उपनिषदों में ब्रह्मप्राप्तिकी अनेक प्रणालियों का वर्णन है । सब से पहले ब्रह्म विद्या साधन की ही बात साधारण भावसे कहते हैं । जो एकाग्रचित्त हो, केवल मात्र विचार व अनुसन्धान के बल * पूर्ण व अद्वय ज्ञान के लाभ में समर्थ नहीं होते, वैसे व्यक्तियों के लिये ओंकारादि के अवलम्बन से ब्रह्म–दर्शन का उपाय निर्दिष्ट कर दिया गया है । इन्द्रियों का ठीक शासन, ब्रह्मचर्य-पालन एवं सत्यपरायणता प्रभृतिकी सहायता से † तथा भावनात्मक यज्ञा-नुष्ठान द्वारा ‡ पहले विषयाच्छन्न अन्तः करण की मार्जना करना कर्त्तव्य है । इन सब अनुष्ठानों से चित्त की मलिनता दूर होने पर, × चित्त ब्रह्म-

---

* द्वितीय अध्याय के चतुर्थ परिच्छेद में ब्रह्म साधना का विस्तृत विवरण लिखा है । विचार एवं सर्वत्र ब्रह्मानुसन्धान ही उत्तम साधकके पक्ष में विहित साधन है। इस का खुलासा उसी परिच्छेद में देखो ।

† द्वि० अ० के चौथे प० में ब्रह्म साधन के सहाय आदिकी बात है ।

‡ भावनात्मक यज्ञ के सम्बन्ध में प्रथम खण्डकी अवतरणिका एवं 'सम्वर्ग विद्या, देखो । द्वि० अ० के प्र० प० में भी संक्षिप्त विवरण है ।

× चित्त, शब्दस्पर्शादि के बोधसे, विषय कामना आदि से आच्छन्न है। यही चित्त का मल है ।

धारणाके योग्य हो जाता है। इन सब अनुष्ठानों का एक मात्र लक्ष्य—अद्वितीय ब्रह्मपद का लाभ है। पृथिवी में जो सब पदार्थ देखते हो, उन सबों का 'नाम' एवं रूप है। नाम अथवा रूप हीन पदार्थ जगत् में नहीं। इन रूपात्मक पदार्थों के अवलम्बन से हो, अथवा नामात्मक (शब्दात्मक) पदार्थों का अवलम्बन कर हो, ब्रह्म चिन्ता की जा सकती है। जितने प्रकार के शब्द जगत् में अभिव्यक्त हुए हैं, उन सबका मूल एक ओंकार ही है। ओंकार शब्द ही शब्दराशि का मूल है।

ओम् शब्द ही साक्षात् रूपसे ब्रह्म का वाचक है *। इस शब्द के द्वारा केवल ब्रह्म पदार्थ ही निर्दिष्ट हुआ करता है। सुतरां इस शब्द का अवलम्बन करने से, इसके द्वारा ब्रह्म पदार्थ का अनुभव लाभ सहज हो जाता है। एकाग्रचित्त हो, विषय की चिन्ता न कर, भीतर इस ओम् शब्द का उच्चारण करने से, ब्रह्मचैतन्य स्फुरित हो उठता है। अर्थात् ब्रह्मभाव जाग्रत हो पड़ता है। उस समय अन्य विषय की स्फूर्ति नहीं होती। इस शब्द के उच्चारण से जो ब्रह्मतत्व प्रकाशित होने लगता है उस तत्व की ओर मनोनिवेश करने से क्रमशः चित्त में पूर्ण ब्रह्म ज्ञान उद्भासित होने लगता है. किन्तु जो लोग इस प्रकार भी ब्रह्म चैतन्यका अनुसन्धान नहीं पाते, जिनका चित्त प्रथमोक्त साधकों के चित्त की अपेक्षा अधिकतर बहिर्मुख है, वे इस ओम् शब्द को ही ब्रह्म जान कर ध्यान करें। यह शब्द ब्रह्म का वाचक है इस कारण इस शब्द में ब्रह्म दृष्टि का अभ्यास बढ़ाने से साधक का चित्त क्रमशः अन्तर्मुख होने लगेगा। इस भाव से ब्रह्मोपासना वा ब्रह्मदृष्टि का नाम "प्रतीकोपासना है। इस के द्वारा यह फल मिलता है कि, जिसका अवलम्बन

---

* जिस शब्द के उच्चारण मात्र से जो स्फुरित हो उठता है भासित होता है,—वही उस शब्द का वाच्य है। ओम् शब्द के उच्चारण से ब्रह्म ही भासित होता है, सुतरां यह शब्द ब्रह्म का ही वाचक है। शब्द द्वारा उच्चारित होने से पदार्थ का बोध होता है। अतएव शब्द सब पदार्थों में अनुगत है। अन्य सब शब्दों का मूल ओम् शब्द है। सभी शब्द के विकृतावस्था मात्र हैं। "वागनुरक्तबुद्धिबोध्यत्वात् वाङ् मात्रं सर्वम्। वागजातञ्च सर्वमोङ्कारानुविद्धत्वात् ओंकारमात्रम् आनन्दगिरि। समाहितेन ओंकारोच्चारणे यद्विषयानुरक्तं संवेदनं (ज्ञानं) स्फुरति; तदोङ्कारमवलम्ब्य तद्वाच्यं ब्रह्मास्मीति ध्यायेत्। तत्रापि असमर्थः ओम् शब्दे एव ब्रह्मदृष्टिंकुर्यात्"—आ० गि०।

कर ब्रह्मभावना की जाती है क्रमशः उस अवलम्बन या प्रतीक की फिर प्रधानता नहीं रहती भावना के भली भांति परिपक्व होने पर, अवलम्बन चला जाता है तब केवल ध्येय पदार्थ की ही नियत अनुभूति होने लगती है *। अस्तु, अपने सामर्थ्य के अनुसार उल्लिखित दो प्रकारकी पद्धतियों में से एक पद्धति के अनुसार ब्रह्म की भावना करना साधक का मुख्य कर्तव्य है। इस द्विविध प्रणाली के भेद से, ध्येय ब्रह्म भी "पर,, और "अपर,, नामसे दो प्रकार का कहा जाता है। जो साधक ओम् शब्द में ही ब्रह्मभाव करते हैं, उनके सम्बन्ध में ब्रह्म अपरब्रह्म है। और जो अपने

---

* प्रतीकोपासना में अन्य पदार्थ का (अवलम्बन का) बोध पहले ही तिरोहित नहीं हो जाता। वेदान्तदर्शन के "ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्,, (४।१,४) सूत्र में प्रतीकोपासना की बात है। "मनो ब्रह्मेत्युपासीत,, "आदित्यो ब्रह्मेति आदेशः,, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि द्वारा प्रतीकोपासना कही गई है। सब पदार्थों में ब्रह्मानुभूति ही इसका लक्ष्य है। "ये चतुर्विंशति तत्त्वानि ब्रह्मदृष्ट्या उपासते, तेप्रतीकोपासकाः,, (विज्ञानभिक्षु वेदान्त-भाष्य)। प्रतीकोपासना में पदार्थ का स्वातन्त्र्यबोध एक बार ही तिरोहित नहीं होता। विज्ञानभिक्षु के मतमें ऐसे साधक की "कार्य—ब्रह्मलोक,, में गति होती है। यों उपासना करते करते पदार्थ का स्वातन्त्र्य बोध हट जाता है तब इसको वेदान्त में "सम्यदुपासना,, कहते हैं। यह प्रतीकोपासना से बहुत उत्कृष्ट है। "ये तु ब्रह्म 'विशेष्यं, कृत्वा तैः (चतुर्विंशतितत्त्वैः) 'विशेषणैः, उपासते, ये वा केवलब्रह्मविद्वांसः ते अप्रतीकालम्बनाः,, (विज्ञानभिक्षुः) (तब पदार्थ बोध नहीं। पदार्थों का स्वातन्त्र्य बोध नहीं तब पदार्थ 'विशेषण की भांति हो जाते हैं। अर्थात् ब्रह्मसत्ता में ही पदार्थों की सत्ता है इस ज्ञान से केवल एक ब्रह्मसत्ता ही भासती है। विज्ञानभिक्षु के मत से सम्पदुपासक एवं केवल निर्गुणोपासकों की 'कारणब्रह्मलोक में गति होती है। शङ्कर मत भी इस मत का विरोधी नहीं। निर्गुण ब्रह्मोपासक की एक अन्य गति भी वर्णित है। "इहैव प्राणाः समवनीयन्ते,, इत्यादि। ये सब कामनाओं से वर्जित होते हैं—ऐश्वर्यदर्शन की भी कोई कामना इन में नहीं ये पूरे अद्वितीय तत्त्व के ज्ञानी हैं। किसी विशेष लोक में इनकी गति नहीं होती।

अन्तर में ओम् शब्दोच्चारण से अभिव्यक्त ब्रह्म चैतन्य को ब्रह्मरूप से भावना करते हैं उनका ब्रह्म परब्रह्म है। चित्त की धारणा के सामर्थ्यानुसार ब्रह्म का यह दो प्रकार का साधन बतलाया गया है। अन्यान्य शब्दों की अपेक्षा इस ओम् शब्द के अवलम्बन से ब्रह्म की उपासना सुचारूरूपेण होती है। यह सर्वोत्तम प्रणाली है इससे ओम् शब्द ही सर्वश्रेष्ठ आलम्बन (अवलम्बन) माना जाता है। नचिकेता! ओंकार के द्वारा ब्रह्म साधन एवं ब्रह्म के स्वरूप का संक्षेप से वर्णन किया। अब तुम ने जो कार्य व कारण के अतीत ब्रह्म चैतन्य की बात पूछी है उसी विषय पर कुछ कहेंगे।

ब्रह्म वस्तु जन्म मृत्यु शून्य है; जिस के अवयव हैं उसी वस्तु का, अवयवोंके संयोग वियोग वश विकार हुआ करता है और जो विकारी होता है उस की उत्पत्ति व विनाश होता है। ब्रह्म निरवयव होनेसे सर्वप्रकारके विकार से वर्जित है। ब्रह्म सर्वदाही अलुप्त चैतन्य स्वरूप है। चैतन्य वा ज्ञान ही ब्रह्मका स्वरूप है ब्रह्म नित्य सिद्ध है ब्रह्म का उत्पादक कोई कारण नहीं है। ब्रह्म सत्ता से स्वतन्त्र रूप में भिन्नभाव में किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती *। आत्मा चैतन्य अज (जन्म रहित) नित्य वर्तमान एवं क्षय आदि विकारों से शून्य कहा जाता है। ब्रह्म नित्य है सुतरां पुरातन है किन्तु पुरातन होकर भी यह नूतन है। जो अवयवों के संयोगादि द्वारा वर्द्धित व पुष्ट होता है, उसी को लोग 'नूतन' कहते हैं। परन्तु ब्रह्मचैतन्य में वैसी वृद्धि वा पुष्टि नहीं होती। इसी लिये ब्रह्म पुरातन है। तब उस की नवीनता इस में है कि वह सर्वप्रकार विकार वर्जित है। इसी से पुरातन होकर भी नूतन है। शरीर में अस्त्र का आघात होने से जैसे देह मध्यस्थ आकाश की कोई क्षति नहीं होती वैसे ही आत्म चैतन्य की भी क्षति किसी से नहीं हो सकती † शरीर के किसी विकार द्वारा आत्मा में

---

* क्योंकि सभी पदार्थ ब्रह्मसत्ता से उत्पन्न हैं। जिस को हम पदार्थ की सत्ता मानते हैं वह ब्रह्मसत्ता मात्र ही है। कारण सत्ता से स्वतन्त्र कार्य की सत्ता नहीं। पाठक! शङ्कर की बातें लक्ष्य करें।

† गीता में भी यह भाव है। "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः,,—इत्यादि (२।२३) ठीक श्रुति के अनुरूप उक्ति है। "य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते,,।२।१९।

कोई विकार नहीं हो सकता। दोनों अत्यन्त स्वतन्त्र हैं। शरीर जड़ और आत्मा चेतन है। शरीर परिणामी व विकारी एवं आत्मा निर्विकार व अपरिणामी है। तत्वदर्शी जानते हैं कि दोनों में संसर्ग नहीं हो सकता। जो सब अज्ञानमोहाच्छन्न जीव हैं वे शरीर को आत्मा से अभिन्न मान बैठते हैं। शरीर ही आत्मा है यह बोध जिनके हृदय में बद्धमूल है उन के ही मन में होता है कि हमने आज अमुक का वध किया और उधर जो मारा गया है वह भी मानता है कि मेरा शरीर विनष्ट हो जाने से मैं भी मरा। ये दोनों अर्थात् जो समझता है कि मैं मारता हूं एवं जो समझता है कि मैं मरता हूं मोहान्ध हैं! आत्मा के यथार्थ स्वरूप का तत्त्व ये नहीं जानते। आत्मा वास्तव में आकाश की भांति विकारवर्जित है—यह बात नहीं जानते। इस संसार के हर्ष शोकादि कोई भी विकार आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकते। यह ज्ञान जिनको है उनको संसार बांध कर नहीं रख सकता। संसार पाश में तो अज्ञानी जीव ही फंसते हैं क्योंकि वे संसारातीत निर्विकार आत्मा के ठीक रूप से अभिज्ञ नहीं होते।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।

जो केवल विषय वासना में रत हैं वे कदापि आत्मतत्त्व को जानने में समर्थ नहीं होते। जो विषय के बदले सर्वदा केवल आत्मलाभ की कामना करते रहते हैं वेही इन्द्रियों व अन्तःकरण की विषय प्रवणता रूप चञ्चलता को दूरकर * शान्त समाहित चित्त से आत्मतत्व का अनुभव कर सकते हैं। दर्शन श्रवण मननादि ही आत्माके अस्तित्वके परिचायक चिन्ह हैं। दर्शन श्रवणादि विविध विज्ञानों द्वारा अखण्ड ज्ञान स्वरूप आत्मा का प्रकृत स्वरूप अनुभूत होता है। जगत् में जो कुछ सूक्ष्म पदार्थ देखते हो उस सबकी अपेक्षा आत्म पदार्थ सूक्ष्मतर है। जगत्में जितने वृहत् व महत् बड़े से बड़े पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं उन सबोंसे आत्म पदार्थ बड़ा वृहत्तम है। व महत्तम

---

* मूल में है "धातुः प्रसादात्,। भाष्यकार ने धातु शब्द का अर्थ शरीर धारणकारी इन्द्रियादि किया है। आत्मा भी हो सकता है। "धीयते निधीयते सर्वं निक्षिप्यते सुषुप्तादावस्मिन् इति ' धातु, रात्मा उच्यते आ० गिरि।

और सूक्ष्म व वृहत् यावत् पदार्थों की; सत्ता आत्म सत्ता के ऊपर ही प्रतिष्ठित है। वह सबका अधिष्ठान है। आत्मसत्ता को उठा दो फिर देखो पदार्थों की सत्ता का भी पता नहीं। तात्पर्य यह कि यह आत्म सत्ता ही (कारण सत्ता ही) छोटे व बड़े सम्पूर्ण पदार्थों के आकार से विराजमान है। यह आत्मा ही आ-ब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त प्राणियों के हृदय में प्रविष्ट हो रहा है। इसको जानकर ही मुक्तजन शोक से बच जाते हैं।

आत्मा ज्ञान स्वरूप है। आत्मा अखण्ड है। बुद्धि के विकारों वा विविध विज्ञानों के सहित अभिन्न मान लेने से ही आत्मा विविध विज्ञानमय ज्ञात होता है। जड़ की क्रियाएं प्रति मुहूर्त में नाना आकार धारण करती हैं। क्योंकि विकारी हैं। किन्तु आत्म चैतन्य अचल, स्थिर, निरन्तर एक रूप है *। इन्द्रियादिक,—जड़ एवं नियत क्रिया शील हैं। इन जड़ सम्बन्धी क्रियाओंके द्वारा, अचल आत्मा को भी क्रिया शील समझाने वाली भ्रान्त धारणा होती है। नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा, हर्ष शोकादि अनेक विज्ञानोंसे युक्त जान पड़ता है। परन्तु हम जैसे तत्त्वज्ञानी व्यक्ति ऐसे भ्रम में नहीं पड़ते। इस लिये तत्त्वदर्शियोंके निकट आत्मा सुविज्ञेय है। केवल विवेक बुद्धि विहीन व्यक्तियोंके पक्षमें ही वह दुर्ज्ञेय है। देवलोक, पितृलोक मनुष्यादि लोक,—इन सब लोकोंके निवासी जीवोंके शरीर तो नितान्त अस्थायी एवं सर्वदा परिणाम शील हैं। किन्तु आत्मा इन सभी शरीरोंमें नित्य निर्विकार भावसे स्थित है। आत्मा, महान् एवं विभु व्यापक है †। इस आत्मा का जो लोग अपनेमें अनुभव कर सकते हैं, उनको किसी प्रकारका शोक नहीं होता। आत्माका स्वरूप अत्यन्त दुर्विज्ञेय है, इस में सन्देह नहीं। तथापि उपायके अवलम्बनसे वह जाना जा सकता है, इसमें भी सन्देह नहीं। वह उपाय किस रीतिका है? केवल ग्रन्थ पढ़नेसे ही उस का ज्ञान नहीं हो सकता, ग्रन्थोंका अर्थ समझ लेनेकी धारणा शक्ति होने से भी, उसका ज्ञान नहीं हो सकता। अन्यके निकट श्रवण कर लेनेसे वह

---

* अविद्यामन्तरेण मुख्यमेव 'स्पन्दनं' ज्ञानस्य नेष्यते, निरवयवस्य अविद्यमानमेव स्पन्दनम् माण्डूक्यकारिका भाष्य. ४। ४७। ४८। आत्मचैतन्य में स्पन्दन वा विकार नहीं।

† महत्तत्व—अत्यन्त व्यापक पदार्थ है। ब्रह्म उससे भी अधिक व्यापक है।

समझमें आ जाय, ऐसा भी नहीं। किन्तु जो साधक ब्रह्मज्ञ गुरुके निकट उपदेश लेकर, उपनिषद् ग्रन्थोक्त विचार प्रणाली का अनुसन्धान कर, श्रवण मननादिका अनुशीलन करता रहता है, उसी उद्योगी दृढ़चित्त साधक पर ब्रह्म की करुणा वा कृपा होती है। ऐसा साधक जब अन्य कामनाओं को परित्याग कर केवल आत्म लाभ की ही कामनामें सर्वदा अनुरक्त रहता है, तब इसके चित्तमें स्वयं ही आत्माका स्वरूप प्रकाशित होने लगता है। इसो उपायसे आत्मा जाना जा सकता है॥

नायमात्माप्रवचनेनलभ्यो नमेधयानबहुनाश्रुतेन।
यमेवैषवृणुतेतेनलभ्यस्तस्यैष आत्माविवृणुतेतनूंस्वाम्॥

जो लोग दुराचारी अधर्मी पापी हैं, केवल प्रवृत्तिके वश डोलते हैं, जिनकी चपल इन्द्रियां केवल विषय सेवाके लिये नित्य लालायित रहती हैं, जिनका चित्त आत्माके वशमें नहीं, वे मूढ़ ब्रह्म विज्ञानके लाभमें कदापि समर्थ नहीं होते। इनके विरुद्ध जो विवेकी पुरुष संयमसे रहकर, इन्द्रियोंको बाहरी विषयोंसे छुड़ाकर अन्तर्मुखी कर लेते हैं एवं नितान्त एकाग्रचित्त होकर ब्रह्मध्यानमें लीन हो रहते हैं, अन्य किसी फलकी कभी भी अभिलाषा नहीं करते, ऐसे धीरचित्त, निस्पृह, जितेन्द्रिय, मनीषी, महात्मा जन ही पूर्वकथित उपायसे आत्माको जानकर परमानन्दके भागी होते हैं।

ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति—ये दोनों जातियां ही (प्रधानतः) पृथिवीमें धर्म रक्षा करने वाली हैं *। परमात्म चैतन्य इन दोनों बलवती जातियों का भी संहर्त्ता है। जिस प्रकार अन्य सब पदार्थ मृत्युके अधीन हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रिय भी मृत्युके अधीन हैं। परमेश्वर में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं, परमेश्वर का नियम सर्वत्र समान पराक्रम से काम करता है। इसी लिये सबको मृत्युके वशीभूत होना पड़ता है। ऐसा जो सर्वसंहारक मृत्यु है, वह मृत्यु भी इसका अन्न होता है। अर्थात् यह मृत्युका भी संहारक है। मृत्युका भी मृत्यु है। बात यह कि, जगत्की सृष्टि, स्थिति, और प्रलयका यही मूल कारण है। जगत्के सब बिकार इसी में विलीन हो जाते हैं, इससे यह मृत्युकाभी संहर्ता कहा जाता है। जगत्की

---

* प्राचीन कालमें दोनों जातियां बड़े ही उत्साहसे ब्रह्मविद्याकी आलोचना करती हुईं अपने ज्ञानबल व बाहुबलसे धर्म रक्षा करती थीं।

सृष्टि, स्थिति और प्रलयका मूल कारण, जो परमेश्वर (सगुण ब्रह्म) है, वह भी सर्वातीत, चिन्मात्र, निर्गुण ब्रह्ममें अधिष्ठित है * । यह सगुण ब्रह्म एवं उसका अधिष्ठान निर्गुण ब्रह्म इन दोनोंको जो लोग एक ही वस्तु समझते हैं वे ही तत्त्वदर्शी हैं † । सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्ममें अधिष्ठित है एवं सगुण और निर्गुण एक ही तत्त्व है यह बात अज्ञानियों की समझमें क्योंकर आ सकती है ?

कर्मकाण्डी गृहस्थ नाना प्रकार के यत्नों द्वारा जिस ब्रह्म पदार्थके उद्देश से द्रव्यात्मक व भावनात्मक ‡ दोनों भांतिके यज्ञोंका सम्पादन करते हैं, और गृहस्थों में जो अधिक उन्नत है, वे जिस सर्वव्यापी ' नचिकेताग्नि हिरण्यगर्भ—की भावना करते हैं, उस ब्रह्म वस्तुको जान कर ही सब संसारके जीव दुःखसे दूर हो सकते हैं । जो लोग इस भयंकर शोक सागर से मुक्ति लाभकी इच्छा रखते हैं, वे पूर्ण अद्वय' निरुपधिक, ब्रह्मतत्त्व की ही प्रतिक्षण चिन्ता करते हैं । ब्रह्म ही ब्रह्मज्ञों का एक मात्र आश्रय है, वही अक्षर है वही आत्मा है और वही परमात्मा है। प्रिय नचिकेता ! तुमने हमारे मुखसे अनेक वार ' जीवात्मा, व ' परमात्मा , की बात सुनी है ।

---

* सगुण व निर्गुण की यह व्याख्या हमने रत्नप्रभाके टीकाकार की व्याख्यासे ली है । इस श्रुतिका श्लोक वेदान्त भाष्यमें शङ्करने उद्धृत किया है रत्नप्रभामें श्लोक की अच्छी व्याख्या है ।

† सृष्टि के प्राक्कालमें जब ब्रह्म शक्ति जगदाकार धारण करनेको उन्मुख हुई, उसको लक्ष्य करके ही उसकी माया शक्ति संज्ञा निर्दिष्ट हुई । ब्रह्मकी इच्छा वा संकल्प वश ही शक्तिका यह उद्योग है । पूर्णज्ञान स्वरूप ब्रह्मके इस 'आगन्तुक' ज्ञान वा संकल्पको लक्ष्य कर ही, मायाके अधिष्ठाता रूप से उसीको 'सगुण ब्रह्म' वा 'ईश्वर' कहते हैं । वास्तव में माया शक्ति भी ब्रह्मसत्तासे स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं । और, सगुण ब्रह्म भी पूर्ण ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से 'स्वतन्त्र' कोई पदार्थ नहीं । इसके आगन्तुक होनेसे ही निर्गुण ब्रह्म इससे स्वतन्त्र व इसका अधिष्ठान कहा जाता है । इस विषय की लंबी समालोचना अवतरणिका में हो चुकी है । पाठक वहां देखलें ।

‡ द्रव्यात्मक व भावनात्मक यज्ञका विवरण प्रथम खण्डकी अवतरणिका में देखो ।

' जीवात्मा , किसे कहते हैं, परमात्मा किसे कहते हैं सो जानने के लिये तुम अवश्य ही उत्सुक होगे। इस कारण यहां पर संक्षेप से वही बात हम तुमको बतला देना चाहते हैं। सुनो' मनुष्योंकी बुद्धि गुहा में * प्रविष्ट हो कर आत्म चैतन्य स्थित है। बुद्धि को ही आत्म चैतन्य की विशेष अभिव्यक्ति का स्थान समझो। हृदय के मध्य में जो आकाश है, उस आकाश में ही बुद्धि अपनी क्रिया का विकाश करती है आत्म चैतन्य है-इसीसे बुद्धि क्रिया शील हो सकती है। बाहर और भीतर—सर्वत्र ही आत्म चैतन्य सब पदार्थों को परिव्याप्त कर स्थित है। आत्म चैतन्य के अधिष्ठान वश ही बुद्धि के विविध परिणाम वा क्रियायें दीख पड़ती हैं। बुद्धि जड़ व विकारी है। इस सब जड़की क्रियाके साथ आत्माके अखण्ड ज्ञान को एक व अभिन्न मान लेने से ही, आत्मा अनेक ज्ञानों से विशिष्ट व क्रियावाला जान पड़ता है, यही संसारमें 'जीवावस्था, है। जड़की क्रियाओंमें आत्मीयता स्थापित कर—अहं बोध अर्पित कर—जीव, अपनेको इन सब क्रियाओं द्वारा हर्ष शोकसे संयुक्त समझता है। यही 'जीवात्मा' नामसे विदित है। किन्तु वास्तविक पक्षमें ज्ञान और जड़ीय क्रियामें इसप्रकार अभेद ज्ञान करना असङ्गत है। ज्ञान—ज्ञानही है, वह अखण्ड चित्स्वरूप है। और क्रिया—क्रियाही है-वह

---

* बुद्धि गुहा का विवरण छान्दोग्य ८।१।१–६ एवं ८।२।१–१० में देखो। इसका श्रुति में ' दहराकाश , भी नाम है। यहीं बुद्धि वृत्तिके साक्षी व प्रेरक रूप से आत्मा की भावना की जाती है। मनुष्य देह में सबसे पहले प्राणशक्तिका विकाश होता है। वही क्रमसे इन्द्रिय स्थानोंको निर्मित करती एवं साथ साथ आप भी इन्द्रिय शक्तिरूपसे क्रिया करती रहती है। तब बुद्धिकी अभिव्यक्ति होती है। तभी शब्दस्पर्शादि विज्ञानका विकाश होता है। प्राण व बुद्धि एक वस्तु हैं (द्वितीय अध्यायका दूसरा परिच्छेद देखो)। सुषुप्ति कालमें सब विज्ञान इस प्राणशक्ति में ही विलीन हो जाते हैं जागरित कालमें वहीं से फिर व्यक्त होते हैं। इस प्राणशक्तिको ही ' हृदय—गुहा, कहते हैं। यही क्या Sub conscious region नहीं ? द्वि०अ० के द्वि० प० में ' बुद्धि—गुहा, पर टीका देखो।

विकारी है। दोनों में अत्यन्त भेद है *। नित्यज्ञान ही 'परमात्मा का स्वरूप है। जड़ीय क्रिया से ज्ञान के स्वतन्त्र होने से, वास्तव में ज्ञानस्वरूप परमात्मा, बुद्धि की किसी भी क्रिया का फलभोगी नहीं। आत्मा की उक्त दो प्रकार की अवस्थाको लक्ष्य करके ही कहा जाता है कि, प्रत्येक शरीर में "परमात्मा" और "जीवात्मा„ दोनों वास करते हैं †। जो ब्रह्मवेत्ता हैं, वे इन दोनों का तत्त्व भलीभांति समझते हैं। जो विद्वान् पञ्चाग्निविद्या" की ‡ आलोचना करते हैं, वे भी इस तत्त्व को बहुत कुछ जानते हैं। और हे नचिकेता! जो लोग तुम्हारे नाम से प्रसिद्ध "नचिकेताग्नि" की + भावना करते हैं वे भी इस तत्त्व से परिचित हैं।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

---

* इन बातों की आलोचना अवतरणिका में है। वास्तवमें आत्मा बुद्धि साक्षी रूपसे स्थित है। हम भ्रम वश बुद्धि व आत्माका संसर्ग स्थापन कर देते हैं। इनका परस्पर संसर्ग नहीं हो सकता' दोनों स्वतन्त्र हैं, ऐसा ज्ञान दृढ होने पर ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप जान पड़ता है।

† गीता में लिखा है—पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारणं गुणसङ्गोस्य सदसद्योनिजन्मसु"। एवं „उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः (१३। २१—२२) जीवात्मा—प्रकृतिस्थ पुरुष। परमात्मा—प्रकृति से स्वतन्त्र किन्तु द्रष्टा।

‡ पञ्चाग्निविद्या का विवरण द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद में लिखा गया है।

+ सर्वव्यापी हिरण्यगर्भ की जो उपासना करते हैं वे ही नचिकेता नामक अग्नि के उपासक हैं। प्रथमाध्याय का प्रथम परिच्छेद देखो।

तृतीय परिच्छेद ।

(शरीर-रथ और जीवात्मा ।)

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच ॥

यमराज कहने लगे—

" प्रिय नचिकेता ! इससे पहले हमने तुमसे जीवात्माकी बात कही है । अब इस जीवात्माके उपयुक्त एक रथकी बात तुमको सुनाते हैं । जिस रथ में चढ़ कर जीवात्मा संसारमें आता है और जिस रथ में चढ़ कर ही जीवात्मा परलोकको प्रस्थान करता है * । तुम विस्मित होते हो ! पर सत्यही जीवात्माका एक रथ है । जिसका नाम है शरीर । शरीरही जीवात्मा का रथ है । और इन्द्रियां ही इस रथके घोड़े हैं । इन्द्रिय रूप घोड़े इस रथके साथ बद्ध हैं और ये ही शरीर-रथको खींच ले जाते हैं । शरीर के मध्यमें बुद्धि ही प्रधान परिचालक है, सुतरां बुद्धिही इस रथका सारथी है । यही सारथी इन्द्रियों को चलाता है । मनको सारथी का हस्त-धृत प्रग्रह या लगाम समझना चाहिये । किस भांति जीव विषयकी अनुभूति करता है सो जानते हो ? इन्द्रियां मनके सङ्कल्प विकल्प के † अधीन हैं । और मन निश्चयात्मक बुद्धि के अधीन है । विषयों के संयोग से, विविध

---

* वेदान्तमें तीन प्रकारका ' शरीर , लिखा है । एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म और तीसरा कारण शरीर । जड़ देह स्थूल शरीर है । इन्द्रिय शक्ति, अन्तःकरण शक्ति और इनके आधार पञ्च सूक्ष्म भूतोंको लेकर सूक्ष्म शरीर है। पञ्च सूक्ष्म भूत ही स्थूल देहके आकारसे परिणत हुए हैं । प्रलय में इन्द्रियादि शक्तियोंके सहित भूत सूक्ष्म ' अव्यक्त शक्ति , रूपसे विलीन हो जाते हैं । इस अव्यक्त शक्ति, को ही कारण शरीर कहते हैं । यह अव्यक्त शक्ति ही क्रम क्रम से देह व इन्द्रियादि रूपमें अभिव्यक्त होती है । अवतरणिका में सृष्टितत्व देखो वेदान्त दर्शन १ । ४ । १-२ का भाष्य देखो ।

† ' यह नीला रूप है कि पीला-ऐसी विवेचनाका नाम है सङ्कल्प विकल्प । प्रथमखण्ड द्वितीय अध्यायका पञ्चम परिच्छेद देखो ।

ऐन्द्रियिक क्रियाओंके * उत्पन्न होने पर मन ही उनमें एक व्यक्तिगत श्रेणी विभाग † कर देता है। तत्पश्चात बुद्धि कौन किस जातिकी अनुभूति है ‡ सो स्थिर कर देती है। इस प्रकार जीवकी विषय सम्बन्धिनी अनुभूति+ उत्पन्न होती है। इन बातोंको सदा मनमें रक्खो। हम तुमसे कह चुके हैं कि, मनही बुद्धिके हाथ में प्रग्रह या लगाम है। सभी घोड़े इस लगाम से बंध कर, सारथी बुद्धिकी आज्ञानुसार विषय-मार्ग में घूमते हैं। इस प्रकार इन्द्रियां, मन और बुद्धि—ये सब विषय वर्ग को पकड़ कर जीवात्मा की सेवा में समर्पित करते हैं। और जीवात्मा विषयका भोग करता है। इस लिये विषय भोक्ता जीवात्मा को ही उक्त रथका स्वामी समझो। वास्तव में आत्मा का विषय भोग सम्भव नहीं। बुद्धि इन्द्रिय प्रभृति उपाधि के योगसे ही आत्माका भोग सिद्ध होता है ×। शब्द-स्पर्श-सुख-दुःखादि में आत्मीयता का स्थापन कर, जीवात्मा उनको अपना मान लेता है। यही आत्माका भोग कहा जाता है। आत्मीयता स्थापन किए बिना भोग सम्भव नहीं हो सकता। अतएव सुख दुःखादिका भोग, आत्माका स्वाभाविक नहीं, किन्तु आगन्तुक एवं उपाधि कृत है।

जो सारथी चतुर नहीं, जो सारथी अश्व-चालनविद्या-में निपुण नहीं—जो व्यक्ति घोड़ों को अपने वश में नहीं रख सकता, जिसमें विवेक नहीं, जो एकाग्रमना व समाहित-चित्त नहीं वह कदापि दुष्ट व दुर्दमनीय इन्द्रियों को यथार्थ मार्ग में नहीं लगा सकता। परन्तु निपुण अश्वचालक सारथी जैसे दुर्दान्त घोड़ों को भी ठीक करके गन्तव्य—स्थान को अनायास पहुंच जाता है, वैसे ही बुद्धि—विवेकशाली कृतनिश्चय व्यक्ति सावधानचित्त हो,

---

* ऐन्द्रियिक क्रिया Sensation

† व्यक्तिगत श्रेणी विभाग—Percepts

‡ किस जातिकी अनुभूति—Concepts

\+ वैषयिक अनुभूति—Complete perception

× अवतरणिका देखो। जड़-क्रिया के द्वारा ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। दोनों के बीच में कार्य-कारण सम्बन्ध (Causal relation) नहीं अखण्ड आत्म चैतन्य है इसी से जड़ीय क्रियाओंके संसर्ग में शब्दादि विज्ञान उपस्थित होता है। वस्तुतः दोनों स्वतन्त्र (Parallel) हैं।

इन्द्रियों को शासित कर—अपनी इच्छानुसार प्रवर्तित वा नियन्त्रित कर—अना यास ही अपने गन्तव्य पथ में चलकर कृतार्थ हो जाता है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इवसारथेः॥

घोड़ों का हांकना न जानने से कुमार्ग में पतित होना पड़ता है, किन्तु चलाना जानने से उन घोड़ों द्वारा ही ठीक मार्ग में जाना हो सकता है। जिसमें विवेक-बुद्धि नहीं, जो मन को वशीभूत करना नहीं जानता—मन को पकड़ना नहीं जानता जो सदा अपवित्र चिन्ताग्रस्त रहता है, वह व्यक्ति क्योंकर इन इन्द्रियों द्वारा अक्षय-पद को प्राप्त होगा ? * वह तो बार-म्बार अनर्थ भरे जन्मजरामरणग्रस्त इस संसारमें ही गिरेगा।

किन्तु विज्ञानी बुद्धिमान्, सुनिपुण व्यक्ति,—अपने मन का शासन कर, नित्य शुभचिन्तापरायण होकर, सानन्द उस परमपदके लाभ में समर्थ होगा †। अतएव अब तुम अवश्य ही समझ रहे हो कि, तपस्वी विवेकी बुद्धि वाला एकाग्रचित्त पुरुष ही यत्न पूर्वक, संसार मार्ग के पार में स्थित उस अविनाशी अद्वितीय ब्रह्म पद को पा सकता है। उस सर्वव्यापक, परमात्मा, विष्णु का परमपद—यथार्थरूप—इसी भांति पाया जा सकता है। बुद्धि, इन्द्रिय आदिक उस परमपद की प्राप्तिके कारण वा उपाय मात्र हैं ‡

* इन्द्रियादि द्वारा ब्रह्मपद प्राप्त किया जाता है, यहां यही बात कही गई है। इससे पाठक देखें कि, असत्य, अलीक मानकर इन्द्रियां उड़ा नहीं दी गईं।

† पाठक विशेषरूप से ध्यान दें, इन्द्रिय व शब्दस्पर्शादि का अवलम्बन कर ही ब्रह्मप्राप्ति कही गई है। इन्द्रियादि के उच्छेद का परामर्श नहीं दिया गया। इसी लिये गीतामें लिखा है—"योगः कर्मसु कौशलम्,,

‡ वेदान्तभाष्य में भी शङ्कर स्वामीने इन्द्रियादि को उड़ा नहीं दिया। इनको ब्रह्म प्राप्तिका 'उपाय, ही कहा है। "विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम् ,,—वे भा० १।४।४। तब हम यही सार समझते हैं कि, आत्म स्वरूपके ज्ञान लाभार्थ ही इन्द्रियादि की अभिव्यक्ति हुई है इस महान् उद्देश्य से ही अव्यक्त शक्ति इन्द्रियादिरूपसे अभिव्यक्त हुई है। इसी लिये क्या सांख्य शास्त्र कहता है 'पुरुष के भोग व मुक्ति के लिये ही प्रकृति का परिणाम होता है।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः ।
सोऽध्वनःपारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

हमने तुमसे जो इन्द्रिय व शब्दस्पर्शादि विषयकी बात कही है, उस से यह ज्ञात हो जाना चाहिये कि,—इन्द्रिय एवं विषय ये दोनों एक जातीय पदार्थ हैं। शब्दस्पर्शादिक विषय ही, आत्म प्रकाश के अर्थ स्थानान्तर ग्रहण कर इन्द्रिय रूपसे विराजमान हैं। इन्द्रियां ग्राहक हैं और विषय उन के ग्राह्य हैं, इतना ही भेद है *। तथापि इन्द्रियां विषयों द्वारा अत्यन्त आयत्तीकृत अर्थात् विषयोंके नितान्त अधीन हैं। इसी लिये इन्द्रियों को "ग्रह„ एवं विषयोंको 'अतिग्रह' कहते हैं † । विषय न हो, तो इन्द्रियां किसे प्रकाशित करें? ग्राह्य विषयके बिना, ग्राहक इन्द्रियोंका स्वतन्त्र अस्तित्व कहां है? ‡ इसी लिये इन्द्रियोंकी अपेक्षा विषयवर्गको श्रेष्ठ समझना चाहिये। विषय एवं इन्द्रिय, इनकी अपेक्षा मनको श्रेष्ठतर एवं सूक्ष्म तम जानो। मन ही विषयेन्द्रिय व्यवहारका मूल है। मन न हो, तो इन्द्रियां किस प्रकार विषयमें प्रेरित हों, शब्दस्पर्शादि विषयोंकी उपलब्धि कौन करे? + अतएव मन ही श्रेष्ठतर है। और निश्चयात्मक बुद्धि, मन से भी श्रेष्ठ व सूक्ष्म है। इस बुद्धिसे भी अधिकतर व्यापक व श्रेष्ठ महत्तत्त्व है। नचिकेता! इन सब बातोंको और भी स्पष्ट कर हम तुमको समझा देते हैं ×। कार्य कारण का नियम यह है कि, कार्यका जो उपादान होता है वह कार्यसे अधिक व्यापक एवं सूक्ष्म होता है। जगत्का उपादान है अ-

---

* विषयस्यैव स्वात्मग्राहकत्वेन संस्थानान्तरं करणं (इन्द्रियं) नाम बृहदारण्यक, शङ्कर भाष्य।

† वेदान्त १।४।१ भाष्य देखो। "ग्रहाःइन्द्रियाणि, अतिग्रहाः विषयाः बृहदारण्यक ५।२।१-९ देखो।

‡ "इन्द्रियाणि ग्राह्यभूतजातमधिकृत्य वर्तन्ते इति ग्राह्यग्राहकयोः मिथः सापेक्षत्वम्„ रत्नप्रभा।

+ मनोमूलत्वात् विषयेन्द्रिय व्यवहारस्य (वे० भा० १।४।१) मनसि सति विषय विषयिभावस्य दर्शनात् मनःस्पन्दित मात्रं विषयजातम् वृ०आगिरि०

× हमने यहां भाष्य व्याख्यामें शङ्करशिष्य महात्मा आनन्दगिरिने जो बातें लिखी हैं, उनको भी नितान्त आवश्यक जानकर ग्रथित कर दिया है।

व्यक्त शक्ति। यह अव्यक्त शक्ति ही सूक्ष्म रूपसे अभिव्यक्त होकर, करण के एवं कार्यके आकारसे * क्रिया करती रहती है। करणांशने ही वायु व तेज रूपसे एवं कार्यांशने जल व पृथिवी रूपसे विकाश पाया है। ये दोनों अंश ही क्रमशः संहत होकर प्राणियोंके शरीर रूपसे एवं इन्द्रिय, मन प्रभृति शक्तिके स्वरूपसे अभिव्यक्त हुए हैं। सबसे पहले भ्रूणदेहमें प्राणशक्ति (करणशक्ति) अभिव्यक्त होती है। यही रस रुधिरादिकी परिचालना करती हुई उसके कार्यांशको भी घनीभूत करती रहती एवं उसके द्वारा देह व देह के अवयवोंके निर्मित होने पर, उसके आश्रयमें आप भी चक्षुकर्णादि इन्द्रियशक्ति रूपसे † एवं अन्तमें मन व बुद्धि रूपसे प्रकाशित होती है। इस प्रकार अव्यक्त शक्ति ही भूतसूक्ष्म रूपसे अभिव्यक्त होकर जगत्को बना सकी है। अन्नादिके द्वारा मनकी पुष्टि व अन्नादिके अभावमें क्षय प्रत्यक्ष जान पड़ता है, सुतरां मन विज्ञान मात्र ‡ नहीं कहा जा सकता, किन्तु मन भौतिक है। भौतिक होनेसे ही मन जड़ है। बुद्धि भी विज्ञान मात्र नहीं वह भी भौतिक है वह भी भूत सूक्ष्मके ही अवयवों द्वारा गठित है ×। मन

* करण Motion कार्य Matter अवतरणिका के सृष्टितत्त्वमें इन तत्वों की विस्तृत व्याख्या हुई है। एवं उस स्थानमें भाष्यकारकी यथेष्ट उक्तियां भी दिखा दी गई हैं।

† गर्भस्थेहि पुरुषे प्राणस्य वृत्तिर्वागादिभ्यः पूर्वं लब्धात्मिकाभवति। यथा गर्भो विवर्द्धते चक्षुरादिस्थानावयवनिष्पत्तौ सत्यां, पश्चात् वागादीनां वृत्तिलाभ इति शङ्करः

‡ विज्ञान मात्र Merely an Idea तच्च परमार्थत एव आत्मभूतमिति केषाञ्चिन्मतं, तन्निरासाय उक्तं, मनः शब्दवाच्यं भूतसूक्ष्ममिति आनन्दगिरिः। शङ्करने स्वयं जड़ जगत्के उपादान अव्यक्त शक्ति को "भूतसूक्ष्म" कहा है भूतत्रयलक्षणैरेवेयमजा विज्ञेया वे० भा० १। ४। ९ और वेदान्तभाष्य १। २। २२ का शेषांश भी देखो।

× शक्ति करण व कार्यके आकारसे प्रकाशित होती है। कार्यांश ही क्रियाका अवयव है। करणांश Motion भी खण्ड खण्ड रूपसे होता है। उस खण्ड खण्ड (देशमें विभक्त) क्रियाको लक्ष्य करके भी, क्रियाका अवयव कहा जाता है। फलतः जो परिणामी व विकारी है, वही अवयवी है यदाश्रयादि क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते। वे० भा० १। १। ४।

और बुद्धि दोनों आत्माके विषय बोधके करण वा द्वार हैं। इस रीतिसे, इन्द्रियोंसे लेकर बुद्धि पर्यन्त पदार्थोंके अवयव क्रमसे आगे आगे सूक्ष्मसे सूक्ष्म व्यापकसे व्यापकतर हैं। महत्तत्व सम्पूर्ण बुद्धिकी समष्टि वा बीज कहा जाता है। महत्तत्वसे ही जीवका बुद्धि पदार्थ अभिव्यक्त हुआ है, जो महत्तत्व अत्यन्त ही सूक्ष्म एवं अत्यन्त व्यापक है। व्यापक बहुत ही व्यापक होने से ही, इस का निर्देश आत्मा शब्द के साथ किया जाता 'महदात्मा नाम से किया जाता है। यह चेतनात्मक एवं जड़ात्मक है, अथवा यह ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक है *। यह महत्तत्व ही अव्यक्त शक्ति का प्रथम अंकुर—आदिम परिणाम है। सुतरां यह सब प्रकार की क्रिया का बीज है। साथ ही ब्रह्मचैतन्य की ही शक्ति होने से, ब्रह्मसत्ता से वस्तुतः यह 'स्वतन्त्र' न होने से, चेतनात्मक है। आगे जब मनुष्य राज्य में यही बुद्धिरूप से अभिव्यक्त होता है, तब इसी के तो द्वारा सब प्रकार का बोध निष्पन्न होता है; इस लिये भी इसे ज्ञानात्मक कहते हैं। सारांश, जगत् में प्रकाशित सब भांतिकी क्रिया एवं विज्ञानका यही बीज है। इसीको 'हिरण्यगर्भ, कहते हैं †। नचिकेता! इसकी अपेक्षा भी सूक्ष्मतम व्यापकतम वस्तु है। उसका नाम है अव्यक्त। जिसका पहला अंकुर हिरण्यगर्भ है। यह अव्यक्त है। यह अव्यक्त ही सब सब जगत् की जड़ है। यही नाम–रूप की अव्यक्तावस्था है। जगत् में अभिव्यक्त सब भांति के कार्यों एवं करणशक्तियों ‡ की एक बीज शक्ति × स्वीकार करनी पड़ती है, क्योंकि शक्ति नित्य है, शक्ति

---

* महत्तत्व ही अव्यक्तशक्ति की पहली व्यक्तावस्था है। यही 'सूत्र' वा परिस्पन्दन नाम से प्रसिद्ध है। अवतरणिका देखो।

† वेदान्त का 'हिरण्यगर्भ; सांख्य का 'महत्तत्व एक ही वस्तु है। श्रुति में सूत्र' और 'वायु' भी इसका नाम है। पुराण में यही आदि सृष्टि कर्ता 'ब्रह्मा नाम से वर्णित है। अवतरणिका में सृष्टितत्व देखो।

‡ कार्य शक्ति matter करणशक्ति motion श्रुति में ये ही यथा क्रम अन्न एवं 'अन्नाद् वा 'अत्ता हैं। 'द्विरूपोहि ''''' 'कार्य माधारोऽप्रकाशकः 'करणञ्च आधेयं प्रकाशकः शङ्कर वृ० ३। ५ ४–१३। "कार्यलक्षणः शरीराकारेण परिणताः''''''''''''करण लक्षणानि इन्द्रियाणि प्रश्नोपनिषद् २। १–३।

× बीज न मानने पर 'नासतो विद्यते भावः „ यह बात मिथ्या हो जाती है। असत् से सत् का उद्भव अनिवार्य पड़ता है। शङ्कर ने स्वयं इसको 'बीजशक्ति, कहा है। —"''''''जगत् प्रागवस्थायां''''''बीजशक्त्यवस्थं अव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति„ वेदान्तभाष्य, १। ४। २।

का ध्वंस नहीं। इस शक्ति समूह की समष्टिका ही नाम है "मायातत्त्व"। इसका 'आकाश, एवं अव्याकृत नामसे भी निर्देश किया जाता है*। यह परमात्मचैतन्यमें ओतप्रोत-गुथी हुई है। बट बीजमें जैसे भावी बट वृक्ष की शक्ति ओतप्रोतभाव से एकाकार होकर वर्त्तमान रहती है। वैसे ही यह शक्ति भी ब्रह्म में एकाकार होकर ओतप्रोतभावसे वर्तमान थी। बट बीज में स्थित शक्ति द्वारा जैसे एक बीज दो नहीं हो जाता—एक के स्थान में दो बीज नहीं हो जाते, वैसे ही ब्रह्म में स्थित उक्त शक्ति के कारण भी ब्रह्म के अद्वितीयत्व की कोई हानि नहीं होती। उस समय यह शक्ति अव्यक्तभाव से ब्रह्म में स्थित है, सत्वादि रूप से अभिव्यक्त नहीं हुई; विशेषतः यह शक्ति वास्तव में ब्रह्मसत्ता से 'स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं—इन सब कारणों से से भी ब्रह्म के अद्वितीयपना में कोई बाधा नहीं आती। यह शक्ति ही जगत् प्रपञ्च का मुख्य उपादान है, ब्रह्म जो जगत् का उपादान कहा जाता है, सो केवल 'उपचारवश। क्योंकि अव्यक्त शक्ति की भांति, ब्रह्म परिणामी उपादान नहीं हो सकता†। और ध्यान रहे यह शक्ति भी कदापि ब्रह्म से अलग स्वतन्त्र वा स्वाधीन नहीं हो सकती; किन्तु ब्रह्म इस शक्तिसे सर्वदा स्वतन्त्र है‡। ब्रह्म वा पुरुष चैतन्य से अतिरिक्त पदार्थ कोई नहीं। यह

---

* वेदान्तदर्शन १।४।३। सूत्र का भाष्य देखो। "क्वचित् आकाशशब्द निर्दिष्टम् इत्यादि अंश द्रष्टव्य हैं "न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः-गीता, १८। ४०। शङ्कर ने स्वयं इस शक्ति को सत्वरजस्तमोमयी माना है। तेज, जल, अन्न—इन तीन रूपों से अभिव्यक्त होनेके कारण यह 'त्रिरूपा' भी कहलाती है। (वे० भा० १।४।९ देखो)

† यह सब हमने टीकाकार आनन्दगिरिकी टीकासे अविकल उद्धृत कर लिया है। पाठक मूल के साथ मिलाकर देख लें।

‡ अवतरणिका में इस तत्व की विस्तृत आलोचना हुई है सब तात्पर्य खोला गया है। यह शक्ति ब्रह्मसत्ता से स्वतन्त्र वा स्वाधीन नहीं इसका एक लौकिक दृष्टान्त यहां लीजिये। स्त्री और भृत्य आदिकों का अपना अपना अधिकार है सही किन्तु गृहस्वामी के अधिकार से स्वतन्त्र वा स्वाधीन उनका अधिकार नहीं। स्त्री भृत्यादि के अधिकार द्वारा स्वामी

चिद्घन पुरुष चैतन्य ही सर्वापेक्षा सूक्ष्मतम व महत्तम है। यही सबकी पर्य-वसानभूमि–सब का अधिष्ठान है। सभी पदार्थ इसमें पराकाष्ठाको प्राप्त हो-कर ठहरते हैं। जीवात्माका भी यही एक मात्र लक्ष्य है। इसको पाने पर, फिर पाने के लिये कुछ शेष नहीं रह जाता–फिर कुछ प्राप्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता। इसके लाभ से फिर पुनरावृत्ति–पुनर्जन्म नहीं होता।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

यह परात्पर चेतन पुरुष सब भूतों में गूढ़भाव से रहता है। इसी कारण इसको सब लोग समझ नहीं सकते। शब्दस्पर्शादि विषय एवं इन विषयों की प्राप्ति के अर्थ किए गए कर्मों द्वारा ब्रह्म का स्वरूप आवृत हो रहा है। यह आवरण ही ब्रह्म दृष्टि का बाधक–ब्रह्म पदार्थ का बाधक–ब्रह्म दर्शन का प्रधान विघ्न है। इसे दूर कर देने पर स्व प्रकाश स्वरूप चेतन पुरुष स्वयं प्रकाशित हो पड़ता है। उक्त विषय रूपी आवरण के कारण ही उसका दर्शन नहीं मिलता मायाकी बड़ी ही मोहिनी शक्ति है। ब्रह्म तो सर्वत्र प्रकाशित है, किन्तु मायामुग्ध चित्त विषयाबद्ध दृष्टिव्यक्तियोंको वह कहीं भी नहीं देख पड़ता ये ऐसे उन्मत्त होते हैं कि, देह इन्द्रिय प्रभृतिको ही आत्मा मान बैठते हैं। ब्रह्मका दर्शन तो वे ही पाते हैं जो एकाग्रचित्त होकर उसका अनुस-न्धान करते हैं। हम ऊपर तुमको वह प्रणाली बतला आये जिससे इन्द्रि-योंसे लेकर सूक्ष्म के तारतम्य–क्रमसे, परम सूक्ष्म ब्रह्मवस्तुका अनुभव लाभ किया जा सकता है। अब तुमको ब्रह्मदर्शनका उपाय भली भांति स्पष्टतासे बतलाते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियोंको दर्शन आदि विज्ञानोंको मनमें विलीन करना होगा। मन उस समय केवल विषयोंके संस्कारोंके साथ क्रीड़ा करता रहेगा, तब बाहर कोई भी विषय वाली अनुभूति नहीं रहेगी। इस मनको भी बुद्धिमें लीन कर देना चाहिये। तब फिर भीतर भी वैषयिक विज्ञानों की अनुभूति न होगी। तब फिर विशेष विशेष विषयका बोध चित्तमें अभिव्यक्त न होगा, तब तो बुद्धि केवल साधारण ज्ञानके आकारसे रह जा-

---

का अधिकार स द्वितीय नहीं हो जाता। इस विचारसे, स्त्री, पुत्र, भृत्य आदि को स्मृति शास्त्रमें (आईन में) अधन कहा गया है उनका स्वाधीन अधिकार वा स्वामित्व स्वीकृत नहीं हुआ।

यगी। इस बुद्धिकोभी प्राणशक्ति में * लीन करना होगा। उस समय बुद्धि केवल मात्र साधारण शक्ति रूपसे स्थित रहेगी। इस शक्तिको भी अ-विक्रय आत्मामें लीन कर देना पड़ेगा। आत्मा ही सब शक्तियों तथा वि-ज्ञानोंका अधिष्ठान है। आत्मा ही विज्ञान और क्रियाके साक्षी रूपसे वि-राजमान है। आत्मासे पृथक् किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता व क्रिया नहीं है। आत्माकी सत्ता व स्फूर्तिमें ही प्राणशक्तिकी भी सत्ता व स्फूर्ति है। अतएव आत्म स्वरूपसे स्वतन्त्र भावमें किसी पदार्थकी भी सत्ता व स्फूर्ति नहीं है †। इसी प्रकार आत्मस्वरूपका अनुसन्धान कर्तव्य है। ऐसे अनुसन्धानसे विषयोंका स्फुरण न होगा, केवल आत्मसत्ता ही स्फुरित होती रहेगी। इस प्रकार, सब वस्तुओंकी सत्ता व स्फुरणको एक आत्मसत्ता व आत्म स्फुरण में निमज्जित व विलीन करके ध्यान करना होता है।

हाय! संसारके जीवो? तुम और कब तक अज्ञान निद्रामें आच्छन्न रहोगे? समस्त अनर्थकी जड़ इस स्वातन्त्र्यज्ञानको—भेद बुद्धिको भ्रमको दूर कर दो? तुम उठो? जागो? ब्रह्मवेत्ता आचार्योंकी शरणमें जाकर उनके स-दुपदेशसे अपने स्वरूपको जानने की इच्छा करो? तीक्ष्ण छुरेकी धारकी भांति यह ब्रह्ममार्ग बड़ा ही कठिन सूक्ष्म एवं दुर्गम है? यह बात ब्रह्म-ज्ञानी महात्मा गण कहते हैं। परमज्ञेय ब्रह्म वस्तु अतीव सूक्ष्म है, इसी से उसके पानेका उपाय उक्त मार्ग भी महासूक्ष्म है।

उत्तिष्ठतजाग्रतप्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्यधारानिशिता दुरत्ययादुर्गंपथस्तत्कवयोवदन्ति॥

यह चहुं दिश देख पड़ने वाली पृथिवी अति स्थूल है, यह पृथिवी शब्द स्पर्श रूप रस गन्धादिके मिलने से उत्पन्न हुई है। यह चक्षु कर्ण

---

* मूलमें है "महत्तत्व" में लीन करना। हमने देखा है महत्तत्व ही शरीरमें प्राण शक्ति रूपसे अभिव्यक्त होता है। सुतरां बाहर जो महत्तत्व है शरीरमें वही प्राण शक्ति है।

† सत्ता एवं स्फुरण ही आत्माका यथार्थ स्वरूप है! यह सत्ता व स्फु-रण सर्वत्र सब पदार्थोंमें अनुप्रविष्ट हो रहा है। यह बात भूलकर, जो व्यक्ति, प्रत्येक पदार्थकी ही स्वतन्त्र स्वाधीन सत्ता व स्फुरण मानता है, वह अज्ञानी है। आत्माका स्फुरण अपरिणामी, निराकार पूर्ण है॥

आदि सब इन्द्रियोंका ग्राह्य है। यह शरीर भी पृथिवीकी भांति स्थूल एवं इन्द्रिय ग्राह्य है। जलसे आकाश * पर्यन्त क्रमशः एक एक गुण कम होते २ सूक्ष्मता अधिक है। आकाश अत्यन्त सूक्ष्म है, केवल शब्द गुणात्मक है † इन शब्दादि गुणोंके भी परे आकाशके भी कारण स्वरूप परमसूक्ष्म परमात्म वस्तुका अनुसन्धान पाने वाले ही तत्त्वदर्शी कहलाते हैं। आकाश सब पदार्थोंसे सूक्ष्मतर है, परन्तु ऐसे आकाशका भी कारण परमात्मा कितना सूक्ष्म है, यह क्या कहा जा सकता है?

परमात्मा का कोई अवयव नहीं—वह निरवयव है ‡। निरवयव होने से ही वह अव्यय है। उसका अन्य कोई कारण भी नहीं। वह अनादि, नित्य है। वही सब का कारण है। उसी में सम्पूर्ण पदार्थ लीन हो जाते हैं +। उसका अन्त भी नहीं। जिसका अन्त होता है, वह अनित्य है। पर-

---

* पृथिवी=शब्द+स्पर्श+रूप रस गन्ध। जल=शब्द स्पर्श रूप रस। तेज= शब्द स्पर्श रूप। वायु=शब्द स्पर्श। आकाश=शब्द।

† आकाशसे यहां भूताकाश लेना। वस्तुतः आकाश नित्य है। आकाश में क्रियाकी अभिव्यक्ति होनेसे, जब उस क्रियासे विशिष्ट आकाश ग्रहण किया जाता है, तभी भूताकाश कहते हैं। नहीं तो नित्य आकाश की उत्पत्ति क्या? प्राण शक्ति द्वारा अवच्छिन्न आकाश ही शब्दगुणमय है। इस प्राणशक्ति (क्रिया) रूप उपाधिके योगमें ही आकाशकी उत्पत्ति स्वीकृत हुई है। अवतरणिका देखिये।

‡ परिणामी न होने से ही अवयवशून्य है। जो परिणामी होता है, वही अवयवी होता है। सर्व देशव्याप्त अनन्त उसका स्फुरण परिणामी नहीं हो सकता। किन्तु माया शक्ति का स्फुरण विशेष देश व विशेष काल व्याप्त होने में परिणामी है। "All movements in infinite space & infinite time form one singlemove ment"—Paulsen.
"विशिष्टदेशावच्छिन्नत्वेन अवयवत्वादि व्यवहारः आनन्दगिरि, मुण्डक-भाष्य २।१।१।

+ "कार्यं विनश्यन्न निरवधिर्नश्यति"..........."तस्मात् किमप्यस्ति विनाशावधिभूतमविनश्यत अनुत्पन्नं स्वतः सिद्धम् उपदेश साहस्त्रीटीका १८।४६। सर्वंहि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति शङ्कर शारीरक १।१।४।

मात्मा अनन्त होने से ही नित्य है। वह महत्तत्व से भी अतीत है; सुतरां वह परम महान् कहा जाता है। परमात्मा नित्य ज्ञानरूप—चित्स्वरूप सब का साक्षी है। सब भूतों का अन्तरात्मा है। ब्रह्म शक्ति आदि की भांति परिणामी नित्य नहीं है। वह कूटस्थ नित्य है। ब्रह्म ध्रुव, अचल—सदा एक रूप व एक रस है। ब्रह्म का स्वरूप जान कर मनुष्य अविद्या कर्म नामक मृत्यु के पास से छूट सकता है *।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसंनित्यमगन्धवच्चयत् ।

अनाद्यनन्तंमहतःपरं ध्रुवंनिचाय्यतन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

---

* इस उपाख्यान का माहात्म्य देखिये,

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वाश्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥
य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥

किन्तु श्राद्ध के समय अब इस उपनिषद्‌ का पाठ नहीं होता, यह दुःख की बात है।
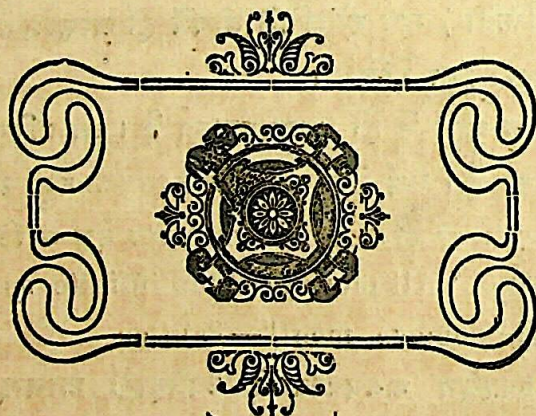
चतुर्थ परिच्छेद।

(हिरण्यगर्भ और जीवात्माका स्वरूप)

परलोक के स्वामी भगवान् यमदेव कहने लगे—

"प्रिय नचिकेता? हम तुमसे कह चुके हैं कि, विचार के द्वारा सर्वत्र ब्रह्मसत्ताका अनुसन्धान करना चाहिये। किन्तु यह बात सहज नहीं,—सब लोग यह काम नहीं कर सकते। न कर सकने का कारण है वह यह कि श्रेयो मार्ग विघ्न वर्जित नहीं। सर्वत्र ब्रह्मानुसन्धानके पथ में दो बाधायें वर्त्तमान हैं। वे बाधायें ऐसी वैसी सामान्य नहीं,—बड़ी भयंकर हैं। इस समय हम उन्हीं दोनों विघ्नोंकी बात कहते हैं। क्योंकि उनके स्वरूप व कारण को जाने विना उनको दूर कर देनेका उपाय नहीं बन सकता। परमेश्वर ने इन्द्रियों को वहिर्मुख बनाया है। इन्द्रियां बाहर की वस्तुओं में ही बेसुध रहती हैं। उनका स्वभाव यही है कि, वे अपने अपने अर्थ निर्दिष्ट शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादि को ही ग्रहण करती रहती हैं एवं सर्बदा बाहर के इन रूपरसादिकों की पकड़ में व्यग्र रहने से, भीतरकी ओर नहीं देखती हैं,—इसी से आत्म पदार्थ के दर्शन से वञ्चित रहती हैं। जो धीर विवेकी विद्वान् इन्द्रियोंको उलट कर, भीतर अपने स्वरूपको देखना चाहते हैं, आत्मा से इतर शब्दस्पर्शादि विषयों के बदले वहां वहां आत्म पदार्थ का ही ग्रहण करते हैं। उनकी ही मनोकामना पूरी होती है। नहीं तो संसारी सभी मनुष्य अपनी वहिर्मुखी इन्द्रियों के द्वारा बाहर ही पड़े रहते हैं। इस बातको नहीं जानते कि, परम-कारण आत्मा की ही सत्ता, जगत् के प्रत्येक पदार्थ में अनुस्यूत—अनुप्रविष्ट हो रही है। आत्मा की ही सत्ता के ऊपर ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त समस्त पदार्थोंकी सत्ता अवलम्बित है। इसी भाव से विवेकी साधक विषयों के मध्य में आत्मसत्ताका अनुसन्धान करते रहते हैं। सारांश यह कि, इन्द्रियां वहिर्मुख हैं, यही महाविघ्न है। इसके वश में न आकर तुम इस को सुधार लेने ठीक कर लेने का प्रयत्न करो। तुम इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का निरोध करो या उनकी गति को बाहरी विषयों की ओर से लौटा कर अपने भीतर की ओर चालित करो, फिर देखो कि आत्मा का अविनाशी स्वरूप स्वयं प्रका-

शित हो उठता है। इस बात को सदा स्मरण रक्खो कि, वहिर्मुख अनात्म विषय—दर्शन ही ब्रह्म—प्राप्ति के पथ में एक प्रधान विघ्न है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

अब दूसरे विघ्न की बात सुनो। ब्रह्मसत्ता को एक वारगी भूल कर 'स्वतन्त्र रूपसे विषयों को ग्रहण करना, एवं उनको भोग करने के लिये लालायित रहना इस चित्त की तृष्णा का ही नाम दूसरी भयंकर बाधा है। यह तृष्णा पूरी पिशाचिनी है, इसके मारे कुछ भी नहीं होने पाता। मानव—मनका स्वभाव ही यह है कि, वह शब्दस्पर्शादि विषय—भोग के लिये ही दौड़ा करता है। इस तृष्णा के दासानुदास वनकर अल्पज्ञ लोग विषय प्राप्तिके उद्देश से नाना प्रकार के वहिर्मुख कर्मों में लगे रहते हैं *। ये ही सब मूर्ख अविद्या काम कर्मरूप † दुच्छेद्य जाल में बद्ध होकर बारम्बार जन्म मृत्युकी दारुण यातनाओंका कष्ट उठाते हैं। शरीर व इन्द्रियादि के संयोग से जन्म एवं इनके वियोगसे मृत्यु होती है इसी जन्म मृत्यु के चक्र में अज्ञानी अविवेकी लोग निरन्तर घूमा करते हैं। इन अभागियों को जीवित काल में ही क्या सुख मिलता है? हाय! विषयी जन कष्ट पर कष्ट रोग पर रोग वियोग वृद्धावस्था आदि नाना प्रकार से सर्वदा पीड़ित रहते हैं। यह सब उपद्रव तृष्णा के कारण ही हुआ करता है किन्तु जो विवेक बुद्धिवाले हैं, एवं विषय प्राप्ति की कामना न करके, ब्रह्मलाभ की कामना करते हैं। वे उक्त कामना से प्रेरित तदनुरूप क्रिया का ही अनुष्ठान करते हैं। वे कूटस्थ, अविनाशी, ब्रह्म पदार्थ के विचार में निरन्तर नियुक्त रह कर, तृष्णा—संसारी तृष्णा—से दूर रहते हैं। चञ्चल विषयों में निमग्न नहीं होते, अनर्थकारी विषयों की प्रार्थना नहीं करते, कामना भी नहीं करते हैं। क्योंकि उन्होंने समझ लिया है, ब्रह्म से पृथक् पुत्र पितादि की कामना से, अमृत शाश्वत गतिका लाभ नहीं किया जा सकता। जो सुख, जो लाभ, जो फल, जो गति अमृत नहीं—अनश्वर अविनाशी अमर नहीं, वह निष्फल व्यर्थ है?

---

* भाष्यकार ने और भी कहा है कि स्वतन्त्र वस्तुके ज्ञानसे देवताओं के पूजन वा यज्ञादि द्वारा जो लोग स्वर्ग सुख की प्रार्थना करते हैं, वे भी अल्पज्ञ हैं। क्योंकि स्वर्ग सुख भी अनित्य है। स्वर्ग से भी गिरना पड़ेगा।

† इस अविद्या—काम—कर्म का ही नाम "हृदय—ग्रंथि" है।

नित्य ज्ञानस्वरूप चेतन आत्मा के वर्त्तमान रहने के कारण ही, शब्द स्पर्शादिक विज्ञान अनुभूत हुआ करते हैं। मनुष्य मात्र जो शब्दस्पर्श रूप रसादि विविध वैषयिक विज्ञानों एवं उनके फल स्वरूप सुख दुःखादि का अनुभव करते रहते हैं, सो वास्तवमें आत्मचैतन्यके प्रकाश का ही प्रताप है आत्मा—शरीर आदि विषयों से स्वतन्त्र एवं भिन्न प्रकृति की वस्तु है। आत्मा इनके साक्षी रूपसे—ज्ञातारूपसे—नित्य विराजमान रहने वाला है। इसी लिये आत्मा ही इनका विज्ञाता है। परन्तु मूढ़ मनुष्य आत्माके इस स्वातन्त्र्यकी वातको एकत्वकी बातको भूल जाते हैं एवं वे लोग आत्माको शब्द स्पर्शादिक विज्ञानोंके समष्टि रूपमें मानने लगते हैं *। वे समझते हैं कि, यह जो मैंने देखा, मैंने सुना इस प्रकारके बोध वा विज्ञानके समूहसे अतिरिक्त आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। किन्तु यथार्थ पक्षमें तो आत्मा सब विज्ञानोंसे स्वतन्त्र अथच इन सब विज्ञानोंके मध्यमें ही प्रकाशित है। शब्द स्पर्शादिक विज्ञान ज्ञेय मात्र हैं 'ज्ञाता, नहीं। यदि ये ही ज्ञाता होते, तो इनमें का एक दूसरे को अर्थात् आप ही आपको जान सकता। तो इनमें का प्रत्येक अन्योंको एवं साथ ही अपनेको भी जान सकता परन्तु कहां, वे तो परस्पर एक दूसरेको जानते पहचानते नहीं †। इसी

---

* The soul exist, as a unity, as a whole before these states and produces these states and is realesed in them; not as compound of the separate states, feelings, thoughts strivings et. c.–Paulsen.

† भाष्यकारके कथनका तात्पर्य यह है:—विषय व इन्द्रियां जड़ हैं एवं क्रियात्मक हैं। वाह्य विषय हमारी चक्षु आदि इन्द्रियोंकी क्रियाको (Monement) उत्तेजित कर देते हैं, यह उत्तेजना स्नायुपथ से चलकर क्रम से मस्तिष्कके बुद्धि स्थानमें पहुंचती है। यह सभी जड़ीय क्रिया है एवं कार्यकारण सम्बन्धमें बद्ध है। पूर्ववर्ती एक क्रिया उपस्थित होते ही परवर्ती क्रियाएं पर पर क्रमसे उपस्थित होती हैं। किन्तु इन सब क्रियाओंके परे जो रूपादिका 'ज्ञान' वा 'बोध, होता है, वह तो इन क्रियाओंसे पूर्ण स्वतन्त्र है। जड़ीय क्रिया द्वारा ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। दोनोंमें कार्य कारण सम्बन्ध नहीं। अखण्ड ज्ञान स्वरूप चेतन आत्मा है, इसीसे जड़ीय क्रियाओंके प्रकाशक रूपसे साथ ही साथ खण्ड खण्ड बोध वा ज्ञान की प्रतीति हुआ करती है। जड़ क्रिया एवं ज्ञान पूर्ण भिन्न (विलक्षण) हैं। कोई किसी का उत्पादक नहीं। अवतरणिका में आलोचना की गई है॥

निमित्त, ज्ञेयसे ज्ञाताको स्वतन्त्र होना होता है जो जिसका ज्ञाता है उस को उससे भिन्न होना पड़ता है। अतएव सिद्ध होता है कि, रूप रसादि विज्ञानोंसे आत्मा नितान्त ही स्वतन्त्र व विलक्षण है और स्वतन्त्र होने से ही आत्मा उनका 'ज्ञाता, है। सुतरां ज्ञातृत्व ही ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। तेजके संयोगसे उत्तप्त होकर लोहा अन्य वस्तुको दग्ध कर सकता है, इसका हेतु जैसे तेज है वैसे ही नित्यज्ञान स्वरूप आत्मा द्वारा विषय वर्ग प्रकाशित होता है। संसारमें आत्माका अविज्ञेय कुछ भी नहीं, वह सर्वज्ञ है। यही ब्रह्मका स्वरूप है। जाग्रत् अवस्थामें जब स्थूलाकारसे विषयोंका विज्ञान अनुभव किया जाता है, उसका ज्ञाता आत्मा ही है। वही विज्ञाता है। फिर स्वप्न देखनेके समय जब केवल संस्कारके आकारसे वैषयिक विज्ञान अनुभूत होता है, उस सब विज्ञानका भी विज्ञाता आत्मा ही है। यही आत्माका स्वरूप है एवं ब्रह्मका भी स्वरूप यही है। इस को जान लेने पर शोक दूर हो जाता है। आत्मज्ञान हो जाने पर भय भी भग जाता है। जब तक द्वैतबोध है, तभी तक उन सब पदार्थोंसे भय व शोककी सम्भावना है। जब ब्रह्मसत्तासे अलग किसी भी पदार्थकी स्वाधीन सत्ता का ज्ञान नहीं रहता, जब ब्रह्म ही सब कुछ ब्रह्ममें ही सब कुछ जान पड़ता है, तब ज्ञानी किसकी कामना करे? किसकी अप्राप्तिमें दुःख माने? किसके विनाशमें शोक करे? और किससे भय करे? अब तो ज्ञानी निर्भय है इन्द्रियोंके अध्यक्ष, शुभाशुभ कर्मोंके फल भोक्ता जीवात्माके समीपवर्ती, नियन्ता ब्रह्म चैतन्यका यथार्थ रूप जब जान लिया जाता है, तब किसी प्रकारका भी भय शोक नहीं रह जाता। आत्माका स्वरूप निर्भय है।

हिरण्य गर्भका तत्त्व पहले कहा गया है, यहां भी स्मरण करा देते हैं। पूर्ण ज्ञान स्वरूप एवं पूर्ण शक्ति स्वरूप ब्रह्मने सृष्टिके प्राक्काल में अपने सङ्कल्प द्वारा इस जगत् सृष्टिकी आलोचनाकी *। जो शक्ति उसमें एकाकार होकर ज्ञानाकारसे टिकी थी, उसकी इच्छासे उस शक्तिका सर्गोन्मुख परि-

---

* इस आलोचनाका निर्देश सूत्रमें 'तप, शब्द द्वारा किया गया है। ब्रह्म नित्यज्ञान स्वरूप है, तथापि आगन्तुक आलोचनाको लक्ष्य कर तप नामसे उसकी एक भिन्न संज्ञा दी गई है। फलतः उस नित्य ज्ञानके अतिरिक्त यह कोई अन्य ज्ञान नहीं।

नाम * हुआ। इस अवस्था को लक्ष्य कर ही इस को अव्यक्त शक्ति कहा-जाता है। वस्तुतः यह स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं यह उस पूर्ण शक्तिसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं, यह अव्यक्त शक्ति जब सबसे पहले व्यक्त हुई उसी का नाम हिरण्य गर्भ वा प्राण या सूत्र स्पन्दन है। यह भी उस ब्रह्मसे स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है।

सुवर्णसे बना कुंडल जैसे सुवर्णसे भिन्न कुछ नहीं वैसे ही ब्रह्मसे अभिव्यक्त हिरण्यगर्भ भी ब्रह्मात्मक वा ब्रह्म ही है †। अव्यक्तशक्ति पहिले ‘ सूत्र , रूप से वा स्पन्दन रूप से अभिव्यक्त हुई थी। यह स्पन्दन ‘ करणाकार, व ‘ कार्याकार , से ‡ विकाशित होकर क्रिया करने लगा। उसका करणांश ही वायु, तेज, आलोकादि के आकार से विकीर्ण होने लगा एवं कार्यांश भी साथ ही संहत वा घनीभूत होने लगा। इसी लिये प्रत्येक पदार्थ के दो अंश हैं एक कार्यात्मक दूसरा करणात्मक। स्पन्दन—तेज आलोकादि रूप से व्यक्त होकर सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् प्रभृति ‘ आधिदैविक, पदार्थों के रूप से प्रकट हुआ। इसी लिये ‘ हिरण्यगर्भ , ‘ सर्वदेवतात्मक , कहा गया है। कार्यांश संहत होकर प्रथम ‘ जल , पश्चात् अधिक संहत होकर ‘ पृथिवी , रूप से अभिव्यक्त हुआ। इसी प्रकार वायु आदि भूत उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार क्रम से प्राणी शरीर में सब से प्रथम प्राणशक्ति व्यक्त होती है एवं रस रुधिरादि को चलाकर उस का कार्यांश जितना ही शरीर व शरीरावयवों को निर्मित करता रहता है—उस का करणांश भी क्रम से इन्द्रिय आदि रूप से प्रकट होता है ×। अतएव यह क्रिया-

---

* सर्गोन्मुख—अभिव्यक्त होनेके उन्मुख शङ्कर स्वामीने इसका नाम वेदान्त भाष्यमें व्याचिकीर्षित अवस्था एवं जायमान अवस्था धरा है। अभी परिणाम नहीं हुआ, जगदाकार से परिणत होनेका केवल उपक्रम है। इस उपक्रम का भिन्न नाम आगन्तुक है।

† यह दृष्टान्त आनन्दगिरि का है।

‡ “ द्विरूपोहि······‘ कार्य , साधारोऽप्रकाशकः , ‘ करणमाधेयः प्रकाशकः ,, इत्यादि शङ्कर, वृ०।

× “ कार्यलक्षणाः करणलक्षणाश्च देवाः,—शङ्कर, प्रश्नोपनिषद्। “कार्यलक्षणाः शरीराकारेण परिणताः करणलक्षणानि इन्द्रियाणि , —आनन्दगिरि, प्रश्न। इन सब तत्त्वों को पाठक पहले अवतरणिकामें देखलें।

त्मक * हिरण्यगर्भ ही अन्त में प्राणीराज्य में (विशेष कर मनुष्य में) अन्तःकरण रूप से † प्रकाशित हुआ है अन्तःकरण ही ज्ञानका विशेष अभिव्यञ्जक है। इसी लिये हिरण्यगर्भ जैसे सूत्र वा स्पन्दनात्मक कहा जाता है, वैसे ही यह महत् वा बुद्धि—ज्ञानात्मक—कहा जाता है ‡ अतएव नचिकेता ! अब समझ लो कि, ब्रह्मके सङ्कल्प वश हिरण्यगर्भ का पहले उद्भव हुआ एवं तेज जल प्रभृति भूतों से पहले हिरण्यगर्भ हुआ। यही फिर भूतों के साथ मिल कर, प्राणी शरीर के हृदय में बुद्धिरूप से × प्रकाशित हो रहा है अतएव बुद्धिरूप उपाधि विशिष्ट जीवात्मा एवं हिरण्यगर्भ—स्वरूप से अभिन्न हैं। सर्वात्मक आत्मचैतन्य का स्वरूप इसी प्रकार जानो।

इस हिरण्यगर्भ का 'अग्नि, नाम से भी निर्देश किया जाता है +। गर्भिणी स्त्रियां जैसे यत्न पूर्वक अपने गर्भ का पोषण करती रहतीं हैं वैसेही कर्मपरायण जन घृतादि के योग से यज्ञ में इस अग्नि की स्तुति वा होम करते हैं ‡‡। किन्तु जो पण्डित आत्मयाजी, ज्ञान परायण हैं, वे यत्नपूर्वक सावधानता से नित्य ध्यान व भावना द्वारा हृदय में इस हिरण्यगर्भ नामक अग्नि की भावना करते रहते हैं। यही वह ब्रह्म है जिस में सूर्य चन्द्रादिक सब आधिदैविक पदार्थ अव्यक्त वा अन्तर्हित हो जांयगे और प्रलय के प-

---

* i. e. Blind impulse uncousceaus will (यह भी ब्रह्म चैतन्यसे शून्य नहीं)

† i. e. Purposiue impulae or Consciuus will.

‡ इस पैराग्राफ के प्रारम्भ से इस चिन्ह तक अंश की व्याख्या हम ने अपने शब्दों में कर दी है। यह हमने आगे का भाष्यानुवाद समझ में आ जाय, इसी लिये किया है। इस चिन्ह से आगे इस पैराग्राफ के शेष पर्यन्त भाष्य का अनुवाद है।

× मुख्य कर बुद्धि द्वारा ही शब्दादिकी उपलब्धि (अदन वा भोग) की जाती है, इससे इस हिरण्यगर्भका नाम मूलमें 'अदिति' है।

+ इस उपाख्यान का प्रथम परिच्छेद देखिये।

‡‡ जो केवल सकाम यज्ञ परायण हैं, वे हिरण्यगर्भ बोध से 'अग्नि, की स्तुति वा उपासना नहीं करते हैं। क्योंकि वे अग्नि आदि देवताओं को ब्रह्म से स्वतन्त्र वस्तु मानते हैं। सर्वात्मक परमात्मा की सत्ता से अतिरिक्त किसी भी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं इस बातको वे नहीं बिचारते।

श्चात् पुनर्विकाश के समय इस हिरण्यगर्भसे ही निकलेंगे। आध्यात्मिक चक्षु आदि इन्द्रियां भी इस हिरण्यगर्भ में (प्राण में) * अवस्थित रहकर ही निज निज क्रिया करती हैं। कोई भी वस्तु इस सर्वात्मक सर्वव्यापी हिरण्यगर्भ से स्वतन्त्र नहीं इसी की सत्ता में वस्तु मात्र की सत्ता अवलम्बित है † यही वह ब्रह्म है।

नचिकेता! तुम से हमने सर्वात्मक-परमात्म चैतन्य के स्वरूप का एवं आत्माके स्वरूपका वर्णन किया। दोनोंके मध्यमें वास्तविक कोई भेद नहीं, भेद केवल उपाधि की तारतम्य का है। सर्वोपाधिवर्जित विज्ञानघन स्वभाव ब्रह्म चैतन्य ही कार्यात्मक ‡ व करणात्मक उपाधियों के संयोग से सुख दुःखाकुल संसारी आत्मा के रूप से प्रतीत होता है। स्वरूप से दोनों में कोई भेद नहीं—कोई नानात्त्व नहीं है। जो व्यक्ति स्वरूप की बात भूल कर केवल उपाधि वा नानात्व को लेकर ब्रह्म में भेद की कल्पना करता है × वह भ्रांत है। ऐसा भेद प्रेमी पुरुष ही बार बार जन्म जरा मरण आदि का क्लेश पाते हैं। अस्तु, पूर्ण + ज्ञानैकरस—स्वरूप आत्मा का अनुसन्धान करना ही हमारा परम कर्तव्य होना चाहिये। पहले शास्त्र और आचार्यके उपदेश से अन्तःकरण मार्जित होने पर भेद बुद्धिके कारण अविद्या का ध्वंस होता है तब फिर ब्रह्ममें अणुमात्र भी भेद नहीं जान पड़ता। जिस व्यक्तिका चित्त अविद्या ग्रस्त होता है, वही ब्रह्म चैतन्यमें भेद समझता है, इसी कारण वह जन्म मरणसे छुटी नहीं पाता। मनुष्यके हृदयमें अङ्गुष्ठ—परि-

---

* हम ने पहले देखा है स्पन्दन ही (हिरण्यगर्भ ही) प्राणी देह में प्रथम प्राणशक्ति रूप से अभिव्यक्त होती है। सुतरां हिरण्यगर्भ और प्राण एक ही तत्त्व है।

† सूर्य चन्द्रादि पदार्थ एवं चक्षु आदि इन्द्रियां—कोई भी स्पन्दनसे अलग नहीं। स्पन्दन के ही आकार—भेद मात्र हैं। अवतरणिका देख लो।

‡ कार्यात्मक उपाधि—शरीर और उस के अवयव। करणात्मक उपाधि—इन्द्रियादि शक्तियां और अन्तःकरण।

× ब्रह्मसत्ता में ही उपाधियों की सत्ता है। ब्रह्मसत्ता को उठा लो, फिर देख लो, उपाधियां लुप्त हो गईं। अतएव उपाधियोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं। उनके द्वारा आत्मसत्ता में भेद नहीं पड़ सकता। ज्ञानी महात्मा इसी प्रकार सर्वत्र केवल एक ब्रह्मका ही दर्शन करते हैं।

+ पूर्ण—c.e whole-unitary Principle.

मित स्थानमें बुद्धि अवस्थित है इस बुद्धिका प्रकाशक एवं प्रेरक आत्मा ही है। यह परिपूर्ण आत्म चैतन्य देश व कालसे परे है अथ च उसीसे देश और काल अभिव्यक्त हुए हैं *। आत्मा निर्मल है, ज्योतिर्मय—प्रकाश स्वरूप है। योगी जन अपने हृदयमें इसका ध्यान करते हैं। यह प्राणियोंके हृदय में नित्य वर्तमान है। जिस प्रकार किसी अति उन्नत दुर्गम शैलके शृङ्गसे पड़ती वृष्टि धारा बड़े वेगके साथ पर्वत खण्ड—सङ्कुल निम्न भूमि में प्रवाहित होकर चारों ओर नाना आकारों में विकीर्ण हो जाती है, उसी प्रकार भेद दर्शी लोग, आत्मा एक है इस बातको नहीं समझते, वे उपाधियोंके साथ अनुगत आत्माको, उन सब उपाधियोंसे विशिष्ट नाना प्रकारका मान लेते हैं। किन्तु मनन—परायण विवेकी सज्जन ऐसा भ्रम नहीं करते। आत्मा उपाधियोंसे अलग है—स्वतन्त्र है, यह तत्त्व उनको भली भांति सुविदित है। वे जानते हैं कि, आत्मा विज्ञानघन स्वरूप है। जल रहित निर्मल स्थान में वारिधारा छोड़ने पर जैसे वह जल नाना आकार धारण नहीं करता, वैसे ही आत्मा भी सर्वदा एक रूप रहता है। उपाधियां ही सदा नाना आकारों को धारण करती रहती हैं †। किन्तु उनसे आत्माका एकत्व नहीं नष्ट हो सकता। क्योंकि आत्मा नित्य ही एक रूप है। आत्मा उपाधियों के साथ अनुगत—अनुप्रविष्ट—रहता है इसीसे मूर्ख जन उपाधियों की नाना प्रकार अवस्था द्वारा आत्माका भी अवस्थान्तर मान बैठते हैं! जननीसे भी अधिक हित करनेवाली भगवती श्रुति देवी ने इसी भांति आत्मतत्त्व की बात बतलाई है। हे नचिकेता! तुम घमण्डी, कुतर्की नास्तिकोंकी बातें कभी न सुनना श्रुतिके उपदेशानुसार निरन्तर आत्माके एकत्व का तत्त्व हृदयमें धारण करो।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

---

* जब अव्यक्त शक्ति स्पन्दन रूपसे व्यक्त हुई, तभी से देश और काल का विकाश हुआ है। इसके पहिले नहीं। यह बात माण्डूक्योपनिषद् में आनन्दगिरिजी ने बतला दी है। "कालं प्रत्यपि सूत्रस्य कारणत्वात्,,—इत्यादि देखिये।

† उपाधियां व जड़ीय क्रियाएं सर्वदा ही परिणामी व विकारी हैं। रूपान्तर धारण करती रहती हैं। अर्थात् परिवर्तित हुआ करती हैं। शरीर, इन्द्रिय प्रभृति सब उपाधियां जड़ीय क्रिया मात्र हैं।

पञ्चम परिच्छेद ।
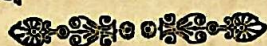
(देह–पुरों का वर्णन ।)

यम कहने लगे—

हे सौम्य ! जीवात्मा का स्वरूप कैसा है एवं किस प्रकार अविद्याच्छन्न संसारी लोग उसका स्वरूप समझने में भ्रम करते हैं, यह सब विषय साधारण रूप से कहा गया । अब फिर तुम को आत्मा का स्वरूप विशेष रूप से समझावेंगे । ब्रह्मविद्या की आलोचना में हम को बड़ा उत्साह, बड़ा आनन्द होता है । हम एक एक करके सब बातें तुम को बतला देंगे ।

नचिकेता ! इस शरीर की तुलना एक राज–पुरी के साथ की जा सकती है । अवश्य ही वसुन्धरा में तुम ने बड़ी २ राजधानियों का दर्शन किया है । तुम ने देखा है—काठ, ईंटें, चूना प्रभृति अनेक प्रकार की सामग्री एकत्रित कर नृपतियों के भोगार्थ, राजपुरियोंका निर्माण होता है । उन पुरियों के चहुंदिश सैकड़ों काष्ठनिर्मित द्वार होते हैं, सो भी तुम ने देखा है । हमारे विचार में जीवशरीर भी उसी प्रकार एक राजपुरी मात्र है । इस पुरी के एकादश बड़े बड़े द्वार सर्वदा खुले रहते हैं । दो कान, दो आंखें, दो नासिकाछिद्र और मुख–ऊपर ये सात एवं नीचे नाभि, पायु, उपस्थ–ये तीन और सर्वोपरि मस्तिष्क,–ये ही ग्यारह इस के वहिर्द्वार हैं * इस देह–पुरी के अधीश्वर को तो जानते हो ? आत्मा ही इस राजधानी का राजा है । आत्मा के ही भोगार्थ, नाना प्रकार के उपकरणों के मेल से, यह पुरी निर्मित हुई है । आत्मा इन सामग्रियों से सर्वथा स्वतन्त्र है †, वह निरन्तर एक

---

* छान्दोग्य में प्राण अपान प्रभृति क्रियाशक्ति एवं चक्षु आदि इन्द्रियों को देह का द्वारपाल कहा है । गीता में भी इन्द्रियां देह के द्वार हैं ।

† इस ‘स्वतन्त्र, शब्द का अर्थ आनन्दगिरि यों समझाते हैं—‘ख, की सत्ता से अतिरिक्त यदि ‘क, की सत्ता प्रतीत हो, तो ‘क, को ‘ख, से स्वतन्त्र समझना चाहिये„ । इससे यह समझो कि, आत्मा तो स्वतन्त्र है, परन्तु शरीर आदि नहीं । आत्मा के विना ये नहीं रह सकते । आत्मसत्ता ही जगत् के प्रत्येक पदार्थ में अनुप्रविष्ट है, इस सत्ता में ही सब पदार्थ गुंथे पड़े हैं । पदार्थों की अपनी कोई सत्ता नहीं । पाठक यह बात कभी न भूलें ।

रूप, निर्विकार है, वह विज्ञानघनस्वभाव है। सब प्रकार की वैषयिक वासना त्याग कर, * सब भूतों में सम भाव से स्थित इस पुरस्वामी आत्मा की एकाग्रचित्त से भावना करने पर, भय और शोक दूर हो जाते हैं,—इस जीवित दशा में ही अविद्या-काम कर्म की ग्रन्थि छिन्न हो जाती है।

देह के स्वामी आत्मा के स्वरूप की बात सुनो। "यह सभी शरीरों में वर्तमान है। आकाश में आदित्य के अभ्यन्तर में यह आत्मा रूप से स्थित है। यह सब का आश्रय है, इसीलिये 'यह वसु, कहा जाता है। यह 'वायु, रूप से अन्तरिक्ष में क्रिया करता है। यही 'तेज, रूपसे सर्वत्र स्थित है। पृथिवी के अतीत होकर भी यह पृथिवी रूप से विकाशित है। कर्मकाण्डी पुरुष जब यज्ञ करते हैं, तब यही वेदी में अग्निरूप से, कलस में सोमरूप से और गृह में अतिथि रूप से स्थित रहता है। यही आकाशमण्डल में, जल में स्थल में, देवलोक में और मनुष्य लोक में—विविध पदार्थों तथा प्राणियों के आकार से अवस्थान करता है। यज्ञरूप से यही स्थित है और यज्ञ के अङ्गस्वरूप स्रुवा आदि रूप से भी यही स्थित है। पर्वतशृङ्गों से यही अनेक नदियों के रूप में बह रहा है। यही सबका कारण, सबका आत्मा है। यह निश्चित एकरूप है †। पदार्थों के भेद से इस आत्मवस्तु में कोई भेद नहीं होता है। यह बृहत् है यह सत्यस्वरूप है,,

तुम से शरीर के स्वामी आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया। अब स्वरूप के परिचायक कतिपय चिन्हों (लिङ्गों) की बात कहते हैं। यह आत्मा बुद्धिवृत्ति के प्रकाशक व प्रेरक रूप से स्थित रह कर, प्राणवायु को ऊपर की ओर एवं अपानवायु को नीचे की ओर नियोजित करता है ‡। यह आत्मा

---

* यदि विषय आत्मसत्ता से स्वतन्त्र सत्तावाले हों, तो विषय लाभ के लिये कामना हो सके किन्तु उनकी जब स्वतन्त्र सत्ता नहीं तब केवल आत्मसत्ता के लाभार्थ ही कामना हो सकती है।

† इसी की 'सत्ता, विविध पदार्थोंका आकार धारण कर रही है। ये आकार परिवर्तन शील हैं। किन्तु इन आकारों में अस्यूत ' सत्ता, सर्वदा एक रूप है सब पदार्थों में इस सत्ता का ही अनुसन्धान कर्तव्य है।

‡ एक प्राणशक्ति ही शरीर में पांच प्रकार से विभक्त है। मुख्य प्राण—चक्षुकर्ण, मुख, नासिका में सञ्चरण करता है। अपान—अधोदेश में रहकर मूत्र पुरीष आदि का चालक है। समान—नाभिमें रह कर भुक्त अन्नादि को पकाता है। व्यान—देह की सन्धियों में, मर्मस्थल में और स्कन्ध में घूमता है और उदान—पदसे मस्तिष्क पर्यन्त सञ्चारण करता है। प्रश्न—उप०।

सब का वरणीय है। इसी की सेवा में, चक्षुकर्णादिक इन्द्रियां, रूपरस शब्दादि विज्ञानरूपी उपहार उपस्थित करती हैं। इस आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ ही, इन्द्रियां अपनी क्रिया से विरत नहीं होती हैं *। प्राण और इन्द्रियां इसी के उद्देश से एवं इसी के द्वारा प्रेरित होकर निज निज क्रिया का निर्वाह करतीं हैं, यह इन्द्रियों से स्वतन्त्र और सर्वथा भिन्न प्रकार का है।

यह चेतन आत्मा जब शरीरसे अलग हो जाता है, तब उसी क्षण प्राण व इन्द्रिय वर्ग साथ ही क्रिया शून्य हो जाते हैं एवं वे हतबल व विध्वस्त हो पड़ते हैं। जिसके रहनेसे, इनकी क्रिया चलती है एवं न रहनेसे क्रिया बन्द हो जाती है, वही आत्मा है। यह आत्मा (आत्मशक्ति) के अस्तित्वका एक सरल प्रमाण है †। प्राण हो, अपान हो या चक्षु आदि इन्द्रि-

---

* "प्राणकरणव्यापाराश्चेतनार्थास्तत्प्रयुक्ता भवितुमर्हन्ति जड़चेष्टत्वात् रथचेष्टावत्,, प्राणादि जड़ की क्रिया चेतन से ही चालित है। यही आत्मा के (आत्मशक्ति के) अस्तित्व का एक प्रमाण है। इसी लिये जो Blind impulse कहा गया है, वह पहलेसे ही purposine impulse मात्र है। ब्रह्म चैतन्य एक निर्दिष्ट उद्देश्य लेकर ही क्रिया का विकाश करता है। यही उद्देश्य 'आत्मा का प्रयोजन, है। इन्द्रिय प्राणादि सभी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध से युक्त हैं। आत्माके साथ भी सम्बन्ध युक्त हैं! सभी विज्ञान आत्माका विज्ञान है और सभी क्रियायें आत्माके लिये हैं इन्द्रियादिके विविध विज्ञानोंमें आत्माका ही नित्यज्ञान अभिव्यक्त है, इन्द्रियादि की क्रियाओं में उसी की नित्य शक्ति अभिव्यक्त है। इन सबोंके द्वारा वह नित्य अविकृत आत्मस्वरूप ही प्रकाशित होता है। "उपहार प्रदान,, एवं एकही उद्देश से क्रिया करना—इसके द्वारा श्रुतिने उक्त महातत्त्वकी ही सूचना दी है।

† Compare:—The essence of Energy is that it Can transform itself into other forms, remaining constant in qantity, whereas life does not transmute itself into any form of energy, nor does death effects the sum of energy in any known way. hence life can not be a form of energy. It is something outside the scheme of mechanism, although it can direct material motion subject always to the laws of energy such as assimilation of food, secretion, respiration reproduction etc,—which cease as soon as death occurs)—E. Fry in the Nineteenth century".

यां क्यों न हों—इनमें से किसीके भी द्वारा शरीर जीवित नहीं कहा जा सकता है। शरीरमें प्राणादि प्रकारका सब वायु चक्षु प्रभृति इन्द्रियोंके साथ एकत्र मिलकर एक ही उद्देशसे क्रिया कर रहा है। इसके द्वारा यह अनुमान करना युक्ति सङ्गत है कि, आत्मवस्तु इनसे नितान्त स्वतन्त्र है। ये सब उस आत्माके प्रयोजनार्थ ही, उसीकी प्रेरणावश, उसीके निर्दिष्ट उद्देश्य से, एकमें मिलकर कार्य करते हैं। इस अनुमानके बलसे, देह, प्राण और इन्द्रियादिसे स्वतन्त्र चेतन आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। आत्मा के लिये ही उनका मेल है *। जो साधक आत्माके इस निर्विकार स्वरूप को जानकर देह त्याग करते हैं, वे संसार पाशसे मुक्त हो जाते हैं। परन्तु हाय ? आत्मज्ञानका लाभ न पाकर ही जो इस लोकसे चल देते हैं, उनको फिर इस मृत्युलोकमें आना पड़ता है। इन सब अज्ञानियोंमें से अनेक तो शुक्र शोणितके संयोगसे जरायुज आदि शरीरोंमें जन्म ग्रहण करते हैं, कोई कोई कर्मके विपाकवश निकृष्टतर वृक्षलतादि स्थावर योनियोंमें उत्पन्न होते हैं। पूर्वजन्मकृत कर्मोंके अनुसार ही सब जन्म पाते हैं।

सुषुप्तिके समय सब इन्द्रियां प्राणशक्तिमें विलीन हो जाती हैं। तब जीवको किसी विशेष प्रकारका विषय ज्ञान नहीं रहता। प्राणशक्ति भी यदि उस समय ध्वंसको प्राप्त होती, तो फिर जीव जागकर न उठ सकता, सुप्ति ही महासुप्तिमें पर्यवसित हो जाती। सुषुप्तिके पश्चात् इन्द्रियां फिर उसी प्राणशक्तिसे उद्‌बुद्ध हो उठती हैं। जीव जब गाढ़ सुषुप्तिमें मग्न रहता है, तब भी आत्मचैतन्य जागता रहता है। प्राणशक्तिकी क्रियाके द्वारा ही तब उसका अस्तित्व सूचित हुआ करता है। आत्मा ही सबका कारण, सब का अधिष्ठान है। पृथिवी आदि लोक आत्माकी ही सत्तासे ठहरे हैं।

तेजस्वरूप अग्नि जिस प्रकार एक होकर भी, काष्ठादि दाह्य वस्तुओंके भेदसे, आप भी भिन्न भिन्न रूपसे प्रतीयमान होता है, उसी प्रकार आत्मचैतन्य भी, एक होकर भी, शरीर, भेदोंसे नाना रूपका जान पड़ता है।

---

* इस स्थलमें आनन्दगिरिने कहा है,—यह जो प्राण और इन्द्रियादि का एकत्र मिलन है, सो 'आगन्तुक' (कादाचित्क) है, यह मिलन पहले तो था नहीं, अब हुआ है, सुतरां आगन्तुक होनेसे, यह मिलन क्रिया स्वतःसिद्ध वा स्वाभाविक (नित्य) नहीं है। यह आगन्तुक मिलन अवश्य ही अन्यके द्वारा प्रयुक्त है। आत्मा ही इस मिलनका प्रयोजक है॥

वह शरीरादिसे स्वतन्त्र निर्विकार है। तथापि शरीरादिके साथ होनेसे, शरीरादिके भेदसे उसका भी भेद प्रतीत होता है। वायु प्राणरूपसे सबके शरीरोंमें प्रविष्ट हो रहा है, किन्तु यह प्राण एक साधारण क्रिया स्वरूप होने पर भी, चक्षु आदि इन्द्रियोंकी क्रियाओंके कारण भिन्न भिन्न रूप वाला ज्ञात होता है। प्रकाश करना ही सूर्यका स्वभाव है, सूर्य प्रकाश स्वरूप है, परन्तु वह मूत्र मलादि घृणित पदार्थोंको प्रकाशित करके भी, उनके दोषों द्वारा वास्तवमें लिप्त नहीं होता। वायु और सूर्यकी भांति आत्मा भी, सुख दुःखादि विज्ञानोंको प्रकाशित करके भी, आप सर्वदा अलिप्त ही रहता है। क्योंकि वह उनसे स्वतन्त्र निर्विकार है।

अग्निर्यथैकोभुवनंप्रविष्टो रूपंरूपंप्रतिरूपोवभूव।
एकस्तथासर्वभूतान्तरात्मा रूपंरूपंप्रतिरूपोवहिश्च ॥
सूर्योयथासर्वलोकस्य चक्षुर्नलिप्यतेचाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथासर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यतेलोकदुःखेनवाह्यः ॥

आत्मा नित्य निर्विकार है, परन्तु संसारी लोग भूलसे उसको विकारी मान बैठते हैं। यह बात हम दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। लोग अज्ञानवश कभी कभी रज्जुको सर्प समझ लेते हैं—यह तुमने देखा ही होगा। क्यों ऐसा होता है? रज्जुको रज्जु न जानकर उसे एक अन्य पदार्थ मान लेना—एक सर्प मान लेना इसी प्रकार सीपी को सीपी न जानकर, चांदी समझ लेना एक स्वतन्त्र पृथक् पदार्थ मान बैठना क्या है? ऐसा समझ बैठनेसे क्या रज्जु अपने रज्जुपनको परित्याग कर सर्प हो जाता है? सीपी भी क्या अपना स्वरूप छोड़कर, एक नितान्त स्वतन्त्र पदार्थ अर्थात् चांदी हो जाती है? नचिकेता! विचार करो। सर्प और चांदीके नामसे जब भ्रान्त बोध होता है, तब भी रज्जु ठीक ठीक रज्जु ही रहता है एवं सीपी भी सीपी ही है, इन स्थलोंमें केवल समझके दोषसे ही ऐसा होता है। एक प्रकार का भ्रम उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा, स्वरूपसे सुख दुःखादि शून्य है, तथापि भ्रमज्ञानके कारण लोग आत्माको सुख दुःख रूपी एक भिन्न पदार्थ जानते हैं, सुख दुःखादि तो आत्माकी एक आगन्तुक अवस्था मात्र है, अर्थात् वह आत्माकी अपनी अवस्था नहीं; किन्तु एक नवीन अवस्था अल्प कालके लिये उसमें आ गई है। परन्तु "एक विशेष अवस्थाके उपस्थित

हो जानेसे वस्तु कोई भिन्न पदार्थ नहीं बन जाती है,—इस बातको हम भूल कर आत्माको सुखी दुःखी मानने लगते हैं? अविद्याकाण्डका ऐसा ही प्रलाप है * ।

सर्वगत होकर भी समस्त पदार्थोंमें अनुप्रविष्ट होकर भी आत्मा सब वस्तुओंसे स्वतन्त्र, पृथक् है। वह सब भूतोंका अन्तरात्मा है, इसीसे सबका नियन्ता है। वह नित्य एक रूप है। विशुद्ध विज्ञान स्वरूप एवं अचिन्त्य शक्ति स्वरूप है। आत्म सत्ता ही विविध पदार्थ रूपोंसे नाम रूपात्मक उपाधिरूपोंसे जगत्में अभिव्यक्त हुई है। उसीकी सत्ता सम्पूर्ण पदार्थोंमें अनुस्यूत हो रही है, जिसके सहारे पदार्थ स्थित हैं। कोई भी सत्ता जिस से स्वतन्त्र, स्वाधीन नहीं है † वह मनुष्यके हृदयमें, बुद्धिवृत्तिमें चैतन्य

* एक लौकिक दृष्टान्तसे यह बात भली भांति समझी जा सकती है। भाफ, जल एवं बरफ ये तीनों स्वतन्त्र पदार्थ जान पड़ते हैं। परन्तु क्या वैज्ञानिक भी इनको तीन पृथक् पदार्थ मानते हैं? वैज्ञानिक तो कहते हैं, वे एक ही वस्तुकी पृथक् अवस्था मात्र हैं। एक ही वस्तुने भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें पड़कर, भिन्न भिन्न नाम व रूपका ग्रहण किया है। अब तो इस बातको छोटे छोटे लड़के भी जानने लगे हैं। एक किम्वदन्ती प्रचलित है कि, किसी एक गर्म देश वाले राजाकी सभामें उपस्थित होकर एक परदेशी ने कहा महाराज! मैं अभी उस देशको देखकर आ रहा हूं—जहां शीतके कारण जल जमकर ऐसा कठिन हो रहा है कि, लोग उसके ऊपर आते जाते घूमते और बड़ी बड़ी गाड़ियां चलती हैं। राजाने जन्म भर कभी जलकी कठिन अवस्थाका दर्शन नहीं किया था, न कभी पहले ऐसी बात सुनी थी उस विचारेको मिथ्यावादी मूर्ख बनाकर आपने निकलवा दिया। तुषार को देख कर भी महाराज न समझते थे कि, यह श्वेतकान्ति स्वच्छ स्फटिक के समान वस्तु उसी तरल जलका रूपान्तर है जिसका हम नित्य व्यवहार करते हैं। क्योंकि महाराज अज्ञानी थे। यों ही हम भी भ्रमवश (अविद्यावश) एक वस्तुकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंको, भिन्न भिन्न वस्तु समझते रहते हैं। जब यह भ्रम दूर होगा, तभी यथार्थ ज्ञान होगा। भगवान् भाष्यकारने रज्जु एवं सीपीके दृष्टान्तसे यही बात बतलादी है।

† हम जिसको पदार्थोंकी सत्ता कहते हैं, वह ब्रह्मसत्ता मात्र है। अब तरणिकामें यह तत्त्व आलोचित हुआ है।

रूपसे प्रकट है *। शास्त्र और आचार्यके उपदेशको मानकर, तदनुसार आचरण कर जो साधक ऐसे आत्माको जान सकते हैं, वे ही ब्रह्मज्ञानियोंके अनुभूत अलौकिक आनन्दका लाभ उठाते हैं, जो विषयासक्त अज्ञानी हैं, उनको ब्रह्मानन्द कदापि कहीं भी नहीं मिल सकता।

यह जो जगत् देखते हो, इस के सभी पदार्थ नाश होने वाले हैं; सभी अनित्य हैं, किन्तु इनके मध्य में वह नित्य है †। जल उष्ण होकर अन्य को ताप पहुंचा सकता है, जल की यह उष्णता वा दाहिकाशक्ति अपनी शक्तिनहीं,—यह अग्नि से प्राप्त है। इसी प्रकार, प्राणी वर्गोंका चैतन्य ‡ उस परम चैतन्य स्वरूप परमात्मा से ही मिला है आत्मा सर्वज्ञ और सभी का नियन्ता है। इस लिये सृष्ट पदार्थों में किसका क्या प्रयोजन है, तदनुसार सब बातों का विधान या प्रबन्ध वही करता है। वही सब प्राणियों को

---

* मूलमें 'आत्मस्थ' शब्द है। भाष्यकार कहते हैं, आत्मा निरवयव है, देह उसका आधार नहीं हो सकता। अतः 'आत्मस्थ' का अर्थ हृदयमें (बुद्धिमें) चैतन्य रूपसे अभिव्यक्त है।

† "जगत् के अनित्य पदार्थ शक्तिरूप से तिरोहित होते हैं, यह स्वीकार किये विना चलेगा नहीं। जो वस्तु तिरोहित होती है, वह फिर सजातीय रूप से व्यक्त होती है पदार्थ का एकान्त ध्वंस नहीं होता, वह शक्ति रूप से रहता है। उस शक्तिसे फिर उसी जाति का पदार्थ जन्म लेता है। यह माने विना, असत् से सत् होता है एवं कारणके विना अकस्मात् पदार्थ जन्म पाता है—यह मानना पड़ेगा। प्रलय में पदार्थमात्र का लय शक्तिरूप से होता है। इस शक्ति का ध्वंस नहीं होता। आनन्दगिरि। शङ्कर स्वामी ने भी वेदान्तभाष्य १।३।३० में ठीक ऐसी ही बात कही है। यही शक्ति अनुसरित हो रही है। यही जगत् का उपादान वा परिणामिनी शक्ति है। परन्तु यह शक्ति वास्तव में निर्विकार ब्रह्मसत्ता से स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है। इसलिये ब्रह्मसत्ता ही जगत् में अनुप्रविष्ट हो रही है।

‡ माण्डूक्य गौड़पाद, भाष्य १।६ में शङ्कर कहते हैं—"परमात्म चैतन्य से ही जीवचैतन्य आया है, और प्राणशक्ति से जगत् के पदार्थ उत्पन्न हुये हैं,,। चिदात्मकस्य पुरुषस्य चेतोरूपाः……चेतोंऽशांश्च ये तान् पुरुषः जनयति। ……इतरान् सर्वभावान् प्राणबीजात्मा जनयति यथोर्णनाभिः।

कर्मानुसार फल दिया करता है। जो सज्जन अपने भीतर इस आत्मा का अनुभव कर सकते हैं, वे ही शाश्वती शान्ति के अधिकारी होते हैं। जो सज्जन बाहर के विषयों में व्यस्त नहीं हैं, जो विषयतृष्णा से व्याकुल नहीं हैं वे ही इस अनिर्वचनीय आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। यह अनुभव ही उस परमानन्द के अस्तित्व का प्रकृष्ट प्रमाण है। हाय! बाह्य विषयासक्त पुरुष किस प्रकार इस आनन्द की बात को समझ सकते हैं! जिन्हों ने स्वयं इसका अनुभव नहीं किया, उनकी समझमें यह कदापि नहीं आ सकता है।

सूर्य चन्द्रमा नक्षत्र, विद्युत् प्रभृति तेज पूर्ण पदार्थ कदापि उस को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं हो सकते, प्रत्युत ये सब उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। इस पार्थिव अग्नि की बात तो दूर रही! यह भी वहां निष्प्रभ, निस्तेज है। आत्मा के प्रकाश बिना स्वतन्त्रता से चन्द्र सूर्यादि में प्रकाश करने की शक्ति नहीं है। सूर्यादिक पदार्थ "कार्य„ * मात्र हैं कार्य गत विविध प्रकाश द्वारा उनका 'कारण' भी † नित्य प्रकाशस्वरूप है, यह समझा जाता है। क्योंकि कारण में प्रकाशत्व हुए बिना कार्यों में वह नहीं आ सकता है"।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १५॥ द्वि० अ० पञ्चमी वल्ली।

---

* कार्य—Effects.

† कारण—Cause
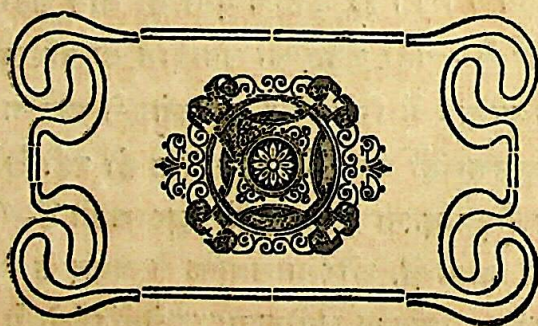
षष्ठ परिच्छेद ।

(संसार वृक्ष का वर्णन)

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थःसनातनः ।

भगवान् यम ब्रह्मविद्याका उपदेश करते करते आनन्दमें मग्न हो गये। बड़ी प्रसन्न दृष्टिसे नचिकेताकी ओर देखने लगे। नचिकेता भी परमकल्याणकारी ब्रह्मतत्त्व श्रवण कर मुग्ध हो गया, परन्तु उसका चित्त अभी पूर्णतया तृप्त नहीं हुआ। यह जानकर यमदेव अति प्रसन्न हुए और कहने लगे—

"सौम्य ! हम फिर तुमको ब्रह्मकथा सुनाते हैं। तुम जगत्के इस नियमकी बात अवश्य ही जानते हो कि, कार्यको देखकर लोग उसके मूल कारणका अनुमान कर लेते हैं। सृष्ट संसार 'कार्य' कहा जाता है एवं ब्रह्म ही इस संसारका 'कारण, माना जाता है। हम उसी मूलकारणकी व्याख्या करते हैं, मन लगाकर श्रवण करो।

नचिकेता ! जीव शरीरकी जिस प्रकार राजपुरीके रूपसे कल्पनाकी जाती है, उसी प्रकार इस संसारकी भी अश्वत्थ वृक्षके रूपसे कल्पना करली जा सकती है *। वृक्षमें जैसे सर्वदा परिवर्तन लक्षित होता है, यही दशा इस संसारकी भी है। इस संसार वृक्षकी जड़ ऊपरको है। इस अदृष्ट अव्यक्त मूलसे उत्पन्न होकर, सूक्ष्म स्थूलके तारतम्यसे यह वृक्ष बड़ा स्थूल हो गया है। अतिसूक्ष्म बीजशक्तिकी सत्तामें ही जैसे वृक्षकी सत्ता है, वैसे ही उक्त अव्यक्त शक्तिकी सत्तामें ही इस संसारकी सत्ता है। वृक्ष जैसे अन्तमें नष्ट होकर अपने बीजमें बिलीन हो जाता है, वैसे ही संसार भी अपने मूलबीजमें अव्यक्तभावसे लीन हो जाता है। मूर्ख लोग जैसे एक अपरिचित वृक्षको देखकर, वह किस जातिके वृक्षोंमें अन्तर्भुक्त है सो बात समझ नहीं सकते, किन्तु जो वृक्ष—तत्त्वज्ञ वैज्ञानिक हैं वे वृक्षकी प्रकृति का विचारकर, वह किस जातिका वृक्ष है सो अनायास बतला दे सकते हैं, वैसे ही इस संसार वृक्षके सम्बन्धमें भी समझो। अज्ञानी अतत्त्वदर्शी जन इस संसारके सम्बन्धमें अनेक प्रकारसे कल्पना जल्पना करते फिरते हैं ? कोई इसे सत् कोई

---

* गीतामें भी अश्वत्थ वृक्षके रूपसे संसारकी कल्पनाकी गई है। देखिये अध्याय १६ श्लोक १—३।

असत्, कोई इसे परिणामी और कोई इसे आरम्भात्मक, इस प्रकार अनेक लोग इस संसारके विषयमें नाना प्रकारकी बातें कहते हैं ! ! किन्तु इसके यथार्थ तत्त्वको तत्त्वज्ञ महानुभाव ही जानते हैं। वेदान्तने, इस संसार की जड़में ब्रह्मकी स्थापना करदी है। जिस भांति वृक्ष बीजसे अङ्कुरादि क्रमसे क्रमशः शाखा पल्लवादिमें सुशोभित होकर अभिव्यक्त हुआ करता है, उसी भांति यह संसार भी अव्यक्तसे अव्यक्तशक्तिसे * हिरण्यगर्भादिके क्रमानुसार व्यक्त हुआ है। अव्यक्त शक्ति ही इस संसार वृक्षका बीज है। इस अव्यक्त शक्तिने सबसे पहले हिरण्यगर्भ रूपसे प्रकाश पाया, सुतरां हिरण्यगर्भको † इस बीजका अङ्कुर समझना चाहिये। यह हिरण्यगर्भ ही सब भांतिके विज्ञान एवं क्रिया शक्तिका समष्टि बीज है, इससे यह ज्ञानात्मक व क्रियात्मक कहा जाता है। क्योंकि, हिरण्यगर्भने ही जब जगत्‌का आकार धारण किया है, तब इस हिरण्यगर्भसे ही तो जगत्‌में विविध विज्ञानों व क्रियाओंका आना सिद्ध होता है ‡। जलसेचन आदिके द्वारा जैसे अङ्कुर क्रमसे वृद्धिको प्राप्त व पुष्ट होता है एवं स्कन्ध, शाखा प्रशाखा, किसलय, पल्लव, पुष्प, फल प्रभृति क्रमशः उद्गत होते हैं, तब वृक्ष पुष्ट व दृढ होता है, यह

---

* अव्यक्त शक्तिका अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य एवं यह अव्यक्त शक्ति ब्रह्मसत्ताकी ही विशेष अवस्था मात्र है सुतरां यह ब्रह्मसत्तासे पृथक् स्वतन्त्र वस्तु नहीं हो सकती। इसी लिये, यद्यपि अव्यक्त शक्ति ही जगत्‌का मूल बीज है, तथापि ब्रह्म ही इसका मूल सिद्ध होता है। इस पर अवतरणिका देखिये।

† कठ उपनिषद्‌के अन्य स्थानमें यह हिरण्यगर्भ भी 'महदात्मा' कहा गया है। सांख्यका महत्तत्व एवं वेदान्तका हिरण्यगर्भ एक ही वस्तु है। यही सूत्र वा स्पन्दन भी है। हिरण्यगर्भका अधिक व्याख्यान अवतरणिकाके सृष्टि तत्त्वमें देखो।

‡ जगत् तो जड़ है, इसमें 'ज्ञान' किस प्रकार आयेगा ? इस शङ्काका समाधान यही है कि चैतन्य साथमें लगा हुआ है। चैतन्यकी अधिष्ठानतामें अव्यक्तशक्तिका परिणाम हुआ है। इस परिणामके संसर्गसे चैतन्यका भी अवस्थान्तर प्रतीत होता है। चैतन्यका (ज्ञानका) यह अवस्थान्तर ही विविध 'विज्ञान' के नामसे परिचित है। अवतरणिका द्रष्टव्य है।

संसार वृक्ष भी अविकल वैसे ही क्रम पूर्वक परिणत होकर दृढ़ हो गया है। वासनारूप जलसे यह अंकुर पुष्ट व दृढ़ हुआ है, एवं इससे प्राणियोंके देह रूप विविध स्कन्ध उद्गत हुए हैं। बुद्धि, इन्द्रिय, और विषय इस वृक्षके नवोद्गत किसलय स्वरूप हैं, श्रुति स्मृति आदि शास्त्रीय उपदेशानुसार ये किसलय पत्राकारमें परिणत होते हैं, एवं यज्ञ दान तपश्चर्यादि कर्मरूप कुसुमोंसे वृक्ष सुशोभित हो रहा है। कटु, तीक्ष्ण, मधुर आदि विविध रस विशिष्ट सुख दुःखादिका भोग ही इस संसार वृक्षका फल कहा जा सकता है। वृक्षमें नाना प्रकारके पक्षी नीड़ों (घोंसलों) को बनाकर वास करते हैं, यह तुमने देखा ही होगा, इस संसार वृक्षकी शाखाओंमें भी * पृथिव्यादि लोकवासी सब जीव नीड़ निर्माण कर निवास करते हैं। पक्षियों की कण्ठ ध्वनिसे वृक्ष निरन्तर मुखरित रहता है, यह भी तुमने सुना है, इस संसार वृक्षकी शाखायें भी तुमुल कोलाहलसे सर्वदा पूर्ण हो रही हैं। संसारके प्राणीगण, रागद्वेषसे संचालित होकर, कभी सुखके मृदङ्गनादसे, कभी दुःखके वज्राघातसे, आनन्दके हास्य व विषादके रोदनसे महा कोलाहल कर रहे हैं। यह वृक्ष कदली स्तम्भवत् असार, अस्थायी और नाना अनर्थों का आकर है, इस वृक्षको छिन्न भिन्न कर डालनेके लिये श्रुतिसे उपदेश रूप शाणित कुठार ले लेना चाहिये। यह संसार वृक्ष अनादि कालसे कर्म वासनारूप वायु वेगसे सदा चञ्चल चला आता है। परन्तु इस संसार तरुकी जड़ ब्रह्म ज्योतिस्वरूप, निर्विकार, शुद्ध, अमृत, अविनाशी एवं सत्य है। ब्रह्म ही परम=सत्य है, दूसरों की सत्यता आपेक्षिक मात्र है। ब्रह्मकी ही सत्ता जगत में अनुस्यूत है,-ब्रह्म सत्ताका ही अवलम्बन कर अन्य सब पदार्थ सुस्थित हैं। किसी की भी स्वतन्त्र वा स्वाधीन सत्ता नहीं है। मृत्तिका की सत्ता ही जैसे घटमें अनुस्यूत है, घट जैसे मृत्तिका की सत्ताका अवलम्बन कर ही स्थित है, वैसे ही यह संसार भी ब्रह्मसत्तासे उत्पन्न हुआ है ब्रह्मसत्ताका अवलम्बन कर स्थित है एवं प्रलयके समय ब्रह्मसत्ता में ही विलीन होकर अदृश्य हो जायगा। ब्रह्मसत्ता को उठालो, फिर देखो जगत् भी नहीं कोई पदार्थ भी नहीं है। इसी लिये, जगत् मिथ्या कहा जाता है,

* देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, उद्भिदादि लोक ही संसार विटपकी शाखा प्रशाखा हैं। एवं इन सब लोकोंके निवासी प्राणी पक्षी रूप से कल्पित किये गये हैं।

केवल एक ब्रह्म ही सत्य माना जाता है। इसी का नाम परमार्थ -दृष्टि है। परमार्थ दृष्टि से बिमुख मूर्ख ही पदार्थों को स्वतन्त्र स्वाधीन सत्ता विशिष्ट माना करते हैं। और जो विद्वान् परमार्थ दृष्टि द्वारा संसार के मूल ब्रह्म को भली भांति जान लेते हैं वेही अमर हो जाते हैं।

असत् शून्य या कुछ नहीं से * जगत् प्रादुर्भूत नहीं हो सकता। सत् ब्रह्म वस्तु ही † जगत्का मूल है? इस सद्ब्रह्मका 'प्राण, शब्द से भी निर्देश होता है ‡। यह प्राण ब्रह्म ही जगत् का कारण है, स्थितिकाल में भी जगत् इस प्राण ब्रह्म में ही अवस्थान करता है और प्रलयमें जगत् प्राण ब्रह्म में ही लीन हो रहता है +। प्रहारोद्यत प्रभुके भयसे जैसे भृत्यवर्ग अ-

---

* कुछ नहीं—Form mothing

† शक्ति सम्बलित ब्रह्मको 'सद्ब्रह्म, कहते हैं। "ब्रह्मणः सल्लक्षणस्य शबलत्वाङ्गीकारात्,, आ० गि० गौड़पादकारिका १। ६। जगत् की उपादान अव्यक्त शक्ति द्वारा ही 'सद्ब्रह्म, कहा जाता है। जगत् उस शक्ति का ही विकाश है। ब्रह्मशक्ति से वह शक्ति स्वतन्त्र सत्तावाली नहीं। तब जगत् ब्रह्मसे ही विकाशित हुआ है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। "बीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव.........सतः "सत्, शब्दवाच्यता,,=शङ्कर भाष्य, गौड़पादकारिका १। ६।

‡ अव्यक्त शक्ति का ही दूसरा नाम 'प्राण, है। ब्रह्म इसी के योगसे प्राण ब्रह्म कहाता है। अवतरणिका देखिये। शङ्कर ने कहा—"प्रलयमें यदि सब पदार्थ निर्वीजभावसे ही ब्रह्ममें लीन होते, तो फिर पदार्थ अभिव्यक्त न हो सकते थे। अतएव सबीजरूपसे ही ब्रह्मका प्राण शब्दसे निर्देश होता है। निर्वीजतयैव चेत् सति लीनानां सम्पन्नानां सुषुप्तिप्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात्.......बीजाभावाविशेषात्।..........तस्मात्सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः—गौड़पादकारिका भाष्य १। ६ आनन्द गिरिने भी कहा है शशविषाणादेरसतः समुत्पत्त्यदर्शनात् सत्पूर्वकत्वप्रसिद्धेश्चास्ति सद्रूपं वस्तु जगतोमूलं, तच्च प्राणपदलक्ष्यं, प्राणप्रवृत्तेरपिहेतुत्वात्,,। ब्रह्म प्राणकी भी प्रवृत्तिका हेतु है, सुतरां ब्रह्मको भी प्राण कहते हैं।

+ प्रलीयमानमपि चेदं जगत् शक्त्यवशेषमेव प्रलीयते, शक्तिमूलमेव च प्रभवति, वेदान्त भाष्य।

पना अपना कार्य सम्पादन करते हैं वैसे ही इन सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदिकों से युक्त यह जगत् भी प्राण ब्रह्म के ही शासनसे अपने कार्य में नियुक्त है। जीवों की सब क्रियाओं के मूल में भी यह ब्रह्म वर्तमान है। यह निर्विकार रूप से—साक्षीरूप से—समस्त क्रियाओं का प्रेरक है। जो विद्वान् ब्रह्म के ऐसे स्वरूप को जानते हैं, वे अमृत हो जाते हैं *।

इसीके शासन भयसे अग्नि और सूर्य ताप व आलोक प्रदान करते हैं एवं वायु प्रवाहित होता है। लोकपाल इन्द्र भी इसीके भयसे वृष्टि आदि क्रिया करते हैं पञ्चम पदार्थ मृत्यु भी, इसीके भयसे, यथासमय प्राणियोंको ले जाती है। ये सब आधिदैविक पदार्थ जो नियमानुसार निज निज क्रिया में समर्थ होते हैं, इनका यह सामर्थ्य ब्रह्मसे ही लब्ध होता है। जो भाग्यशाली शरीर शिथिल होनेसे पूर्व ही इस ब्रह्म पदार्थको जान सकते हैं, वे ही इस संसारके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। और जो अविद्या दास जन ब्रह्मको नहीं जान पाते, उनको शरीर छोड़ कर फिर भी बार बार पृथिवी आदि लोकोंकी अनेक योनियोंमें जन्म लेकर घूमना पड़ता है! अतएव जब तक मृत्यु आकर ग्रास नहीं करती तब तक अतिशीघ्र ब्रह्मको जाननेके लिये प्रयत्न करना प्रधान कर्तव्य है †। मनुष्यका प्रतिविम्ब जैसे निर्मल दर्पणमें सुस्पष्टतया प्रतिफलित होता है, वैसे ही यहां निर्मल बुद्धिमें ब्रह्मस्वरूप स्पष्ट प्रतिभात होता है। जैसे स्वप्नमें जाग्रत् कालके अनुभूत विषय सम्बन्धी विज्ञान केवल संस्कार रूपसे अनुभूत हुआ करते हैं, वैसे ही पितृलोक में भी कर्मफलोंकी वा सभाओं द्वारा चित्त कलुषित रहनेसे स्पष्ट ब्रह्मदर्शन सम्भव नहीं होता। आत्मप्रतिविम्ब जैसे पङ्किल जलमें मलीन देख पड़ता है, वैसे ही गन्धर्वलोक एवं अन्य लोकोंमें भी जीवका चित्त कुछ न कुछ मलीन रहनेसे, पूर्ण रीतिसे ब्रह्मानुभूतिका लाभ नहीं होता है। छाया एवं आलोक जैसे अत्यन्त भिन्न एवं सुस्पष्ट हैं, ब्रह्मलोकमें वैसे ही अत्यन्त स्पष्टता एवं स्वतन्त्रतासे ब्रह्मकी पूरी अनुभूति हुआ करती है। किन्तु जीव

---

* पाठक भाष्यकार की इन उक्तियोंको विशेष कर लक्ष्य करें। शङ्कर स्वामी क्या ब्रह्मको शक्ति स्वरूप एवं सब प्रकारकी क्रियाका प्रेरक नहीं कह रहे हैं?

† क्योंकि केवल इस लोकमें एवं ब्रह्मलोकमें ब्रह्मको उत्तम रीतिसे जान सकते हैं। अन्य लोकोंमें ब्रह्मदर्शन भली भांति नहीं होता।

के पथमें यह ब्रह्मलोककी प्राप्ति सहज साध्य नहीं है। सुतरां इसी लोकमें चित्तको विशुद्ध करने एवं ब्रह्मानुभूति लाभ करनेके निमित्त उद्योग करना अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है।

चक्षु कर्णादिक इन्द्रियां, रूपादि विषयोंके ग्रहणार्थ, अपनी कारण-शक्ति से * पृथक् पृथक् उत्पन्न हुई हैं। ये इन्द्रियां चित्स्वरूप ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न भांतिके पदार्थ हैं †। जाग्रत् अवस्था व स्वप्नावस्थामें विषयों के साथ इन्द्रियां खेला करती हैं। जाग्रत् अवस्थामें स्थूल विषयोंके योगसे इन्द्रियां क्रिया करती हैं एवं स्वप्नावस्थामें केवल वासनाकारसे संस्कार रूपसे अपना काम किया करती हैं। फिर सुषुप्तिमें वे प्राण शक्तिमें लीन हो रहती हैं। पुनः जाग्रत् अवस्थामें उक्त प्राणशक्तिसे ही इन्द्रियां व्यक्त होती हैं। आत्म चैतन्य इस शक्तिसे भी स्वतन्त्र है। जो विवेकी इस आत्मस्वरूपको भली भांति जान जाते हैं, वे दुःख शोकादिसे मुक्त हो जाते हैं।

इन्द्रियाणांपृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वाधीरो न शोचति॥

विषय एवं इन्द्रियां—ये एक जातीय पदार्थ हैं। ये एक परिणामिनी शक्तिकी ही परिणति हैं ग्राह्य व ग्राहक इन दोनों भावोंकी अभिव्यक्ति हैं ‡। मन इन दोनोंसे सूक्ष्मतर एवं व्यापकतर है। + मनसे भी अधिक सूक्ष्म एवं व्यापक बुद्धि है। इस व्यष्टि बुद्धिसे भी अधिक सूक्ष्म व व्यापक समष्टि बुद्धि वा महत्तत्त्व है ×। इस महत्तत्व से भी अव्यक्त शक्ति अधिक-

---

* अव्यक्त शक्ति ही तेज, आलोक, जलादि आकारोंमें अभिव्यक्त होती है। वही फिर प्राणी राज्यमें भी देह व इन्द्रिय आदि रूपोंसे प्रकट होती है। सुतरां अव्यक्त शक्ति वा परिणामिनी शक्तिसे ही इन्द्रियां उत्पन्न हुई हैं।

† ये जड़ हैं और ब्रह्म चेतन है।

‡ पहले अध्यायका तीसरा परिच्छेद देखो। प्रथम खण्डका श्वेतकेतु उपाख्यान पढ़ो।

+ प्रथम अध्याय, तृतीय परिच्छेद देखो।

× महत्तत्वका विस्तृत विवरण अवतरणिका के सृष्टि तत्त्वमें दिया गया है। अन्तःकरण नामक वस्तुकी वृत्ति भेद वश ही मन और बुद्धि संज्ञा पड़ी है।

तर सूक्ष्म व व्यापक है। और पुरुष चैतन्य अव्यक्त शक्तिसे भी व्यापक हैं, क्योंकि यही आकाशादि समस्त पदार्थोंका कारण है। बुद्धि आदिक जड़ कार्यगण जैसे अपने उपादान अव्यक्त शक्तिके परिचायक चिन्ह वा लिङ्ग हैं उस प्रकार ब्रह्म पदार्थका कोई चिन्ह नहीं कारण कि ब्रह्म अव्यक्तसे स्वतन्त्र व निरुपाधिक है। ब्रह्म कार्य और कारण दोनों से परे है। आचार्यों के सदुपदेशसे ब्रह्मका ऐसा स्वरूप जान लेने पर, इस जीवनमें ही जीव अविद्यादि हृदय ग्रन्थि को छिन्नकर अमृतपदके लाभमें समर्थ हो जाता है।

हम तुमसे कह चुके हैं कि, इस पुरुष चैतन्यका परिचायक कोई चिन्ह वा लिङ्ग नहीं है। यदि यही बात ठीक है, तो इसके जाननेका उपाय क्या है? यह सर्वातीत पुरुष इन्द्रियादिका ग्राह्य नहीं है किन्तु यह विशुद्ध बुद्धि वृत्तिमें प्रकाशित हुआ करता है। यह बुद्धिके प्रकाशक रूपसे साक्षी रूपसे एवं प्रेरक रूपसे अवस्थित रहता है। केवल इस प्रकार से ही यह जाना जाता है। इसे जानकर अमृत पदके अधिकारी बनो॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तु रमृतत्वञ्च गच्छति ॥८॥
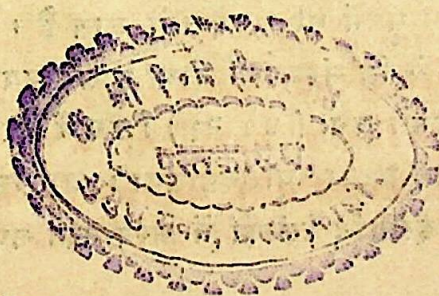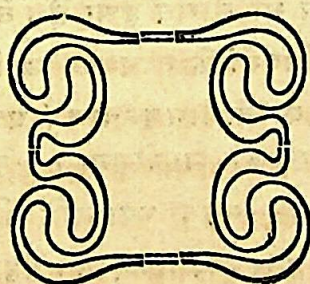
सप्तम परिच्छेद ।

(अध्यात्म-योग और मुक्ति)

भगवान् यम फिर समझाने लगे—

"हे प्रिय नचिकेता ! ब्रह्मप्राप्ति ही जीव का लक्ष्य होना चाहिये एवं यही पुरुषार्थसाधक है, यह बात हम तुम से कह चुके हैं । अब ब्रह्मप्राप्ति के उपायभूत योग की चर्चा करेंगे । अनादि कालसे जीवका मन, विषय तृष्णा द्वारा आच्छन्न हो रहा है । मन सर्वदा विषयों की चिन्ता में व्यस्त रहता, है । इस लालसाकी तृप्ति नहीं होती । एक लालसा पूरी हुई नहीं कि दूसरी खड़ी हो गई । अर्थात् दूसरे विषय के लिये मन व्यग्र हो उठा । अन्त में यहां तक होता है कि, प्रवृत्ति के ऊपर आत्मा का जो कर्त्तृत्व है वह मन में नहीं आता । तब तो जीव, प्रवृत्तियों का महादास सा बन जाता है किसी भी एक विषय सम्बन्धिनी प्रवृत्ति के उठने पर जीव उस का शासन नहीं कर सकता,—वह प्रवृत्ति ही जीव को अपने मार्ग में खींच ले जाती है । बिचारा जीव रज्जुबद्धबैलकी भांति प्रवृत्तियों के पीछे पीछे दौड़ता रहता है । प्रवृत्तिका पराक्रम वा विषय-लालसा का प्रभाव ऐसा ही है ? अपना कल्याण चाहने वालों को सर्वदा सावधान रहना चाहिये, निरन्तर जागते रहना चाहिये । वैषयिक प्रवृत्तिवर्ग जीवको जकड़कर यथेच्छ खींच न ले जा सके, तदर्थ नित्य सचेत रहना चाहिये * । पुरुषार्थ का अवलम्बन

---

* श्रुतिमें इस का उपाय भी वर्णित हुआ है । वैराग्य तथा अभ्यास द्वारा मन शान्त हो सकता है । विषयों के नश्वरत्व आदि दोषों का नित्य अनुध्यान एवं विषय कामना का दोषानुसन्धान (प्रवृत्ति की दासता में किस भांति अधोगति होती है, इसकी आलोचना)—इसी का नाम 'वैराग्य, है । और ब्रह्म विषयक श्रवण-मनन-ध्यानादि की बार बार आवृत्ति ही 'अभ्यास, कहलाती है । (माण्डूक्यभाष्य, ३ । ४४) । "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्"-वेदान्तदर्शन के इस सूत्रमें भी अभ्यासकी बात है । गीतामें भी इस अभ्यास का उपदेश है । "ये हि संस्पर्शजा दोषा दुःखयोनय एव ते । आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः (५ । २२) । इस में वैराग्य का उपदेश है । और "शनैःशनैरुपरमेत् बुद्धया धृतिगृहीतया । आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्,,-इत्यादि श्लोकों में अभ्यासका उपदेश है ।

कर, आत्मशक्तिको इस प्रकार जाग्रत् रखना चाहिये कि, फिर आत्मशक्ति प्रवृत्तियों द्वारा आवृत न हो पड़े किन्तु प्रवृत्तियां ही आत्माके वशीभूत हो रहें। इस प्रकार, आत्मशक्ति के सञ्चालन द्वारा, ऐसी चेष्टा होनी चाहिये कि, मन का विषय-चाञ्चल्य दूर हो कर, इन्द्रियां शान्तभाव से आत्मा के वश हो रहें। यही परमागति, प्रकृष्ट उपाय है।

चित्त की इस चाञ्चल्य—रहित अवस्था का ही नाम 'योग, है ! इस अवस्था में विषय-सम्बन्ध रहते भी' वैषयिक प्रवृत्तियों के उपस्थित होने पर भी,—चित्त चञ्चल नहीं हो पड़ता। इसी लिये, इसका 'वियोग' नाम से भी योगीजन निर्देश करते हैं। इस अवस्था में, चित्तका वाह्य व आन्तर दोनों प्रकार का ही चाञ्चल्य स्थिर हो जाता है। तब केवल ब्रह्मचिन्ता द्वारा ही चित्त पूर्ण रहता है। कदाचित् इस समय भी किसी विषय चिन्ता का उदय हो, तो बड़े प्रयत्न से व सावधानी के साथ विषयके दोषों एवं अनर्थकारी पन का अनुसन्धान कर, उस चिन्ता का उच्छेद करना एवं ब्रह्मचिन्ताको प्रादुर्भूत करना चाहिये। इस प्रकार प्रमाद शून्य होकर, दृढ़ एकाग्रताका अनुशीलन करते रहो। उत्पन्न होकर यह योगावस्था चली न जाय, इस लिये जागरूक रहकर अप्रमत्तभाव से अभ्यास व वैराग्य में डटे रहो।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

तुम्हारे मन में एक शङ्का उठ सकती है। उसका उत्तर हमने पहले से ही दे रखा है। शङ्का इस प्रकार होगी कि, इन्द्रियों सहित बुद्धि जब वाह्य विषयों से हटा कर विलीन कर दी गई, तब तो बुद्धि 'शून्य, में पर्यवसित हो गई! जिसको हमारी इन्द्रियां ग्रहण कर सकती हैं हम उस वस्तु का ही अस्तित्व समझ सकते हैं। जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है, उसे हम समझ नहीं सकते। सुतरां उसका अस्तित्व भी स्वीकृत नहीं हो सकता किन्तु नचि-केता! एक विषय को विवेचना पूर्वक देखलो, तुम्हारी शङ्का दूर हो जा-यगी। निर्विशेष होनेसे ब्रह्म वस्तुको चक्षु आदि इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं, यह वात सत्य है। परन्तु वह 'शून्य, नहीं है। कार्यमात्र ही निज कारण में लीन हो जाता है-शून्य में नहीं विलीन होता। टूट फूट जाने पर

घड़ा मृत्तिका रूप से टिकेगा, न कि वह शून्य में परिणत हो जायगा। स्थूल कार्योंको समेटकर कारण भी सूक्ष्म कारण में और सूक्ष्म कारण भी अपनी अपेक्षा अधिक सूक्ष्मतम कारण में विलीन हो रहता है। इस प्रकार कितनी ही सूक्ष्मता क्यों नहो, कार्य मात्र ही कारण में लीन हो जाता है, यह हमारा विश्वास कभी जा नहीं सकता। कार्य के ध्वंस होने पर कारण का अस्तित्व रह ही जाता है। हमारी बुद्धि ही बतला देती है कि, कार्य तिरोहित होकर, अपने कारण में लीन हो रहते हैं। इसी प्रकार, बुद्धि इस स्थूल जगत् के एक सूक्ष्म मूल कारण में विश्वास करती है। विषयवर्ग विलीन होकर, अपने उपादान—कारण में ही लीन हो गए हैं, इस विश्वास को हमारी बुद्धि कदापि छोड़ नहीं सकती *। यह कारणसत्ता ही कार्यों में अनुस्यूत होकर रहती है। जिसको हम 'कार्य, कहते हैं, वास्तव में वह अपनी कारणसत्ता का 'आकार, मात्र है। घट, शराव आदि जो मृत्तिका के 'कार्य, हैं, वे वास्तव में मृत्तिका के ही आकार-भेद मात्र हैं। इन आकारोंका ही ध्वंस होता हैं,-निरन्तर रूपान्तर हुआ करता है, सर्वदा परिवर्तन होता है। किन्तु आकारों में अनुस्यूत जो मृत्तिका है उस का तो कुछ भी नहीं बिगड़ता। वह तो आकारों की उत्पत्ति से पूर्व में जैसी थी, वैसी ही अब आकारों के ध्वंस होने पर भी बनी है। इस दृष्टान्त की सहायता से इस समय तुम यह अवश्य समझ सकते हो कि, जिसको मनुष्यगण वृक्ष, लता, पर्वत, नदी पक्षी प्रभृति पदार्थ कहते हैं, वे यथार्थ में अपनी कारण सत्ता के भिन्न भिन्न 'आकार, मात्र हैं। इन आकारों के मिट जाने पर भी उस कारणसत्ता की कोई हानि नहीं हो सकती। अर्थात् कार्यध्वंस होने पर भी कारण के अस्तित्व में बुद्धिका सुदृढ़ विश्वास है। और सुनो, इस जगत् का यदि एक मूल कारण न होता तो जगत् के पदार्थों को लोग असत् समझते—पदार्थों की सत्ता का बोध न हो सकता। वह मूलसत्ता पदार्थों में अनुस्यूत हो रही है, इसी से हम पदार्थों को सत्तावान् समझते हैं। जगत् की उस मूल सत्ता का ही नाम 'ब्रह्म, समझो। ब्रह्म ही जगत्

---

* "स्थूलस्य कार्यस्य विलये सूक्ष्मं तत्कारणमवशिष्यते, तस्यापि विलये ततः सूक्ष्ममिति यावद्दर्शनव्याप्तिमुपलभ्य यत्र न दृश्यते तत्रापि मूर्त्त विलयस्य अवश्यम्भावित्वात् सन्मात्रमेवामूर्तमवशिष्यते,,—आनन्दगिरि।

का मूल कारण है। ब्रह्मसत्ता ही जगत् में अनुप्रविष्ट हो रही है एवं जगत् के समस्त पदार्थ उस सत्ता द्वारा ही सत्ता विशिष्ट हैं *।

कार्य कारणकी प्रणालीके अनुसार इसी प्रकार जगत्के मूल कारण ब्रह्म के अस्तित्व वा सत्ताकी उपलब्धि की जाती है। इस भांतिका अस्तित्व ज्ञान जिनमें है उनके ही निकट ब्रह्म प्रकाशित हुआ करता है। अतएव इन्द्रियों व बुद्धिको योगानुष्ठान कालमें आत्मामें विलीन करके, उस आत्माके अस्तित्व की भावना करते रहो। बुद्धि के मूल में सत्ता को स्वीकार कर † उक्त रीति से ही आत्मा की भावना करना कर्तव्य है। कार्य वस्तुओं के कारण रूप से ही आत्मा वा ब्रह्म की सत्ता स्थिरीकृत होती है। किन्तु इस के अतिरिक्त भी आत्मा का एक "तत्त्वभाव" वा स्वरूप है। यह कार्य और कारण दोनों के अतीत है। यह असत् और सत् दोनों प्रकार के प्रत्यय के बहिर्भूत है। आत्मा का यह दो प्रकार का स्वरूप निर्गुण एवं सगुण है। एक निर्विशेष सत्ता, है। दूसरी सविशेष सत्ता है। कार्य के द्वारा जैसे कारण की सत्ता (सविशेष सत्ता) स्थिर करली जाती है वैसे ही कारण सत्ता के द्वारा भी निर्विशेष सत्ता स्थिर करली जाती है ‡। मुमुक्षु सज्जन इन दोनों

---

* पाठक शङ्कर स्वामी की इस युक्ति को भली भांति विचार कर देखें। ब्रह्म ही जगत् में अनुस्यूत है एवं जगत् ब्रह्मद्वारा अन्वित है—इसका अर्थ क्या है! जगत् में शक्ति रूप से ही विलीन हो जाता है, सुतरां शक्ति ही जगत्का उपादान कारण है; यह शक्ति ही पदार्थों में अनुप्रविष्ट हो रही है। इसी लिये भाष्यकार ने लिखा है "प्रलीयमानमपि चेदं जगत् शक्त्यवशेषमेव प्रलीयते, शक्तिमूलमेव च प्रभवति"। यह शक्ति ही ब्रह्मसत्ता है। यह निर्विशेष ब्रह्मसत्ता से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। क्योंकि निर्विशेष सत्ता ने ही सृष्टि के प्राक्काल में एक विशेष आकार (व्याचिकीर्षित अवस्था) धारण किया था शङ्कर ने इसी प्रकार ब्रह्म को जगत् का मूल कारण माना है। इस बात को न समझनेवाले कहते हैं कि शङ्कर शक्ति को न मानते थे।

† अपने अस्तित्व के लिये कोई प्रमाण आवश्यक नहीं सभी इस बात का अनुभव रखते हैं। "आत्मनस्तु प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्......य एव निराकर्त्ता तस्यैवात्मत्वात्—„ वे० भा० १।१।४।

‡ "सोपाधिके प्रथमं स्थिरीकृतस्य तद्वारेण लक्ष्यपदार्थावगमे सति क्रमेण वाक्यार्थावगतिः सम्भाव्यते—"आनन्दगिरि। अव्यक्तशक्ति आगन्तुक शक्ति

स्वरूपों की साधना करते हैं। पहले शक्तिसम्वलित स्वरूप का अवलम्बन कर भावना करते रहने से क्रमशः उस शक्ति से भी परे पूर्णस्वरूप की धारणा दृढ़ होती जाती है। यही ब्रह्म का निरूपाधिक स्वरूप है। श्रुतियों में यह स्वरूप 'नेति नेति—वह यह नहीं वह नहीं, इस प्रकार चिन्ता द्वारा निर्दिष्ट हुआ है *। परमार्थतः दोनों स्वरूप ही अभिन्न हैं।

बुद्धि ही सब प्रकारकी कामनाओंका आश्रय है। अज्ञानावस्थामें यह बुद्धि ही—रूप रसादि इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थोंको ब्रह्मसत्ता से स्वतन्त्र समझ-कर, उनकी कामनामें अनुरक्त होती है। किन्तु ज्ञानकी वृद्धिके साथ साथ बुद्धि समझने लगती है कि, ब्रह्मसत्तामें ही पदार्थोंकी सत्ता है, ब्रह्मसत्ताके उठा लेने पर, पदार्थोंकी सत्ता भी तिरोहित हो जाती है। ऐसी धारणा दृढ़ होने पर, साधक सज्जन केवल ब्रह्मकामना ही करते हैं, ब्रह्म ही उन की कामनाका एक मात्र लक्ष्य हो जाता है। अज्ञानावस्थाके मिटने पर जब यथार्थ परमार्थ दृष्टि उत्पन्न होती है, तब अविद्या काम कर्म की ग्र-न्थि † छिन्न हो जाती है एवं तब साधक अमर हो जाता है। इस जीवन में ही, प्रदीप निर्वाणकी भांति ‡ उसे पूर्णब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

यदासर्वेप्रभिद्यन्ते हृदयस्येहग्रन्थयः।
अथमर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥

है, सुतरां ब्रह्म इससे स्वतन्त्र है। यह निर्विशेष सत्ताकी ही—एक विशेष अवस्था अभिव्यक्तकी उन्मुखावस्था मात्र है। कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अर्थात् पूर्ण ब्रह्म—इस एक अवस्था के उपस्थित होने से ही कोई एकभिन्न वस्तु नहीं हो जाता है। अवस्था भी कोई भिन्न वस्तु नहीं। ब्रह्म सर्वदा ही पूर्णस्वरूप है।

* ब्रह्म के इस स्वरूपको लक्ष्य करके ही वेद ने अस्थूल, अनणु, अदीर्घ अस्नेह अलोहित अचक्षु, और अप्राण प्रभृति विशेषण दिये हैं। अनात्म्य, अदृश्य, अनिलयन प्रभृतिके द्वारा भी यही स्वरूप लक्षित हुआ है।

† पदार्थोंकी अपनी अपनी स्वाधीन सत्ता है, इस ज्ञानसे पदार्थोंके दर्शनका नाम 'अविद्या' है। इस प्रकार 'स्वतन्त्र, वस्तु रूपसे वस्तुओंके लाभकी इच्छाको 'काम, एवं उसके लाभार्थ कर्मानुष्ठानको 'कर्म, कहते हैं।

‡ प्रदीप निर्वाणकी बात मुण्डकमें भी भाष्यकार ने कही है। देखो द्वितीय अध्याय का पञ्चम परिच्छेद।

इस कामनाका—विषय लालसा का समूल उच्छेद किस प्रकार किया जाता है? जब साधक ब्रह्मसे अलग स्वतन्त्रभावसे और विषयोंकी उपलब्धि नहीं करता है, इस लोकके धन जनादि ऐश्वर्यके भोग अथवा परलोकके स्वर्गादिकी प्राप्तिकी कामना न करके जब केवल ब्रह्मानुसन्धान * और ब्रह्म प्राप्ति की कामना करता रहता है एवं विषय कामनासे रहित केवल ब्रह्म के अर्थ ही † कर्मका आचरण करता है, अर्थात् जो कुछ कर्मका आचरण करता है सो सब केवल ब्रह्मके उद्देशसे ही करता है, तब साधककी अविद्या नष्ट हो जाती है। तब यह मरण धर्मवाला मनुष्य अमर हो जाता है, इस में सन्देह नहीं। यही सब वेदान्तका उपदेश है। जिनके इस जीवनमें उक्त अद्वैत ज्ञानकी उपलब्धि हो जाती है मृत्युके पश्चात् उनको फिर, अपरिपक्क साधकों की भांति, किसी लोकविशेषमें गति ‡ नहीं होती।

किन्तु जिनमें अभी पूर्ण अद्वैतज्ञान नहीं जन्मा, कुछ भेद बुद्धि बनीहै, वे मृत्युके पश्चात् ब्रह्मलोकको जाते हैं। वहां पर अद्वैतज्ञानकी परिपक्कता व दृढ़ता होने पर, अन्तमें वे भी मुक्तिका लाभ करते हैं। तुमको पहले जो अग्नि विद्याकी कथा सुना चुके हैं, उसका भी फल इस ब्रह्मलोकका पाना है। किस प्रकार किस मार्गसे यह गति होती है, अति संक्षेपसे सो भी बतलाये देते हैं। हृदय ग्रन्थिसे निकल कर बहुत सी नाड़ियों नसोंने शरीर को व्याप्त कर रखा है। उनमें एक नाड़ी (सुषुम्ना) मस्तक पर्यन्त चली गई है। इस नाड़ीके मार्गसे ब्रह्मरन्ध्र होकर साधककी गति होने पर, सूर्य की किरणोंके अवलम्बन द्वारा वह साधक सूर्यके आलोकसे प्रदीप्त पथ में होकर ब्रह्मलोक को जाता है। वहां ब्रह्म के ऐश्वर्य एवं महिमा का अनुभव करता हुआ क्रमशः अपने चित्तमें अद्वैत ज्ञानको सुदृढ बनाता है। उस ब्रह्मलोकसे फिर उसको लौटना नहीं पड़ता। वहींसे उसको मुक्ति मिल

---

* सब पदार्थों और बुद्धिमें ब्रह्मसत्ताका अनुसन्धान।

† मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा। निराशीर्निर्ममोभूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः। ब्रह्मण्याधाय कर्माणि इत्यादि गीता।

‡ जो उन्नत लोकोंमें सर्वत्र केवल ब्रह्मैश्वर्य देखनेके इच्छुक हैं, वैसे साधकोंकी ही ब्रह्मलोकमें गति होती है। अभी भी कामनाने एक बार ही इनका पीछा नहीं छोड़ा।

जाती है। और इसकी अपेक्षा निकृष्ट साधकोंकी साधना व ज्ञानके तारतम्यानुसार, देहके अन्यान्य छिद्रों द्वारा विविध उन्नत स्वर्गोंमें गति हुआ करती है।

सब जीवोंके हृदयमें, अङ्गुष्ठपरिमित स्थानमें, आत्माका स्थान है इसी स्थानमें आत्मा विशेष रूपसे अभिव्यक्त होता है यह बात तुमसे पहले कह आये हैं। मूंज * नामकी घाससे तन्मध्यस्थ ईषिका † (सींक) जैसे पृथक् करली जाती है, वैसे ही धैर्यके साथ अति प्रयत्नसे आत्माको भी इस शरीर आदिसे स्वतन्त्र समझ कर, ज्ञान बढ़ानेमें सर्वदा अभ्यास करना चाहिये यह सर्वातीत स्वरूप ही आत्माका ठीक रूप है। यही उपाधिवर्जित शुद्ध ब्रह्म कहा जाता है।

हे सौम्य! तुम्हारे उत्साहवश यह हमने अध्यात्मयोगके सहित आत्मा की स्वरूप विषयिणी ब्रह्मविद्याका कीर्तन किया। तुम्हारी इस विद्याभिरुचिसे हमें बड़ी ही प्रसन्नता हुई है। तत्वकी बात विचारनेमें ही हम नित्य आनन्द पाते हैं। ब्रह्मकथा उठने पर हम अन्य सब विषयोंको भूल जाते हैं। तुम्हारे मृत्युलोककी एक सौम्यदर्शना नारी ने भी एक दिन तत्व सम्बन्धी बात चीतकी थी। हम ने आनन्दमग्न होकर उस के कर्म फलका परिवर्तन कर दिया था ‡। प्यारे गौतम! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपने पिताके पास लौट जाओ। वे प्रसन्नचित्त से तुमको देखनेके लिये बड़े उत्सुक हो रहे हैं। तुमको यहां जो ब्रह्म विद्या मिली है वह दिन दिन परिपुष्ट होती रहे।

मृत्युप्रोक्तांनचिकेतोऽथलब्ध्वा विद्यामेतांयोगविधिञ्चकृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तोविरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवंयोविदध्यात्ममेव॥

ओम् सहनाववतुसहनौभुनक्तु। सहवीर्यंकरवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

---

* मूंज—Brush or reed † ईषिका Fibre or pith

‡ पाठक समझ गये होंगे कि, हम सावित्री देवीकी बात कह रहे हैं। मूलमें यह बात नहीं लिखी है। हमने स्वयं यह बात यमके मुखसे कहलाई है। पाठक क्षमा करें।

इस लम्बी आख्यायिकासे हमको जो उपदेश मिले हैं, उनको यहां पर एक संक्षिप्त तालिका दी जाती है।

१। प्रेय एवं श्रेय नामक दो मार्गोंका विवरण। एकका फल संसार, दूसरेका फल मुक्ति है।

२। ओङ्कारके अवलम्बनसे ब्रह्म साधना। प्रतीकोपासना और स्वरूपहुपासना का विवरण। बुद्धि वृत्ति के प्रेरक तथा अवभासक रूप से ब्रह्म साधना।

३। आत्मा जड़ीय विकारोंसे स्वतन्त्र है। जीवात्मा और परमात्मा किसे कहते हैं?

४। शरीर रथका विवरण। मनु इन्द्रिय और बुद्धिकी सहायतासे ही, प्रयत्नसे ब्रह्म पदका लाभ घट सकता है।

५। अव्यक्त शक्तिसे किस प्रकार पञ्चसूक्ष्म भूत एवं देह व इन्द्रियादि की अभिव्यक्ति होती है, इसका संक्षिप्त विवरण। हिरण्यगर्भ किसे कहतेहैं।

६। जीवात्माके स्वरूपका निर्णय।

७। देह पुरी एवं संसार वृक्षका वर्णन।

८। परमात्माके स्वरूपका कीर्तन। परमात्म शक्ति ही जगत्का मूल कारण है। कोई भी पदार्थ ब्रह्मसत्तासे पृथक् स्वतन्त्र नहीं है।

९। अध्यात्म योगका उपदेश। बुद्धिगुहा में ब्रह्मानुभव।

१०। मुक्तिका स्वरूप कीर्तन।
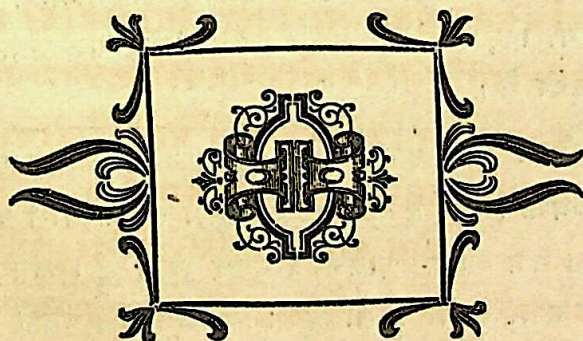
द्वितीय अध्याय।

शौनक—अङ्गिरा—सम्वाद

प्रथम परिच्छेद।

(अपरा विद्या)

शौनकोहवैमहाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नुभगवोविज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥

पूर्वकालमें शुनक नामक एक वड़े समृद्धि शाली गृहस्थ थे। इनका एक पुत्र था। जिसने ऋषियोंके मुखसे सुना था कि, एक ऐसा पदार्थ है जिसका भली भांति ज्ञान हो जानेसे जगत्के सभी पदार्थोंका जानना सहज या अनायाससाध्य हो जाता है *। शौनकने यह बात बहुत वार सुनी थी सही, तथापि किस अभिप्राय से ऋषिगण ऐसा कहते हैं एवं किस उपायसे उस पदार्थका ज्ञान प्राप्त हो सकता है, यह कुछ विदित न होता था। उसी समय अङ्गिरा नामक ब्रह्मर्षि ब्रह्मवेत्ता विद्वान्की सुकीर्ति शौनकके श्रुतिगोचर हुई महात्मा अङ्गिरा ब्रह्मविद्याके समस्त तत्वों उनके दार्शनिक सिद्धान्तों तथा उपासनाकी परिपाटीको भली भांति जानते थे। इस कारण ब्रह्मज्ञ सम्प्रदायमें उनका बड़ा सन्मान था। उनके सम्बन्धमें यहां तक प्रवाद उठ रहा था कि, स्वयं श्री प्रजापतिने अंगिराको ब्रह्मविद्याका सुगूढ़ तत्व वतला दिया है।

---

* कारण विना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। कारण सत्ता ही कार्यके आकारसे अभिव्यक्त होती है एवं कारण सत्ता ही कार्योंमें अनुस्यूत रहती है। कार्य कारण सत्ताका ही अवलम्बन कर रहते हैं। अतएव कारण सत्ता में ही कार्योंकी सत्ता मानी जाती है। कारणसत्तासे पृथक् स्वतन्त्र कार्यों की सत्ता नहीं। जगत् रूपी कार्यका सद्ब्रह्म ही कारण है। अतएव ब्रह्मको जान लेनेसे ही जगत्के सब पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं। इसी उपलक्ष्यमें शौनककी जिज्ञासा बढ़ी है।

शौनककी बड़ी इच्छा हुई कि ऐसे महामहिम महर्षिकी सेवामें उपस्थित होकर उपदेशका लाभ करें। मनमें यह दृढ़ निश्चय कर, शौनक एक दिन अंगिराके आश्रममें उपस्थित हुये। और यथाविधि प्रणामादि करके उन्होंने पहले जो ऋषियोंसे बात सुनी थी, उसका मर्म पूछने लगे। शौनक ने कहा—भगवन्! एक ही पदार्थके ज्ञानसे, क्योंकर जगत्‌के सम्पूर्ण पदार्थोंका विषय सहजमें जाना जा सकता है, यही बात समझनेके लिये मैं आपकी शरण में आया हूं। आप मुझ पर दया करें और प्रसन्नता पूर्वक उस पदार्थ एवं उसके स्वरूपका उपदेश प्रदान कर मुझे कृतार्थ करें।

शौनककी यथार्थ ज्ञान पिपासा को जानकर महामान्य अंगिरा सहर्ष कहने लगे —

द्वे.वद्येवेदितव्येइतिहस्म यद्ब्रह्मविदोवदन्तिपराचैवापराच।

महाशय! विद्या दो प्रकारकी है। एक का नाम अपराविद्या और दूसरीका नाम पराविद्या है। सांसारिक धन मान एवं सुखादि पानेके निमित्त लोग जो आयोजन करते हैं, अथवा उनकी अपेक्षा मार्जितबुद्धि जन परलोककी स्वर्गादि सद्गति पानेके उद्देश्यसे जो धर्म सञ्चय व उपासना आदि का अवलम्बन करते हैं, उसीको अपरा विद्या कहते हैं। और जिस उपाय से, जिस साधनके बलसे, परमात्माके स्वरूप विषयमें ज्ञानलाभ किया जा सकता है एवं तदुपयोगी ब्रह्मलोकादिकी प्राप्ति होने पर भी अन्तमें मुक्ति अवश्य मिलती है, उसीको परा विद्या कहते हैं। ऋक्, यजु, साम और अथर्व इन चार वेदोंमें उपदिष्ट यज्ञादि कर्मकाण्डात्मक अंश, शिक्षा, कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष ये छः वेदांग धनुर्विद्या, आयुर्वेदादि उपवेद एवं इतिहास पुराणादि अपरा विद्याके अन्तर्गत हैं। और जिसकी सहायतासे ब्रह्मका ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वही परा विद्या है। (परायातदक्षरमधिगम्यते)

अपरा विद्याकी आलोचनासे अविद्या नष्ट नहीं होती। इस लिये अपरा विद्या द्वारा संसार निवृत्त नहीं होता है *। इस विद्याकी आलोच-

---

* अपरा विद्या प्रधानतः दो प्रकारके उद्देश्यको लेकर अनुशीलित हुआ करती है। (१) संसारमें धन, मान, सुखादि प्राप्ति के उद्देश्यसे जो सब विज्ञान और क्रियाओंका अनुष्ठान किया जाता है, उसके द्वारा इस

नासे सांसारिक विषयका ज्ञान अवश्य प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु उस के द्वारा संसार से जन्म जरा मृत्युके क्लेश से बचाव नहीं हो सकता। जगत् में यदि ब्रह्मदर्शन ही न हुआ यदि जगत् के प्रत्येक पदार्थ व कार्य में, ब्रह्म की सत्ता तथा ब्रह्म की शक्ति का अनुभव न उत्पन्न हुआ, तो उस विद्या वा विज्ञान द्वारा ब्रह्म प्राप्ति होना कदापि सम्भव नहीं। जिस क्रिया का मुख्य उद्देश्य ब्रह्मप्राप्ति नहीं, उस के द्वारा मुक्ति पथमें अग्रसर होना असम्भव है। उक्त सब अपरा विद्याकी आलोचनासे लौकिक समुन्नति का होना सम्भव है क्योंकि संसारके अधिकांश मनुष्य धन, मान, विषय, विभव आदिकी प्राप्तिको ही जीवनका एक मात्र उद्देश्य बना लेते हैं, ये परलोककी कुछ भी बात नहीं जानते न जानना चाहते

संसारकी ही उन्नतिकी जा सकती है। कुछ धर्मात्मा इन सब कर्मानुष्ठानों में वापी, कूप तड़ागादि खनन, चिकित्सालय आदि का स्थापन प्रभृति परोपकार जनक कार्य भी करते रहते हैं। परन्तु इन सब अनुष्ठानों से जन्म जरा मरणादि क्लेशोंसे उद्धार होनेकी कोई आशा नहीं। (२) जो भाग्यवान् परलोकमें स्वर्ग सुखादि पानेके उद्देश्यसे देवतोपासनाके उपयोगी विज्ञान व यज्ञादिका अनुष्ठान करते हैं, उनको स्वर्गलोक (निम्नस्वर्ग)की प्राप्ति अवश्य होती है, किन्तु यह भी यथेष्ट वा पर्याप्त कहकर वेदोंमें विवेचित नहीं हुआ है। श्रुति मतमें भोगान्त होते ही स्वर्गसे भ्रष्ट होकर जीव को जन्म जरामरण शील मृत्यु लोकमें फिर आना पड़ता है। जितने दिन ब्रह्मसे भिन्न पदार्थान्तरका स्वतन्त्र ज्ञान रहता है, उतने दिनों तक संसारी जन चाहे संसारके किसी सुखका पदार्थके लाभार्थ, किम्वा देवताओंकी प्रीति या स्वर्ग प्राप्तिकी आशासे, कर्मादि अनुष्ठानोंमें अनुरक्त रहते हैं। किन्तु यह स्वतन्त्रता का ज्ञान अज्ञानका फल, अविद्याका खेल है। हां, सर्वत्र ब्रह्मसत्ताका अनुभव करते करते, जब साधक एक ब्रह्मके ध्यानमें ही मग्न रहने लगता है, तब फिर कोई भी पदार्थ ब्रह्मसत्तासे स्वतन्त्र नहीं जान पड़ताहै। तब अविद्याका ध्वंस हो जाता है। अस्तु। अपरा विद्याका नाश नहीं होता यही अभिप्राय है। यह सब बातें आगे भले प्रकार स्पष्ट हो जावेंगी।

हैं * किन्तु संसारी मनुष्यों में जो उक्त जनों से अधिक बुद्धिमान् हैं उनमें से कोई कोई इस लोक की उन्नति में ही बद्ध रहना नहीं चाहते। उनका चित्त आत्मा की उन्नति एवं परलोक की सद्गति पाने के लिये उत्सुक रहता है। परन्तु ये भी संसार के बन्धनों से छूटने नहीं पाते। कारण कि ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझते, ये लोग धनादि द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करने के हेतु, नानाविध यागयज्ञादि क्रियाकलापों के अनुष्ठानोंमें अनुरक्त रहते हैं। किन्तु हाय! ये विचारे नहीं जानते कि ब्रह्मसत्ता ही जगत् में नाना आकार धारण कर रही है ब्रह्मसत्ता में ही कार्यों की सत्ता है। ब्रह्म से अलग किसी भी पदार्थ की स्वाधीन सत्ता नहीं है। इस लिये ब्रह्म से पृथक् स्वतन्त्र या स्वाधीन भावसे किसीभी उपास्य देवताका अस्तित्व नहीं रह सकता। और न ब्रह्मप्राप्तिके उद्देश्यसे व्यतिरिक्त किसी प्रकारकी क्रिया का अनुष्ठान ही सिद्ध हो सकता है। इन सब गूढ़ तत्वोंको संसारीजन नहीं जानते, नहीं जानते तभी तो, देवता नामक स्वतन्त्र उपास्य वस्तु के उद्देश्य से परलोक में अपने सुखादि की कामना करके, विविध यज्ञादि अनुष्ठानों में अड़े रहते हैं †। यह सब अपरा विद्या का प्रपञ्च है। यद्यपि नि-

---

* "रागद्वेषादि—स्वाभाविक—दोषप्रयुक्तः, शास्त्र विहित—प्रतिसिद्धातिक्रमेण वर्तमानः, अधर्म संज्ञकानि कर्माणि च आचिनोति बाहुल्येन, स्वाभाविक—दोषबलीयस्त्वात्......एतेषां स्थावरान्ता अधोगतिः स्यात् इत्यादि। ऐतरेयारण्यक भाष्य की उपक्रमणिका में शङ्कराचार्य। कठोनिषद् में, ऐसे लोगों के विषय में कहा गया है,—"न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ़म्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यतेमे,,। गीता के सोलहवें अध्याय में आठवें श्लोक से लेकर सत्रहवें तक संसारमत्त लोगों का वर्णन है। "आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः। ईहन्ते कामभोगार्थमन्ययेनार्थ सञ्चयान्" ॥ इत्यादि।

† 'कदाचित्—शास्त्रकृत—संस्कार—बलीयस्त्वं, तेन बाहुल्येन उपचिनोति धर्माख्यं। तच्च द्विविधं—(१) केवलं (२) ज्ञानपूर्वकञ्च। तत्र केवलं पितृलोकफलं ज्ञानपूर्वकन्तु देवलोकादि—ब्रह्मलोकान्तफलम्,,—ऐतरेयारण्यक उपक्रमणिका, शङ्कर। गीता में ऐसे लोक के सम्बन्धमें कहा गया है—"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ कामात्मानःस्वर्गपरा,,—इत्यादि।

तान्त संसार-परायण पूर्व कथित लोगों की अपेक्षा ये कुछ उन्नत अवश्य हैं, तथापि ये भी यथार्थ ब्रह्मविद्या का समाचार कुछ भी नहीं जानते। जब तक एक अद्वितीय ब्रह्म पदार्थ के सत्य स्वरूप सम्बन्ध में विशेष अनुभूति नहीं जन्मती तब तक मनुष्य पराविद्या लाभ के उपयुक्त नहीं समझा जा सकता। तात्पर्य यह कि अपरा विद्या द्वारा संसार में आबद्ध होना पड़ता है *। और परा विद्या की आलोचना क्रमशः साधकको मुक्तिमार्गका पथिक बनाती है।

नदी-स्रोत जैसे अविच्छिन्नगति सुख दुःखादि रूपी मगर मच्छों से संकुल इस संसार सोत में मनुष्य सर्वदा डुबकी खा रहा है। अपने इसलोक के सुखों को सर्वस्व मानकर केवल स्वार्थपरता की दासता स्वीकार कर, जो लोग छल, बल और कौशल से दूसरों पर नाना प्रकार के अत्याचार करते हुए कामिनी और काञ्चन के उपभोगार्थ लालायित रहते हैं एवं ऐश्वर्यमद से मत्त बनकर प्रतिदिन केवल काम क्रोधादि के कीड़े बने रहते हैं, भ्रम से भी कभी परलोक की बात नहीं करते वे सत्य ही संसार के कीट हैं †। ऐसे अधर्मी अनाचारी नीचों की अपेक्षा तो वेही मनुष्य अच्छे कहे जा सकते हैं जो परलोक में स्वर्गसुख के अभिलाषी हैं। इसमें सन्देह नहीं। भोगाकांक्षी होकर जो लोग देवताओं की उपासना व यागयज्ञ के अनुष्ठान में लगे रहते हैं वे अवश्य ही कुछ स्वच्छ बुद्धि वाले कहे जा सकते हैं! ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या है देवता क्या है एवं ब्रह्मसत्ता से भिन्न देवताओं की स्वतन्त्र सत्ता है या नहीं—इन सब विषयों में जिनका प्रवेश नहीं है वे अवश्य ही ब्रह्म से स्वतन्त्र वस्तु के ज्ञान से-उपास्य देवता पृथक् एक शक्तिशाली पदार्थ है इस ज्ञान से देवोपासना में लिप्त होते हैं ‡

---

* क्योंकि शब्दस्पर्शादि विषयोंके हाथ से बचना हुआ नहीं या सर्वत्र केवल ब्रह्मसत्ता व ब्रह्म-स्फुरण की प्रतिष्ठा नहीं हुई।

† गीता के १६। ८-१९ पर्यन्त इन सब लोगों का वर्णन है।" असत्यमप्रतिष्ठंते जगदाहुरनीश्वरम् „-ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् „-इत्यादि।

‡ " अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न सवेद, पशुरेवसदेवानाम्„-बृहदारण्यक। " देवान् देवयजोयान्ति„ गीता। इस प्रकार स्वतन्त्र वस्तु बोध से ये देवोपासना करते हैं।

ब्रह्मशक्ति से भिन्न रूप में जगत् में किसी भी क्रिया की स्वाधीन सत्ता ठहर नहीं सकती एवं इस लिये केवल एक ब्रह्मके उद्देश्यसे ही क्रियाका अनुष्ठान हो सकता है—इस महातत्वको न जानते हुए लोग यागयज्ञादि अनुष्ठानोंमें लगे रहते हैं इसमें सन्देह नहीं तथापि उन संसार कीटोंकी अपेक्षा इनका चित्त अधिक शुद्ध है। ऐसी उपासना वा क्रियाओंका अनुष्ठान करते करते क्रमशः इनका चित्त और भी विशुद्ध होगा एवं काल पाकर उसमें ब्रह्मका स्वरूप प्रकाशित होने लगेगा, ऐसी आशाकी जाती है। इस लिये तो यज्ञ-लिप्त यज्ञमात्र कामी व्यक्तियोंको वेदोंने यज्ञादि अनुष्ठानोंकी ही व्यवस्था दी है*। ऋग्वेदादि ग्रन्थोंमें अनेक मन्त्रों द्वारा अग्निहोत्रादि यज्ञानुष्ठानकी पद्धति, ऐसे लोगोंको लक्ष्य करके ही उपदिष्ट हुई है †।

तान्याचरथनित्यंसत्यकामा एषवःपन्थाःसुकृतस्यलोके।

यह सब यज्ञानुष्ठान पद्धति वशिष्ठादि ऋषियोंके हृदयमें ज्ञानदीपके योगसे प्रकाशित हुई थी। अनुष्ठान पद्धतिके मन्त्र निरर्थक नहीं हैं। जिन लोगोंका चित्त सुख भोगकी लालसाके प्रभावको पराजित नहीं कर सका, जिनकी समझमें यज्ञानुष्ठान द्वारा स्वर्ग प्राप्ति करना ही परम पुरुषार्थ है, जिनका चित्त आज भी निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्मवस्तुकी धारणाके योग्य नहीं हुआ है, उनके ही लाभार्थ उनकी ही चित्त शुद्धिके अभिप्रायसे त्रयी विदित होता, अध्वर्यु और उद्गाता त्रिविध याज्ञिक निष्पाद्य ‡।

---

* "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्„ गीता ३।१०। "यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यंकार्यमेवतत्" गीता, १८।५। ईशोपनिषद् श्लोक ११ के भाष्य में है जो स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा चालित हैं, उनको सत्पथमें लानेके ही लिये, कर्म द्वारा देवताओंकी उपासना विधि वेदोंमें उपदिष्ट हुई हैं। माण्डूक्य कारिका ३। २५ देखो

† इसके आगे मूलग्रन्थका शङ्कर भाष्य अनुवादित हुआ है। अब तक हमने भाष्यके अन्यान्य स्थलोंका अभिप्राय लेकर यज्ञादिका तात्पर्य अपने शब्दोंमें लिख दिया है।

‡ होता—ऋग्वेद विहित क्रियाका अनुष्ठान करने वाला। अध्वर्यु-यजुर्वेद विहित क्रियाका कर्ता। उद्गाता—सामवेदोक्त क्रियाका अनुष्ठान कारी आनन्दगिरि।

अनेक प्रकारकी यज्ञानुष्ठान पद्धति उपदिष्ट हुई है। इसीका नाम है कर्म मार्ग। जिनके मनसे भोग लालसा दूर नहीं, जो कर्म फलकी कामना रखते हैं, उनके ही लिये यह कर्म मार्ग है। इसके फलसे अन्तमें स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी यह बात श्रुतियोंमें स्पष्ट लिखी हुई है।

ऐसे याज्ञिक जनोंके निमित्त, प्रधान व नित्य कर्त्तव्य रूपसे, 'अग्निहोत्र' का विधान है। यह अग्निहोत्र प्रातः और सायंकालमें दो बार किया जाता है। प्रातः अग्निमें घृतादिकी दो आहुतियां, एवं सन्ध्याको और दो आहुतियां दी जाती हैं *। इस अग्निहोत्र यज्ञके और भी कई अङ्ग हैं जैसे दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, और आग्रयण। जो महाशय यावज्जीवन अग्निहोत्रका अनुष्ठान करते रहते हैं उनको यथा समय उक्त सब दर्शादि यज्ञ भी करने पड़ते हैं। और सब गृहस्थोंको यत्नपूर्वक अतिथियों की परिचर्या व वैश्वदेव नामक क्रियाका भी अनुष्ठान करना पड़ता है। फल यह होता है कि, सब प्रकारके पितृलोकमें भोग वासनाकी यथेष्ट परितृप्ति होती है।

कालीकरालीचमनोजवाच सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनीविश्वरूपीचदेवी लेलायमानाइतिसप्तजिह्वाः॥

यज्ञकी आहुतियोंको ग्रहण करनेके लिये अग्निकी काली, कराली प्रभृति सात भांतिकी जिह्वाएं या अर्चियां प्रसिद्ध हैं। इन सब जीभोंमें यज्ञीय आहुति देनेसे, मृत्युके पश्चात् यजमान चन्द्ररश्मि † का अवलम्बन कर यथायोग्य स्वर्गलोक (पितृलोक) को प्रस्थान करता है। इसीका नाम है कर्म फल। यज्ञ द्वारा इस प्रकारका फल पाया जा सकता है। किन्तु ये सब

---

* अग्निहोत्रमें प्रातःकाल 'सूर्याय स्वाहा' प्रजापतये स्वाहा, एवं सन्ध्या कालमें अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा यथाक्रम इन मन्त्रोंसे आहुति दी जाती है।

† मूलमें है "सूर्यस्य रश्मिभिः„। भाष्यकार अर्थ करते हैं " रश्मिद्वारैरित्यर्थः„ श्रुतियोंमें सर्वत्र लिखा है केवल कर्मी लोग चन्द्ररश्मिके योगसे दक्षिणायन पथ द्वारा पितृलोक को जाते हैं। इसी लिये हमने यहां रश्मि का अर्थ चन्द्र रश्मि किया है। क्योंकि केवल कर्मकाण्ड वाले सूर्यद्वार होकर नहीं जा सकते हैं।

कर्म ज्ञान वर्जित होते हैं, अतएव इनका फल भी निकृष्ट होता है *। ऐसे कर्मों के आचरणसे संसार बन्धन छूट नहीं सकता। क्योंकि, फलका क्षय होते ही भोग समाप्त होते ही फिर मृत्युलोकमें आना पड़ता है। ये सब यज्ञ 'अदृढ़, कहे जाते हैं। क्योंकि इनका फल क्षयिष्णु चञ्चल विनश्वर होता है। जिनके विचारमें क्रियायें एवं उनका फल ही परमपुरुषार्थ है, वे अविवेकी हैं। वार बार जन्म, जरा और मृत्युके मायाजालमें कष्ट उठाते रहते हैं। कुछ काल तक स्वर्ग सुखका भोगकर, फिर मर्त्यलोकमें गिरते हैं एवं जन्म जरा मृत्यु रूपी पाशमें बद्ध हो जाते हैं। एक अन्धा यदि दूसरे अन्धेको मार्ग दिखानेका भारले, तो जैसे दोनों किसी अन्धकारमय विपत्ति संकुल गर्तमें गिर कर दुःख उठाते हैं, वैसे ही ये सब कर्ममात्र परायण, अज्ञानतमसाच्छन्न मूढ़ यज्ञकर्ता मनुष्य भी माया समुद्रमें डूबते उमगते रहते हैं? तथापि यज्ञोंके अनुष्ठानोंसे ये अपनेको धार्मिक ही नहीं कृतार्थ भी मानते हैं †। किन्तु हाय? इनको विदित नहीं कि, भोगाभिलाषी ये कर्म फलका क्षय होते ही वासनाबद्ध होकर फिर संसारके दुःख दहनसे दग्ध होंगे? जो व्यक्ति केवल इस लोकमें ही वापी कूप तड़ागादि बनवाकर ‡ उद्यानादि निर्माण करा कर विषय सुख समृद्धिकी कामना करते हैं, किम्बा इनकी अपेक्षा जो उन्नतमना महोदय स्वर्ग सुखके लाभार्थ यागादि द्वारा

---

* गीतामें भी इसी प्रकारका लेख है "दूरेणह्यवरं कर्म बुद्धि योगाद्धनञ्जय" इत्यादि।

† गीतामें भी अविकल यही बात लिखी है "वेदवादरताःपार्थ नान्यदस्तीतिवादिन„ इत्यादि २। ४२ ४४।

अविद्यायामन्तरेवर्त्तमानाः स्वयंधीराःपण्डितंमन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाःपरियन्तिमूढ़ा अन्धेनैवनीयमानायथान्धाः॥

‡ विद्यालय, चिकित्सालयादिका स्थापन भी इसी प्रकारका सत् कर्म है। ये क्रियायें आपेक्षिक भावसे अच्छी होने पर एकान्त रूपसे पुरुषार्थ साधक नहीं हैं। ब्रह्म प्राप्ति ही मुख्य रूपसे पुरुषार्थ साधक है। प्रथम खण्ड देखो।

इष्टापूर्तंमन्यमानावरिष्ठं नान्यच्छ्रेयोवेदयन्तेप्रमूढ़ाः।
नाकस्यपृष्ठेतेसुकृतेऽभूत्वेमं लोकंहीनतरंवाविशन्ति॥

देवताओंको तृप्त करनेमें व्यस्त रहते एवं इन सब कामोंको ही मुख्य कर पुरुषार्थ साधक मानते हैं, और इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारका श्रेष्ठतर मार्ग है यह भी नहीं जानते, उक्त दोनों प्रकारके मनुष्य मूर्ख हैं। नाना प्रकारकी योनियोंमें घूमते हुए पराधीनता का घोर दुःख उठाते हैं। ज्ञानवर्जित कर्मानुष्ठानका ऐसा ही अन्तिम फल होता है। इन व्यक्तियों का ही नाम केवल कर्मी है।

किन्तु जिन व्यक्तियोंका चित्त उक्त कर्मकाण्डियोंकी अपेक्षा मार्जित है अधिक शुद्ध है एवं चित्त विशुद्ध होनेसे ब्रह्मविज्ञानकी ओर रुचि होने लगी है स्वतन्त्रभाव से देवोपासना करना ही जब एक मात्र लक्ष्य नहीं रहा तब चित्तमें क्रमशः ब्रह्मज्योति प्रकाशित होने लगती है। ये ही 'ज्ञान विशिष्ट कर्मी' कहे जाते हैं। ब्रह्मसत्ताके बिना किसीकी भी "स्वतन्त्र„ सत्ता नहीं हैं, सुतरां देवताओंकी सत्ता भी ब्रह्मसत्ताके ही ऊपर अवलम्बित है यह तत्व अब इनकी समझमें आ गया है। परन्तु अभी भी पूर्णब्रह्मके स्वातन्त्र्यका तत्व पूर्ण रीतिसे इनके चित्त में प्रस्फुटित नहीं हुआ। अतएव अभी बाहरी अनुष्ठान हटे नहीं, इस कारण केवल भावनात्मक यज्ञ * अभी प्रतिष्ठित नहीं हुआ। तथापि सर्वत्र ब्रह्म दर्शनका अभ्यास बढ़ाने वाले ये साधक बहुत उच्च कक्षा के हैं। देहान्त होने पर उत्तरायणमार्ग में सूर्य किरणोंके योग से † ब्रह्म—लोक को पहुंच जाते हैं। वहां ज्ञान की परिपूर्णता होने पर अद्वय ब्रह्मानुभूति सुदृढ़ हो जाती है। तब भूल कर भी कभी ब्रह्मसे भिन्न किसी सत्ता का अनुभव नहीं होता है। पश्चात् साधक की मुक्ति हो जाती है।

---

* इस 'भावनात्मक यज्ञ, का विवरण प्रथम खण्ड को अवतरणिका में देखो। गीता में लिखा है—"श्रेयान्द्रव्यमयाद् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप„ (४। ३३)। इस में देवताओं की स्वतन्त्रता नहीं रहती। "आत्मैवदेवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्„ (मनु) इस प्रकार आत्मा में ही या ब्रह्म में ही सब कुछ जान पड़ता है।

† 'केवल कर्मी, चन्द्रकिरणों की सीढ़ी से 'पितृलोक, को जाते हैं। इन की पुनरावृत्ति होती है। ज्ञानविशिष्ट कर्मी सूर्य किरणों को पकड़ कर ब्रह्मलोक या उन्नत स्वर्ग में पहुंचते हैं। इनको फिर मृत्युलोक में नहीं लौटना पड़ता। प्रथम खण्ड देखो।

उत्तम गृहस्थों में से जो सज्जन सर्वत्र ब्रह्मसत्ता के अनुभव का अभ्यास ‡ करते हैं एवं जो व्यक्ति हिरण्यगर्भ व विराट् की धारणा का अभ्यास करते हैं, और वाणप्रस्थ होकर जो विद्वान् भिक्षावृत्तिसे जीवन धारण करते हुए इन्द्रियों को जीत कर ब्रह्मपदार्थ की भावनामें लगे रहते हैं, अथवा जिन महोदयों ने केवल सुदृढ़ ब्रह्मचर्य पालन को ही मुख्य कर्त्तव्य स्थिर कर लिया है, उन सब साधकों की गणनाज्ञान विशिष्ट कर्मियों, में है। शरीर त्याग कर ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं। फिर लौट कर मृत्युलोक में कदापि नहीं आते। ज्ञान की परिपक्वता के पश्चात् मुक्त हो जाते हैं। यज्ञादि कर्मों के क्षणभङ्गुर फलों की आलोचना द्वारा जब मुमुक्षु व्यक्ति के अन्तः करण में केवल कर्म सम्बन्धिनी अश्रद्धा उपजती है और निर्वेद उपस्थित होता है, तब वह पुरुष व्याकुल होकर ब्रह्मविज्ञानके लाभार्थ नम्रता पूर्वक यथाविधि समित्पाणि होकर, ब्रह्मवेत्ता गुरु के निकट उपस्थित होता है। और ब्रह्मविद्या का उपदेश देनेकी प्रार्थना करता है। गुरु भगवान् उस संयमी इन्द्रियजित ब्रह्मैकनिष्ठ मुमुक्षु शिष्य के प्रति कृपा परवश होकर उस सत्य—अविनाशी—पद के विषय में जिस के द्वारा ज्ञानलाभ किया जा सकता है, उसी पराविद्या—ब्रह्मविद्या—का उपदेश देते हैं

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम् प्रोवाच तं तत्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥

---

‡ अन्यत्र लिखा है कि, इस अवस्था में ‘अभ्यास, एवं ‘वैराग्य, ज्ञान लाभ के सहायक हैं। विषयोंके दोषों की चिन्ता करना ही विषय—वैराग्य है। और ब्रह्मविषयक श्रवण मननादि का बारंबार अनुशीलन करना ही ‘अभ्यास, है। ऐसा करनेसे चित्त कभी अवसन्न नहीं हो सकता। विक्षिप्त भी नहीं हो सकता, सर्वदा जागरूक रहता है। गौड़पादभाष्य देखना चाहिये गीता में स्पष्ट लिखा है—“अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते,,।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसोभैक्षचर्यां चरन्तेः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

द्वितीय परिच्छेद ।

(ईश्वर और हिरण्यगर्भ)

महर्षि अङ्गिरा कहने लगे—

"आप से अपरा विद्या की बात विस्तार पूर्वक कही गई है । अब सब विद्यायों को सारभूत परा-विद्या की चर्चा की जायगी । आप मन लगाकर हमारी बातें हृदय में धारण करें ।

जिसके द्वारा ब्रह्म पदार्थ का स्वरूप जाना जा सकता है, वही परा-विद्या है—यह हम कह चुके हैं । ब्रह्मज्ञानी इस ब्रह्म वस्तु का निर्देश अक्षर शब्द से * करते हैं । इसी अक्षर पुरुष का वर्णन हम करेंगे । इसका स्वरूप समझ लेने से, आपके जिज्ञासित प्रश्न का ठीक उत्तर भी ध्यान में आजायगा । पण्डित लोग इस अक्षर पुरुष को "भूतयोनि" मानते हैं । ब्रह्म ही सब भूतों का कारण है । ब्रह्म से ही सब भूत अभिव्यक्त हुए हैं—यही भूतयोनि शब्द का अभिप्राय है । मनुष्य की इन्द्रियां दो प्रकार की होती हैं । कुछ तो कर्म करने वाली इन्द्रियां और कुछ ज्ञान प्राप्त करने की इन्द्रियां हैं । चक्षु, कर्ण, जिह्वा, घ्राण, और त्वचा शक्ति का नाम ज्ञानेन्द्रिय है एवं हस्त, पद, वाक्य प्रभृति शक्तियों का नाम कर्मेन्द्रिय है।

---

* मायाशक्ति युक्त ब्रह्म ही 'अक्षर, ब्रह्म है । श्रुति में मायाशक्ति का नाम 'अक्षर शक्ति भी आया है । यह शक्ति वास्तव में ब्रह्मसत्ता से पृथक् न होने से ब्रह्म भी अक्षर कहा जाता है । जहां 'अक्षर ब्रह्म, है, वही समझना होगा कि, जगत् की उपादान मायाशक्ति भी साथ में लक्ष्य हुई है । भाष्य कार ने स्वयं कह दिया है कि, "बीज युक्त ब्रह्म ही जगत् कारण है । निर्वीज ब्रह्म कार्य और कारण दोनोंसे अतीत है, वह जगत्का कारण नहीं हो सकता,, " बीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव''''''सत् शब्दवाच्यता ,, इत्यादि माण्डूक्य-गौड़पादकारिका भाष्य १ । ६ ! इस विषय की आलोचना अवतरणिका में देखिये । "एतस्या वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि,, । इत्यादि—वृहदारण्यक ।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीविश्वस्यधारिणी ॥

इन सब इन्द्रियों के ग्राह्य ' विषय, निर्दिष्ट हैं सब इन्द्रियां निज निज विषय को ग्रहण करने में ही समर्थ हैं। चक्षु इन्द्रिय रूपात्मक विषय को * ग्रहण करती है नासिका इन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करने में समर्थ है। शब्द स्पर्श रूपरसादि विषयों को लेकर ही, इन्द्रियां क्रिया कर सकती हैं। शब्दस्पर्शादि के कारण † भूतयोनि अक्षर—पुरुष को उक्त इन्द्रियां कदापि ग्रहण नहीं कर सकती हैं। इन्द्रियां बहिर्मुख होती हैं, केवल शब्दस्पर्शरूप रसात्मक विषयवर्ग को ही ग्रहण करती हैं। किन्तु जो शब्दस्पर्शादि विषयों का परम सूक्ष्म कारण बीज है उस को ये इन्द्रियां किस प्रकार जान सकती हैं ? इस अक्षर पुरुष का और कोई मूल बीज वा कारणान्तर नहीं है। अक्षर ब्रह्म ,ही सबका कारण है उसका कोई कारण नहीं है। कारणसत्ता ही कार्यों में अनुस्यूत—अनुगत रहती है। कारण रूपी ब्रह्म की सत्ता ही जगत् में अनुगत हो रही है, उस में अन्य किसी की भी सत्ता अनुगत हो कर नहीं रहती। शुक्लत्व स्थूलत्व प्रभृति द्रव्य के धर्म प्रसिद्ध हैं. परन्तु ब्रह्म वैसा कोई द्रव्य न होने से, सर्व धर्म विवर्जित है। जगत् में वृक्षलता पशु—पक्षी प्रभृति रूपात्मक व नामात्मक पदार्थ देखे जाते हैं। कर्णेन्द्रिय द्वारा नाम (शब्द)एवं चक्षु इन्द्रिय द्वारा रूप गृहीत हुआ करता है। सब प्राणी उक्त इन्द्रियों द्वारा ही नाम रूपात्मक विषयों को ग्रहण करते रहते हैं। परन्तु अक्षर पुरुष के कोई इन्द्रिय नहीं वह न तो ग्राह्य है और न ग्राहक ही है। तभी तो वह नित्य—अविनाशी है। श्रुति ने ब्रह्म को 'सर्वज्ञ' व 'सर्वशक्तिमान्, माना है। जो ज्ञान और क्रिया का कर्ता है,—वह तो जीव की भांति ही चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करता होगा एवं उसका ज्ञान भी अवश्य हमारे ही ज्ञान के अनुरूप होगा—ऐसी शङ्का किसी अज्ञानी को न हो जाय इसी लिये कहा गया है कि, उसके कोई इन्द्रिय नहीं है अथ च वह सम्पूर्ण ज्ञानों व क्रियाओं का मूल कारण है। वह विभु एवं आकाश की भांति सर्वव्यापक है। वही (निज शक्ति द्वारा) स्थावर जङ्गमादि सृष्ट

---

* विषय Sense objects

† जिस से शब्दस्पर्शादि उत्पन्न हुए हैं—जो शब्दस्पर्शादिका ' कारण. है—वह कदापि शब्दस्पर्शादि नहीं हो सकता वह अवश्य ही शब्दस्पर्शादिसे ' स्वतन्त्र , है। क्योंकि ऐसा न हो तो कारण और कार्य एक या अभिन्न हो जाते हैं। परन्तु यथार्थ में कारण—कार्य से ' स्वतन्त्र , होता है।

वस्तुओं के आकार से अभिव्यक्त हो रहा है, इसीसे * वह 'विभु, कहा जाता है। ब्रह्म ही सब कारणों का कारण है और परम सूक्ष्म है। ब्रह्म को ही अव्यय, कहते हैं। जगत् में जिसको हम "कारण„ † कहा करते हैं, वह स्थूलताके ही तारतम्य द्वारा निर्देशित होता है। जड़ राज्यका कारण कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, वह सावयव है, सावयव होनेसे ही उसका क्षय है। परन्तु ब्रह्म सब पदार्थोंका कारण होकर भी निरवयव है। निरवयव का क्षय नहीं होता ‡ अतएव ब्रह्म 'अव्यय, है। ब्रह्म निर्गुण है, सुतरां ब्रह्म में गुणों की भी क्षय-वृद्धि नहीं है। सबका आत्मभूत,—सब का कारण यही" भूतयोनि,, + अक्षर नामसे निर्देश किया जाता है।

---

* यही ब्रह्म का विराट् रूप है। विराट् रूपसे ही वह विभु है। इसके व्यतीत उसका निर्गुण वा पूर्णस्वरूप है वह जगत आकार से अभिव्यक्त हो कर भी, पूर्णस्वरूप से वर्तमान है। 'पादोस्य विश्वाभूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि—,, पुरुषसूक्त। ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।

† कारण Cause

‡ मायाशक्ति सब पदार्थों का मूल कारण है। इस शक्तिका निर्देश परिणामिनी शक्ति, के नामसे किया गया है। ब्रह्म पूर्ण है। ब्रह्म—अपरिणामी, निरवयव है। सृष्टिके प्राक्कालमें इस पूर्ण निर्विशेष सत्ता की ही एक परिणामोन्मुख विशेष अवस्था स्वीकार करली गई है। इस परिणामोन्मुख विशेष आकार को ही मायाशक्ति कहते हैं, यही विकारी जगत् का मूल उपादान है। सुतरां यह उपादान परिणामी—उपादान है। परमार्थतः यह उस निर्विशेष पूर्णसत्ता से एकान्त 'भिन्न, नहीं—स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है। इसीलिये ब्रह्म ही जगत्का कारण कहा जाता है। ये सब तत्व अवतरणिका में भलीभांति आलोचित हुए हैं।

+ इस 'भूत-योनि, के सम्बन्ध में वेदान्तदर्शन १।१।२१ व २२ सूत्रों के भाष्य में शङ्कर स्वामी ने जो वात लिखी है, वह भी यहां सुन लीजिये। 'भूतयोनिमिहजायमानप्रकृतित्वेन निर्दिश्य, अनन्तरमपि जायमान—प्रकृतित्वेनैव 'सर्वज्ञं, निर्दिशति,,। जायमान वा अभिव्यक्ति के उन्मुख प्रकृति शक्ति को लक्ष्य करके ही ब्रह्म-चैतन्य को 'भूतयोनि, कहते हैं एवं इस शक्ति के अधिष्ठातारूपसे ही ब्रह्म "सर्वज्ञ, कहलाता है। निर्गुण ब्रह्म

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथासतःपुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥

ऊर्णनाभ (मकरी) बाहरसे अन्य किसी उपादान को न लेकर अपने शरीर से ही तन्तुओं (तागों) की सृष्टि करती रहती है। ये तागे या तन्तु उसके शरीर से एकान्त भिन्न कोई वस्तु नहीं हैं—इन तन्तुओं का आधार नहीं उपादान उस का शरीर ही है। निज देहसे तन्तुओं को निकालकर वह उनको फिर अपने शरीर में ही प्रविष्ट कर लेती है—तन्तुओं को शरीर रूप से ही पुनः परिणत कर डालती है। भूमि से लता, गुल्म, वृक्षादि सब स्थावर पदार्थ उत्पन्न होते हैं। परन्तु उक्त वृक्षादिक पदार्थ भूमि से पृथक् या भिन्न कोई पदार्थ नहीं हैं ये पृथिवी वा भूमिकेही रूपान्तर, अवस्था भेद मात्र हैं। इसी प्रकार विश्व भी उस अक्षर पुरुष से वास्तव में भिन्न कोई वस्तु नहीं है *। यह जगत् ब्रह्म-सत्ता का ही रूपा-

---

तो-सर्वातीत है, कार्य और कारण दोनों से अतीत है, वह फिर 'भूतयोनि, किस प्रकार होगा ? एक आगन्तुक अवस्था माने विना वह भूतयोनि नहीं कहा जा सकता। शङ्करभाष्यका यही अभिप्राय है। उक्त सूत्र पर शङ्कर ने शङ्का की है कि,—'यदि अक्षर ब्रह्म ही 'भूतयोनि, हो, तो श्रुति में जो ब्रह्म को अक्षर से भी पर वा स्वतन्त्र कहा गया है, उसका तात्पर्य क्या है? ब्रह्म में दूसरा कोई तो पर वा स्वतन्त्र हो नहीं सकता। इस प्रश्न के उत्तर में उन्हों ने अगले सूत्र के भाष्य में लिखा है,—"प्रधानादपि प्रकृतं भूतयोनिं भेदेन व्यपदिशति, अक्षरात् परतः परः इति,,। अर्थात् ब्रह्म प्रकृति शक्तिसे भी स्वतन्त्र कहा गया है। वह प्रकृति शक्ति ही श्रुति में 'अक्षर, शब्द द्वारा निर्दिष्ट हुई है। इसी सूत्र में शङ्कर ने और भी लिखा है कि, हम भी प्रकृति को मानते हैं' परन्तु सांख्यशास्त्रियों की भांति हम उसे ब्रह्मसत्ता से पृथक् कोई स्वतन्त्र वस्तु स्वीकार नहीं करते हैं। इस स्थल पर शङ्करने इस शक्तिका 'भूतसूक्ष्म, शब्दसे भी निर्देश किया है। लोग विना समझे ही कह देते हैं कि शंकर शक्ति को नहीं मानते !!।

बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥

* हमने पहले कहा है—शक्ति-समुज्ज्वलित ब्रह्म ही 'अक्षर, ब्रह्म है। सुतरां यह विश्व उस शक्ति का ही अवस्था-भेद-रूपान्तर मात्र है। अतएव यह विश्व ब्रह्मसत्ता से एकान्त स्वतन्त्र वा स्वाधीन नहीं हो सकता।

न्तर अवस्था भेद मात्र है। और सुनिये, चेतन जीव से नितान्त भिन्न अचेतन केश व लोम नखादि उत्पन्न हुआ करते हैं—यह भी हम प्रति दिन देखते हैं। इसी भांति, अक्षर पुरुष–चैतन्य से ही यह विश्व प्रादुर्भूत हुआ है, किन्तु वह चेतन और यह विश्व जड़ है। सुतरां यह विश्व उससे एक प्रकार विभिन्न पदार्थ भी है। तभी देखा जाता है कि,—यह विश्व उस पुरुष–चैतन्य से नितान्त भिन्न भी नहीं, और वह भी इस विश्वसे अभिन्न नहीं है क्योंकि विश्व जड़ है और वह चेतन है *

उस भूतयोनि अक्षर पुरुष-चैतन्यसे किस प्रणाली पर यह विश्व अभिव्यक्त हुआ है, सो भी सुन लीजिये।

सृष्टि के पूर्व काल में ब्रह्म–चैतन्य ने इस जगत्–सृष्टिका संकल्प कामना वा इच्छा † की। इस 'आगन्तुक, संकल्प का 'तप, वा 'ईक्षण, शब्द द्वारा भी निर्देश किया जाता है। फलतः ये सब शब्द ब्रह्म की सृष्टि विषयक आलोचना को लक्ष्य करके ही व्यवहृत होते हैं। अङ्कुरोत्पत्ति के समय बीज जैसे किञ्चित् उपचित वा पुष्ट हो उठता है, वैसे ही नित्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्म चैतन्य भी इस आगन्तुक कामना वा सृष्टिविषयिणी आलोचना द्वारा किञ्चित् उपचित वा परिपुष्ट हो पड़ा। यद्यपि वह नित्यज्ञानस्वरूप है, उसका ज्ञान सदा पूर्ण, अन्यथाभावशून्य है। तथापि इस आगन्तुक आलोचना को लक्ष्य कर उस ज्ञान का किञ्चित् मानो अन्यथा–भाव—मानो कुछ पुष्टि सी हुई, ऐसा कहा जा सकता है! ब्रह्म चैतन्य पूर्णज्ञान एवं पूर्ण शक्ति स्वरूप है। ब्रह्म संकल्प वश, सृष्टिके प्राक्काल में, उस शक्तिकी भी जगदाकार से अभिव्यक्त होने की एक उन्मुखता उपस्थित हुई। अभी भी शक्ति जगत् के आकार में अभिव्यक्त नहीं हुई, उसने अभिव्यक्त होनेके लिये केवल उपक्रम मात्र किया है—परिणामके उन्मुख मात्र हुई है। जगत् की

---

* निमित्त–कारणरूप से ब्रह्म—इस विश्वसे स्वतन्त्र है। उपादान कारण रूप ब्रह्म से यह वस्तुतः स्वतन्त्र नहीं है। अवतरणिका में इस तत्व की समालोचना की गई है।

† "सोऽकामयत बहुस्याम् प्रजायेयेति। स 'तपो,ऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत,,–तैत्तिरीय, २। ६। २ "स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति,,—ऐतरेय १।१। "तदैक्षत बहुस्याम् प्रजायेयेति ,,- छान्दोग्य ६। ६। १ इत्यादि देखिये।

सृष्टि, स्थिति, संहार आदि कार्यों में जो ज्ञान व शक्ति नियुक्त करनी पड़ेगी सृष्टिके पूर्व क्षणमें ब्रह्म मानो उसी ज्ञान व शक्ति द्वारा परिपुष्ट हुआ । इस 'आगन्तुक, ज्ञान व शक्ति के द्वारा ही ब्रह्म को उपचित वा पुष्ट कहते हैं, नहीं तो जो नित्यज्ञान और नित्य शक्ति स्वरूप है उस की पुष्टि कैसी ? यह आगन्तुक, परिणामोन्मुख शक्ति 'अव्यक्त शक्ति' वा अन्य शब्दसे निर्दिष्ट होती * । यह अव्यक्त शक्ति सृष्टिके पहले अभिव्यक्तिके उन्मुख हो उठी । यही यह–शक्ति ही–समस्त संसारका बीज है । यही बीज व्यक्त होकर जगत्के आकारमें परिणत हुआ है ।

परिणामोन्मुखिनी यह अव्यक्त शक्ति प्रथम सूक्ष्म रूपसे प्रकट होती है । बीजसे जैसे अंकुरकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही अव्यक्तशक्ति भी सबसे प्रथम प्राण वा हिरण्यगर्भ रूपसे सूक्ष्म आकारमें अभिव्यक्त हुई । जगत्में जितने प्रकारका विज्ञान एवं क्रिया विकाशित हुई है, यह हिरण्यगर्भ ही उसका साधारण बीज है । इसी लिये हिरण्यगर्भको ज्ञानात्मक व क्रियात्मक दोनों प्रकारका कहते हैं † । यह हिरण्यगर्भ स्पन्दनका ही दूसरा नाम है ।

---

* अव्यक्त शक्तिके वेदमें 'मायाशक्ति' वा 'प्राणशक्ति' भी नाम हैं । यही परिणामी व विकारी जगत् का उपादान है । यह निर्विशेष ब्रह्मसत्ताकी ही एक आगन्तुक विशेष अवस्था मात्र है । शङ्कर भाष्यमें इसका नाम "व्याचिकीर्षित अवस्था„ वा जायमान अवस्था है । आनन्दगिरि इसे "जड़माया शक्ति„ कहते हैं । "महाभूत सर्गादि संस्कारास्पदं गुणत्रयसाम्यं मायातत्त्व मव्याकृतादिशब्दवाच्यमिहाभ्युपगन्तव्यम्„ । कठ भाष्यमें शङ्कर भगवान्ने कहा है कि "यह शक्ति ही यावत् कार्य व करण शक्तियोंका समष्टि बीज है [कार्य–Matter करण–Motion] वेदान्त भाष्यमें शङ्करने इसको "भूतसूक्ष्म„ भी कहा है । यह जगत् का उपादान एवं "शक्ति" केवल विज्ञान वा Idia मात्र नहीं है, सो बात आनन्द गिरिने माण्डूक्य गौड़पादकारिका १ । ६ भाष्यकी टीकामें स्पष्ट कह दी है–"ननु अनाद्यनिर्वाच्यमज्ञानं संसारस्य बीजभूतं नास्त्येव, मिथ्याज्ञानतत्संस्काराणामज्ञानशब्दवाच्यत्वात् तत्राह इस प्रश्नका उत्तर द्रष्टव्य है । श्रुतिमें प्राण और अन्न एकार्थमें ही व्यवहृत हुए हैं । कारण प्रथमखण्डमें लिखा गया है ।

† ब्रह्म सङ्कल्प (Will) पहले स्पन्दनरूप वा (Blind impulse) रूपसे (क्रियात्मक रूपसे) जगत्में अभिव्यक्त होता है । पश्चात् प्राणियोंके उत्पन्न

अतएव तात्पर्य यह निकला कि, सब से पहले अव्यक्त शक्ति सूक्ष्म स्पन्दन रूपसे अभिव्यक्त हुई है। और फिर यह स्पन्दन ही क्रमशः स्थूल आकारमें प्रकट हो गया है।

हिरण्यगर्भ ही क्रमसे स्थूलभावको धारण करता है। स्थूल आकारमें प्रकाशित होने वाली क्रिया करणाकार एवं कार्याकारसे * विकाशित होती है। करणांश तेज, प्रकाश आदिके आकारसे क्रिया करता है, तभी उसका कार्यांश भी घनीभूत होकर प्रथम जलीय भावसे एवं अन्तमें कठिन पृथिवी रूपसे प्रकट होता है। प्राणियोंके शरीरोंमें भी सबसे पहले प्राणशक्तिकी अभिव्यक्ति होती है। इस प्राण शक्तिका करणांश जितना ही क्रिया करता रहता है साथ ही साथ उसके कार्यांश द्वारा उतना ही देह व देहके अवयव आदिका निर्माण होता रहता है एवं उसके आश्रयमें करणांश भी विविध इन्द्रिय शक्ति रूपसे अभिव्यक्त हो पड़ता है। इसी प्रकार पञ्चभूत एवं प्राणी वर्गके शरीर व इन्द्रियादिक उत्पन्न हुआ करते हैं †। पञ्चभूतका निर्देश 'सत्य' शब्दसे किया जाता है। कारण यह कि, मृग तृष्णा, शशविषाण प्रभृति नितान्त अलीक पदार्थोंकी तुलनामें ये सत्य कहे जाते हैं, किन्तु परमसत्य ब्रह्म वस्तुके सन्मुख इनका निर्देश 'असत्य' शब्दसे ही किया जाता है। ये ब्रह्मकी भांति चिर नित्य व चिर सत्य स्वतः सिद्ध पदार्थ नहीं हो सकते ‡। एक ब्रह्मकी सत्यता पर ही जगत्के सब पदार्थोंकी सत्यता अवलम्बित है। ब्रह्म सत्ता द्वारा ही पदार्थोंकी सत्ता है, ब्रह्मसत्ता से पृथक् स्व-

---

होने पर यह अन्ध शक्ति ही ज्ञानशक्ति द्वारा परिचालित हुआ करती है वा (Enlightened by ideas) (ज्ञानात्मक रूप से) क्रिया करती रहती है। इसी लिये यह ज्ञानात्मक कही जाती है और समष्टि वुद्धि भी कही जाती है। अवतरणिका देख लो।

* करण Motion कार्य Matter।

† इस स्थान पर ये सब तत्व अति संक्षेपसे लिखे गये हैं। अवतरणिका में विशेष रूपसे आलोचित हुए हैं। पाठक अवतरणिका का सृष्टि तत्व देखकर यह अंश पढ़ें।

‡ हमने ये कई बातें तैत्तिरीय भाष्यसे ग्रहण की हैं। पाठक देखें शङ्कराचार्यने अलीक कहकर जगत्को उड़ा नहीं दिया।

तन्त्र भाव से—स्वाधीन रूप से किसी पदार्थ की सत्ता नहीं ठहर सकती। इसी लिये पञ्चभूतों की सत्यता आपेक्षिक भावसे ही कही जाती है। इन पञ्च भूतों के ही परस्पर मिलने से प्राणियों के निवासस्थान पृथिवी आदि लोक उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार अक्षर पुरुष से यह विश्व प्रकट हुआ है। प्राणियों के कर्म और कर्मफलभी उसीसे आये हैं।

जब तक जगत की सृष्टि न हुई थी तब तक ब्रह्मका निर्देश निर्गुण निष्क्रिय शब्दों से ही किया जाता था। किन्तु सृष्टिके पूर्व क्षण में जब उसके सङ्कल्पबल से निर्विशेष ब्रह्मशक्तिका एक जगदाकार से अभिव्यक्ति होने का उपक्रम उपस्थित हुआ तब इस विशेष अवस्था को लक्ष्य करके ही उस का मायाशक्ति वा 'अक्ष, नाम से निर्देश किया गया। और इस आगन्तुक शक्ति के कारण ब्रह्म को भी 'सर्वज्ञ, शब्द से निर्देश किया गया यह शक्ति ही जब जगत् में अभिव्यक्त सब प्रकार के विज्ञान की भी बीज शक्ति है, तब इस शक्ति के द्वारा ही ब्रह्म सर्वज्ञ माना जा सकता है। यह शक्ति ही जब क्रम परिणति के नियमानुसार मनुष्यादिकों के इन्द्रियादि रूपों से अभिव्यक्त हो पड़ती है तब इन इन्द्रियादिके संसर्ग से ज्ञान की भी विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति प्रतीत होने लगती है। तात्पर्य यह कि सब प्रकार के विज्ञान की अभिव्यक्ति की योग्यता वा सामर्थ्य इस शक्तिमें है। यह योग्यता शक्ति की ही है इसी कारण इस शक्ति के योग से ही ब्रह्म साधारण रीति से 'सर्वज्ञ, कहा जा सकता है। फिर यही शक्ति जब मनुष्य के इन्द्रियादि रूप से परिणत होगी तब इन्द्रियों के संसर्ग से विशेष २ विज्ञानों की अभिव्यक्ति होने पर उस के द्वारा ब्रह्म भी विशेषरूपसे "सर्ववित्„ कहा जा सकेगा *। अतएव इस आगन्तुक शक्ति के द्वाराही निर्गुण ब्रह्म को 'सर्वज्ञ, एवं 'सर्ववित्, कहते हैं। इस प्रकार समष्टि भाव से वह सर्वज्ञ † एवं व्यष्टि भाव से वह सर्ववित् है। सर्वज्ञ ब्रह्म

---

* समष्टिरूपेण मायाख्येनोपाधिना 'सर्वज्ञः,। व्यष्टिरूपेण अविद्याख्येनोपाधिना अनन्तजीवभावमापन्नः 'सर्ववित,—इति अधिदेवमध्यात्मञ्च तत्वाभेदः सूचितः„ आनन्दगिरि टीका।

† "यस्यहि सर्वविषयावभासनं ज्ञानं नित्यमस्ति स सर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम्„। वेदान्तभाष्य, १।१।५। तैत्तिरीयभाष्य में शङ्कर कहते हैं—"नतस्य अन्यदाविज्ञेयं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं भूतं भवद्भविष्य-

चैतन्य से ही सब से पहिले कार्य ब्रह्म वा हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है। यह हिरण्यगर्भ अव्यक्त शक्ति की ही पहिली अभिव्यक्ति है। अव्यक्तशक्ति सबसे पहिले स्पन्दनरूप से अभिव्यक्त होती है, सुतरां हिरण्यगर्भ और स्पन्दन एक ही वस्तु है। इस स्पन्दन के साथ चैतन्य वर्तमान है यह बात सदा मनमें रखनी चाहिये। अभिव्यक्ति के पूर्व या पश्चात् किसी भी अवस्था में शक्ति चैतन्य वर्जित नहीं है। क्योंकि अव्यक्त शक्ति वास्तविक पक्षमें ब्रह्म सत्तासे स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं इसी लिये शक्तिकी पहली अभिव्यक्ति कार्य-ब्रह्म कहकर अभिहित की जाती है। इस स्पन्दन वा कार्य ब्रह्मसे ही विविध नाम और रूप अभिव्यक्त हुए हैं। यही अन्तमें नितान्त स्थूल होकर व्रीहि यवादि 'अन्न, वा स्थूल भावसे अभिव्यक्त होती है। यही शक्तिके विकाशका मूल नियम एवं प्रणाली है।

इसी प्रकार, उस अक्षर पुरुषसे विश्व प्रकट हुआ है। और प्रलयमें यह विश्व उस अक्षर पुरुषमें ही विलीन होकर रहेगा। यही परम पुरुष है, यही परम सत्य है। इस अक्षरको जान लेनेसे, सब जाना जा सकता है। कार्य कारणका ही प्रकार भेद रूपान्तर मात्र है। जगत्का कारण अक्षर पुरुष है, परमकारण अक्षर पुरुषको जान लो, तब कार्य जगत् सभी ज्ञात हो जायगा*। अक्षर पुरुष सर्वदा एक रूप रहता है, वह स्वतःसिद्ध व चिरनित्य है। परन्तु जगत्के नाम रूप निरन्तर ग्रहण करते रहते हैं। नाम रूपोंकी सत्ता कारणकी सत्ता पर ही निर्भर रहती है, इसी लिये कारण सत्तासे नाम रूपों की सत्ता स्वतन्त्र नहीं, ये तो केवल आपेक्षिक भावसे सत्य हैं। हमने जो

द्व्यस्ति। तस्मात् सर्वज्ञं तद् ब्रह्म ,,। "In the sight of enternal one time vanishes altogether He sees the past and the present as one; at every moment he sees all causes & all effects i. e. he sees reality as a Unified whole in which each element is conditioned by the whole & is essential to the whole......the most remote and the most immediate are combined in his consciousness."

Dr. Paulsen.

* कारणविज्ञानाद्धि सर्वं विज्ञातमिति प्रतिज्ञातम्। वेदान्तभाष्य १।१।८। यहां कारण शब्दसे उपादानको समझना चाहिये निमित्तको नहीं। वेदान्तमें ब्रह्म ही जगत्का उपादान कारण एवं निमित्त कारण माना गया है। अक्षतरणिका देखो।

आपको अपराविद्याका वर्णन सुनाया है, उस अपरा विद्याके विषय नाम रूप प्रभृति आपेक्षिक भावसे सत्य हैं। परम सत्य तो परा विद्याका विषय अक्षर पुरुष ही है। *। इस अक्षर पुरुषको भली भांति जानना चाहिये। इसकी प्रत्यक्षानुभूतिका लाभ होते ही, ज्ञानकी पूर्णता हो जाती है। किन्तु किस प्रकार मुमुक्षु पुरुष इस सत्य व अक्षर पुरुषकी प्रत्यक्षवत् उपलब्धि करनेमें समर्थ होते हैं?

मन लगाकर सुनो। प्रदीप्त अग्निसे निकल कर छोटे छोटे स्फुलिङ्ग सब दिशाओं में विकीर्ण हुआ करते हैं, यह अवश्य ही आपने देखा है। ये स्फुलिङ्ग अग्नि के ही सजातीय हैं एवं उष्णता व प्रकाशत्व वाले ये स्फुलिङ्ग स्वरूपतः अग्नि से भिन्न अन्य कुछ नहीं हैं। अग्नि से भिन्न 'देश, में † स्थित होनेसे ही विचारे स्फुलिङ्ग अग्निसे पृथक् स्वतन्त्र वस्तु लोक में समझे जाते हैं, वास्तव में वे अग्नि से अलग नहीं हैं। इसी प्रकार जीव भी, चित्प्रकाश-स्वरूप परमात्म—चैतन्य से स्वरूपतः स्वतन्त्र या भिन्न नहीं हैं, देहादि उपाधियोंके भेदवश ही जीव व्यवहारमें परमात्म-चैतन्यसे स्वतन्त्र समझ लिया जाता है। घट, मठादि विविध अवकाशोंकी ‡ भिन्नता द्वारा जैसे अखण्ड महाकाशका + भिन्न भिन्न नामोंसे व्यवहार किया जाता है, किन्तु वे स्वरूपतः महाकाशसे भिन्न नहीं है वैसेही जीवभी स्वरूपतः परमात्म—चैतन्य से स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं—केवल उपाधिके भेदसे ही भिन्न जान पड़ते हैं ×। अ-

---

* शङ्कर की इन बातों से हम एक और तत्व पाते हैं। अपरा विद्याएँ परा विद्यासे एक बार ही 'स्वतन्त्र, Unretaled to and independent of नहीं हैं। ये सब परा विद्याके साथ घनिष्ठतासे सम्बद्ध हैं। अपरा विद्याओंकी तत्त्वदर्शी जन ऐसी ही विवेचना करते हैं। इसके विरुद्ध अल्पज्ञ लोग जानते हैं कि, अपरा विद्यायें स्वतन्त्र वा प्रत्येक पृथक् पृथक् एक विद्या है।

† देश— spaces

‡ अवकाश —spaces

+ महाकाश– Unlimited space

× जीवात्मा स्वरूप से परमात्म—चेतन्य से भिन्न 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं है, यह बात वेदान्तभाष्यमें शङ्कर ने स्पष्ट कही है। "प्रतिषिध्यते न तु परमार्थतः सर्वज्ञात् परमेश्वरादन्यो द्रष्टा श्रोता वा (जीवः) परमेश्वरस्तु......शरीरात्......विज्ञानात्मसाख्यात् (? जीवात्) अन्यः"— १।१।१९।

खण्ड अवकाश स्वरूप आकाशकी उत्पत्ति नहीं, नाश भी नहीं। तथापि घट-मठादि खण्ड २ अवकाशकी उत्पत्ति व नाशके द्वारा, अखण्ड आकाश-की भी उत्पत्ति व विनाश का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है। इसी भांति, अक्षर अखण्ड पुरुष का भी जन्म-नाशादि नहीं, किन्तु देहेन्द्रियादि उपाधियों की उत्पत्ति एवं ध्वंस अवश्य है। इस देहेन्द्रियादि की उत्पत्ति व नाश के कारण ही, अक्षर पुरुष-चैतन्य का भी जन्म-नाशादि व्यवहार संसारमें प्रसिद्ध हुआ है। सुतरां जीवात्मा और परमात्मा में स्वरूप से कोई भेद नहीं है। अर्थात् जीव परम-चैतन्य से व्यतीत स्वरूप से स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकार जीवात्मा के यथार्थ रूपको अनुभव हो जाने पर परमात्माके स्वरुप की भी प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाया करती है।

पहले कहा गया है कि, जगत्की सृष्टिके पूर्व ब्रह्ममें ब्रह्मसत्ताकी एक अभिव्यक्तिका उन्मुख परिणाम * स्वीकार कर, यह परिणामोन्मुखिनी आगन्तुक शक्ति 'मायाशक्ति' नामसे अभिहित की गई है। यह जगत् विकारी और परिणामी है। प्रलयकालमें यह जगत् शक्तिरूपसे ही विलीन हो जाता है। इस कारण जगत्का उपादान 'परिणामिनी शक्ति' अवश्य माननी पड़ती है। यह शक्ति समस्त नामरूपोंका बीज वा उपादान है। और ब्रह्म ही इस बीज शक्तिका अधिष्ठान है †। यह बीजशक्ति अभिव्यक्त होकर जब जगत्के विविध नामों व रूपोंसे प्रकट होती है, तब इसकी विकारावस्था मानी जाती है। किन्तु प्रलयमें जब ये विकार तिरोहित होकर अव्यक्त शक्ति रूपसे विलीन हो रहते हैं, तब यह शक्ति विकारोंकी अपेक्षा

---

* शङ्करने वेदान्तमें इसे "व्याचिकीर्षित अवस्था" व "जायमान अवस्था" माना है।

† यह अंश टीकाका आनन्दगिरिके लेखसे लिया गया है। "शक्तिविशेषोऽस्यास्तीति तथोक्तं नाम रूपयोर्बीजं ब्रह्म, तस्योपाधितया लक्षितं, शुद्धस्य कारणत्वानुपपत्त्या। तस्मादुपाधिरूपात् तद्विशिष्ट रूपाच्चयतोऽक्षरात्पर इति सम्बन्धः"। आपने कठ भाष्यमें भी कहा है—"विनाशिनाम्भावानां शक्तिशेषोलयः स्यात्। प्रलये विनश्यत् सर्वं यत्र शक्तिशेषो विलीयते, सोऽभ्युपगन्तव्यः २।५।१३ शङ्कर कहते हैं—"प्रलीयमानमपिचेदं जगत् शक्त्यवशेषमेव प्रलीयते"।

'स्वतन्त्र' कही जा सकती है। या यों कहो कि विकारों वा कार्योंका जो बीज कारण है, वह अवश्य ही विकारोंसे 'पर' वा 'स्वतन्त्र' है सब विकारोंकी बीज स्वरूपिणी इस शक्तिका ध्वंस नहीं—इसी लिये इस का ' अक्षर , शब्द से भी निर्देश किया जाता है। ब्रह्मपदार्थ—इस ' अक्षर , शक्ति से भी ' पर , वा स्वतन्त्र है। क्योंकि ब्रह्म ही तो इस आगन्तुक शक्ति का अधिष्ठान है। निर्विशेष ब्रह्मसत्ता की ही तो सृष्टि के प्राक्काल में एक विशेष अवस्था * हुई थी एवं इस आगन्तुक अवस्था को लक्ष्य करके ही तो उसे अव्यक्त शक्ति कहा गया था सुतरां वह पहले न थी वह ' आगन्तुक , है। सृष्टि के पूर्व क्षण में अभिव्यक्ति के उन्मुख होने से ही उसे ' आगन्तुक, कहा जाता है। परन्तु ब्रह्म तो पूर्व से ही स्वतः सिद्धरूप से वर्त्तमान था। अतएव ब्रह्म—' आगन्तुक, शक्तिसे स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र ब्रह्म ' अक्षर शक्ति , से भी परे है। यह शुद्ध है क्योंकि यह विकारों से अतीत एवं सब विकारों की कारणशक्ति से भी स्वतन्त्र है। यह दिव्य—स्वात्ममहिमा में प्रतिष्ठित है। यह सर्वमूर्ति वर्जित—निरवयव है। परिणामिनी शक्ति ही सावयव कही जाती है +

---

* शङ्करने इसे 'व्याचिकीर्षित अवस्था, कहा है। वेदान्त भाष्य १।१।५ एवं मुण्डक भाष्य १।१।८ देखो। "अव्याकृतात् व्याचिकीर्षितावस्थातः, " नामरूपे व्याचिकीर्षिते ,,। यही 'जायमान अवस्था ; है। रत्नप्रभाटीका में स्पष्ट ही लिखा है—' सर्गोन्मुखः कश्चित् परिणामः ,।

† क्रियाके अंश करणांश Motion एवं कार्यांश Matter दोनोंही घनीभूत Integrated होते हैं। घनीभवन के समय दोनों खण्ड खण्ड रूप से प्रकाश पाते हैं इस खण्ड भाव को लक्ष्य करके ही 'अवयव, वा परिणाम कहा जाता है। "विभक्तदेशावच्छिन्नत्वेन अवयवत्वादि व्यवहारः,,—आनन्दगिरिः। नहीं तो शक्ति का अवयव कहां ! वह शक्ति के आकार से एक है। विशेष देश और विशेष काल में व्यक्त न होने से निर्विशेष ब्रह्मसत्ता ' निरवयव , कही जाती है। परिणाम रहितेन अचलेन स्पन्दरहितेन कूटस्थेन ,,=आनन्दगिरि। " All movements in infinite time and infinite space from one single movement—,, Paulsen.

ब्रह्म तो निरवयव व निर्विशेष है, क्योंकि यह उस शक्ति से स्वतन्त्र है। देह से जो बाहर स्थित है. उसे हम 'बाह्य, कहते हैं, एवं जो देह के अभ्यन्तर में वर्तमान है उसे 'आन्तर, कहते हैं। यह ब्रह्म उस बाह्य और आन्तर दोनों का अधिष्ठान है एवं दोनों के साथ तादात्म्यभावसे स्थित है अर्थात् बाह्य और आन्तर कोई भी ब्रह्म से भिन्न 'स्वतन्त्र, भाव से अवस्थित नहीं रह सकता *। यह कारणान्तर—शून्य है सुतरां यह अज वा जन्म रहित है। यह अजन्मा ब्रह्म जन्म, स्थिति, परिणाम, वृद्धि, क्षय और विनाश इस छः प्रकार के विकार से वर्जित है।

जीव में दो शक्तियां हैं। एक का नाम प्राण एवं दूसरी का नाम मन है। क्रियाशक्ति का नाम प्राण एवं ज्ञानशक्ति का नाम मन है विषय संयोग से प्रबुद्ध चक्षु करणादि इन्द्रियों के द्वारा यह मन—शब्दस्पर्शादि विविध विज्ञानाकारों को धारण करता है। और विषय के योग से प्रबुद्धहस्त पदादि इन्द्रियों द्वारा यह प्राण—विविध क्रिया के आकार में परिणत होता है। यह प्राण और मन—एक ही वस्तु है। क्रिया की ओर देखने से 'प्राण, एवं ज्ञान की ओर देखने से 'मन, है। सारांश यह कि जीव, चैतन्य स्वरूपतः अखण्ड ज्ञान—स्वरूप है। इस ज्ञान का कोई परिणाम वा विशेषत्व नहीं है। सब क्रियाओंकी बीजभूत प्राणशक्ति ही नियुक्त विविध इन्द्रियों द्वारा नानाविध विकारोंको प्राप्त हुआ करती है इन सब विकारोंके संसर्गसे नित्यज्ञानका भी अवस्थान्तर प्रतीत हुआ करता है ज्ञान के इस अवस्थान्तर की ओर लक्ष्य करके ही प्राणशक्तिको 'मन वा 'प्रज्ञा, शब्द से व्यवहार किया जाता है। वास्तवमें मन और प्राण अभिन्न वस्तु हैं †।

---

* ये बातें आनन्दगिरि की हैं। "देहापेक्षया यद् बाह्यं आभ्यन्तरञ्च प्रसिद्धम् तेन सह तादात्म्येन तदधिष्ठानतया वा वर्तते इति 'सबाह्याभ्यन्तर, इति,,।

* विज्ञान भिक्षुने अपने वेदान्त—भाष्यमें यह तत्त्व समझाया है। "प्राणान्तःकरणयोरपि एकव्यक्तिकत्वम्,, (२।४।१२)। "महत्तत्वं हि एकमेव प्रकृतेरुत्पद्यमानं ज्ञानक्रियाशक्तिभ्याम् बुद्धिप्राणशब्दाभ्यामभिलप्यते', (२।४।११)। गर्भस्थ भ्रूण में पहले प्राणशक्ति उद्भूत होती है। एव यह प्राणशक्ति ही अन्न रसादिकी परिचालनादि द्वारा मनुष्य देह गढ़ डालती

प्राणशक्ति ही विषयसंयोगसे विविध इन्द्रियशक्तिके रूपसे परिणत होती है एवं उसके साथ साथ चेतन का भी अवस्थान्तर अनुभूत होकर नानाविध शब्द स्पर्श सुख दुःखादि विज्ञानकी प्रतीति होती है। इसी उद्देश्यसे 'मन, वा 'अन्तःकरण, शब्द द्वारा वही बात समझाई जाती है * । निर्गुण ब्रह्म-पदार्थ प्राणशक्तिसे स्वतन्त्र 'अप्राण, और 'अमना, है। सृष्टिके पहिले प्राणशक्ति उत्पन्न होती है एवं वही जब प्राणी देह में प्राण और मनरूप से अभिव्यक्त होती है, तब उसके योग से जीव को, प्राणमय, और 'मनोमय, कहते हैं। सृष्टि के पूर्व निर्गुण ब्रह्म में इस प्राण व मन की सम्भावना कहां ? ब्रह्म (आगन्तुक) प्राणशक्ति वा, मायाशक्ति (अक्षर) से स्वतन्त्र है। सुतरां वह परम शुद्ध है। इस निर्गुण निष्क्रिय सर्वोपाधिवर्जित शुद्ध ब्रह्म–चैतन्य में जो शक्ति ओतप्रोत भावसे एकाकार होकर वर्त्तमान थी, उसीने सृष्टि के पहले जब जगत् रूप से प्रकट होने का उपक्रम किया, तभी

है, तब यही अनेक इन्द्रिय शक्तियोंके रूपसे अभिव्यक्त होकर क्रिया करती रहती है। मनुष्यमें इस ज्ञान की अभिव्यक्ति को देखकर, इसी को 'बुद्धि, (ज्ञानशक्ति) कहा गया। "सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् (जीवम्–जीवोपाधिम्),,। इसीलिये श्रुतिमें चक्षु आदि इन्द्रिय शक्तियां भी 'प्राण' नाम से अभिहित हुई हैं। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि, जीवशरीर में प्राणका ही अंश चक्षु कर्णादि इन्द्रियोंमें टिका हुआ है। "चक्षुरादीनां प्राणांशत्वात् 'अपर्वत्वम्. प्राणस्य (शङ्कर),,। इसीलिये भिन्न २ इन्द्रियोंमें प्राणका ही भिन्न भिन्न वृत्तिभेद उल्लिखित हुआ है। "पायु और उपस्थ में अपान, नाभिमें समान, चक्षु श्रोत्र और मुख नासिका में मुख्य प्राण हैं,, इत्यादि कथनका भी तात्पर्य ऐसा ही है (प्रश्नोपनिषद्)। अन्यत्र भी श्रुतियों में देखा जाता है कि,–प्राणसे चक्षु आदि इन्द्रियां अभिव्यक्त होती हैं एवं प्राण में ही लीन हो जाती हैं। प्राणके निकलते ही सब इन्द्रियां मृतवत् हो जाती हैं। यह भी कहा गया है कि, सुषुप्ति और मृत्यु कालमें इन्द्रियां मनमें एवं मन प्राणमें विलीन हो जाता है। इन सब बातों का एक ही अभिप्राय है। अर्थात् प्राण और मन एक ही पदार्थ है।

* "प्राणः..........सर्वक्रियाहेतुः। यश्चतः सर्वज्ञान–हेतुभूतांश्चक्षुरित्याद्येता' ऐतरेयारण्यक, २।३। वेदान्तभाष्य, १।१।३१ देखिये।

'प्राणशक्ति, 'अव्याकृतशक्ति, * 'आकाश, प्रभृति नामों से उसका व्यवहार किया गया।

सारे नामरूपोंकी जननी इस शक्तिरूप उपाधिके द्वारा लक्षित पुरुषसे ही जगत् उत्पन्न हुआ है। उत्पत्तिके पूर्वकाल में यह आगन्तुक शक्ति न थी, उत्पत्तिके पश्चात् भी ब्रह्मसे पृथक् स्वतन्त्र रूपमें इसकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती; इसीलिये यह 'अनृत' व 'असत्य' कही जा सकती है। इस बातका तात्पर्य यही है कि, ब्रह्मसत्ताकी ही एक आगन्तुक अवस्था एक विशेष आकार उपस्थित होनेसे यह कोई स्वतन्त्र पदार्थ हो पड़ा, ऐसा नहीं माना जा सकता। न ऐसा कभी हो सकता है। पूर्ण ब्रह्मसत्तासे व्यतिरिक्त स्वतन्त्र कोई भी वस्तु नहीं है। शक्ति की भी सत्ता वस्तुतः ब्रह्मसत्तासे स्वतन्त्र नहीं है; इसीलिये 'स्वतन्त्र' रूपसे ही यह 'असत्य' कही जा सकती है। सुतरां इस प्राणशक्तिके होते भी ब्रह्म परमार्थतः 'अप्राण' कहा जाता है। क्योंकि जो असत्य है—जिसकी स्वतन्त्र, स्वाधीन सत्ता ही नहीं—उसके द्वारा ब्रह्ममें भेद नहीं पड़ सकता।

यह शक्ति ही स्थूल विश्वाकार से अभिव्यक्त हुई है। यह अव्यक्त शक्ति सब से प्रथम प्राण वा हिरण्यगर्भ रूप से प्रकट होती है यह तत्व आपको बतला चुके हैं। यही फिर तेज जल और पृथिवी रूप से उद्भूत होकर अन्त में प्राणी देह व इन्द्रियादि रूप से अभिव्यक्त हो पड़ती है †। प्राणशक्ति जब जगदाकार से खिल पड़ी है तब भी वास्तव में उसके कारण ब्रह्म में कोई भेद नहीं आ सकता। क्योंकि जगत् क्या है! यह भी उस

---

* वेदान्तभाष्यमें शङ्कर कहते हैं—"यह अजा शक्ति वा प्रकृति—तेज, जल और अन्न रूपसे त्रिरूपा है"। (१।४।९)

† इस विषय की समालोचना अवतरणिका के सृष्टितत्व में विशेषरूप से की गई है। जो प्राणशक्ति बाहर स्पन्दनरूप से अभिव्यक्त होकर सूर्य चन्द्रादि सौर जगत् को उत्पन्न करती है वही फिर गर्भ भ्रूण में सब से प्रथम अभिव्यक्त होकर कार्यांश द्वारा देह और देह के अवयवों एवं करणांश द्वारा इन्द्रियादि शक्तियों का गठन करती है। इसी लिये यहां भाष्यकार ने लिखा है—" शरीरविषयकारणानि भूतानि "। (करणांश—motion कार्यांश matter)

प्राणशक्ति का ही रूपान्तर—अवस्था—विशेष मात्र है। अवस्था भेद होने से वस्तु कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं हो पड़ती *। वह जो शक्ति है परमार्थ में वह शक्ति ही रहती है। सुतरां ब्रह्म शुद्ध का शुद्ध ही बना रहता है। यह हमने आप के निकट संक्षेप से पराविद्या के विषयभूत, निर्विशेष, अमूर्त शुद्ध सत्य पुरुष के स्वरूप का कीर्तन किया। संक्षेप से विषय निर्द्धारण कर फिर उसका विस्तृत विवरण करने से समझने में सुविधा होती है „।

" तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वोद्धव्यं सोम्य विद्धि „ ॥

---

* नहि विशेष दर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति"स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्—वेदान्तभाष्य, २।१।१८।
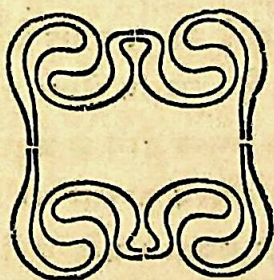
तृतीय परिच्छेद ।

(विराट्)

महर्षि अङ्गिरा कहने लगे,—

महाशय ! इस से पहले शक्ति की सूक्ष्म अभिव्यक्ति की बात कह चुके हैं अब स्थूल अभिव्यक्ति का वर्णन करेंगे । इस स्थूल अभिव्यक्ति का समष्टि नाम है—' अंड , वा ' विराट् , । वह अक्षर भूतयोनि पुरुष ही सूक्ष्म हिरण्यगर्भ रूपसे एवं वही स्थूल विराट्रूप से व्यक्त हो रहा है । नानाविध स्थूल सृष्ट—पदार्थों की इस विराट् पुरुष के देहावयव रूप से कल्पना की जा सकती है । यह परिदृश्यमान आकाश उस विराट् पुरुष का मस्तक है सूर्य और चन्द्रमा उसके दोनों चक्षु हैं दिशायें उस के कर्ण हैं अभिव्यक्त वेद (शब्दराशि)उस का वाक्य है । स्थूल वायु ही इस विराट् देह की प्राण शक्ति एवं यह स्थूल जगत् उस का हृदय वा मन है । जगत् मन वा चित्त का ही विकार है क्योंकि यह जगत् परमार्थतः ज्ञेय आकार से स्थित है । सुषुप्ति के समय ज्ञेय जगत् मन में ही विलीन होकर रहता है और फिर जाग्रत् अवस्था में उस बीज से ही पुनः प्रादुर्भूत होता है * । यह

---

* ऐसी बातें पढ़कर कोई यह न समझ बैठे कि तब तो जगत् केवल ' विज्ञान , (Idea) मात्र है । यद्यपि केवल मनुष्य सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है तथापि मनुष्य होने के बहुत पहले से यह जगत् वर्तमान था श्रुति इस बातको अवश्य जानती थी । शङ्कर मतमें यह जगत केवल विज्ञान मात्र नहीं हो सकता । यदि वही हो, तो उन्हों ने विज्ञान वाद का खण्डन क्यों किया ! माण्डूक्य गौड़ पादकारिका ४ । ५४ में शङ्करने कहा—" यह जगत् केवल चित्त का ही धर्म नहीं हो सकता ,, । " न चित्तजाःवाह्य धर्माः ,, इत्यादि देखो । इस भाष्य की टीका में आनन्दगिरिने स्पष्ट कहा है कि वस्तुएं विज्ञान स्वरूप हैं ,,—यह केवल दो चार परमार्थ दर्शियों का अनुभव मात्र है । " चिकीर्षित कुम्भ—' संवेदन ,—समनन्तरं कुम्भः सम्भवति सम्भूतश्चासौ कर्मतया स्वसंविदं जनयतीति न उपलभ्यते कस्यचिदपि विद्वद् दृष्टानुरोधेनैव अनन्यत्वात् ,, । पाठक इस से अधिक

बात जैसे व्यष्टिभाव से सत्य है, वैसे ही समष्टिभाव से भी यह बात सत्य है। विराट् पुरुष के सङ्कल्पबल से ही, उसकी शक्ति से यह जगत् प्रादुर्भूत हुआ है*। और प्रलय के समय उसी शक्ति में यह जगत् मिल जायगा। इस लिये विराट् पुरुष के मन को ही इस स्थूल जगत् रूप से कल्पना करते हैं। यह पृथिवी उस विराट् पुरुष के पद रूप से कल्पित हो सकती है। यह विराट् ही पहला शरीरी है,- स्थूल जगत ही उसका शरीर है। वही सब स्थूल भूतों में अन्तरात्मा रूप से स्थित है। वह सब भूतों में द्रष्टा, श्रोता मनन-कर्ता और विज्ञातारूप से-सबप्रकार के करणरूप से ठहरा हुआ है। इस विराट् पुरुष के नियम से ही "पञ्चाग्नियोग से,,† प्राणीवर्ग प्रति दिन इस संसार में आकर जन्म ग्रहण करते हैं।

पञ्चाग्नि क्रम से किस प्रकार प्राणीगण संसार में जन्म ग्रहण करते हैं, सो भी सुन लीजिये। द्युलोक वा आकाश, सूर्यज्योतिद्वारा परिदीप्त हो रहा है। रात्रिमें यह आकाश चन्द्रज्योतिसे दीप्त हुआ करता है। सूर्य एवं चन्द्र की ज्योति ने ही इस आकाश मंडल को अग्नि वा तेज द्वारा आप्लुत कर रक्खा है‡ इसलिये आकाश को अग्नि कहते हैं। सूर्य और सोम के किरण

स्पष्टतर बात और क्या हो सकती है? इससे भी स्पष्ट बात इसी गौड़पादकारिकाभाष्य (१।२) की टीका में आनन्दगिरि कहते हैं,-'कुछ लोग अज्ञान शक्ति को केवल एक विज्ञान मात्र मानना चाहते हैं, यह उनकी अत्यन्त भ्रान्त धारणा है? अज्ञानशक्ति विज्ञानमात्र नहीं, किन्तु जगत् की बीजशक्ति है'। ननु अनाद्यमनिर्वाच्यमज्ञानं संसारस्य बीजभूतं नास्त्येव, मिथ्याज्ञानतत्संस्काराणामज्ञानशब्दवाच्यत्वात् तत्राह ज्ञानेति, इत्यादि अंश देखिये। अवतरणिका भी देख लीजिये।

* "सोऽकामयत, बहुस्यां प्रजायेयेत्यादि ?।

† इस "पञ्चाग्निविद्या,,का तत्व छान्दोग्य उपनिषद् के ५ वें अध्याय के प्रथम से नवम खण्ड एवं बृहदारण्यक उपनिषद् ८।२।१ से १६ पर्यन्त विस्तृत रूप से वर्णित है।

‡ श्रुतिके मत से कर्मी और ज्ञानी के भेद से साधक दो प्रकार के हैं। अन्त काल में कर्मी लोग चन्द्रालोक शासित लोकों में जाते हैं एवं ज्ञानी जनों की गति सूर्यालोक शासित लोकोंमें होती है, ज्ञानियों को फिर नहीं

योग से अन्तरिक्षमें मेघ का उद्भव होता है एवं यह मेघ भी सर्वदा सूर्य तथा चन्द्रमा की किरणों से समुद्भासित रहता है। इसीलिये मेघ को द्वितीय 'अग्नि, मानते हैं। इस मेघ से निकली वारिधारा पृथ्वी पर पड़ती है और उससे लता, गुल्म, औषधि आदि की उत्पत्ति होती है। यह पृथ्वी भी तेज के सम्पर्क से शून्य नहीं है, इसीलिये इस पृथ्वी का ही नाम तीसरी 'अग्नि, है *। पृथ्वी में उत्पन्न औषधि वृक्षादिक प्राणियों द्वारा खाद्यरूप से परिगृहीत होते हैं। और वे ही प्राणी शरीरों में रेत रूप से परिणत होते हैं। अतएव औषधि आदि द्वारा ही पुरुष का (प्राणीवर्ग का) शरीर पुष्ट, वर्द्धित होता है और वे शरीरमें रेतरूपसे अभिव्यक्त होते हैं †। सुतरां इस पुरुषको ही (प्राणी मात्रको ही) चतुर्थ 'अग्नि' कहते हैं। योषित् वा स्त्री शरीरको (प्राणीमात्रके ही) पञ्चम 'अग्नि' मानते हैं ‡। स्त्री पुरुषके संयोगसे शुक्र शोणितके मिलने पर क्रम परिणामकी प्रणालीसे प्रजावर्गकी उत्पत्ति हुआ करती है +। परलोक वाले सब जीव, इन पांच

लौटना पड़ता किन्तु भोगान्तमें कर्मियोंको लौट आना पड़ता है। लौटनेके समय आकाश से अन्तरिक्ष में अन्तरिक्षसे वृष्टियोग से पृथ्वी में गिरना पड़ता है। पृथ्वी से अन्नादि रूप होकर प्राणी देह में प्रवेश कर स्त्रीगर्भ में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। यहां पर इसी लिये सूर्य और चन्द्रको काल कही गई है।

* तेजस्य वाह्यान्तः पच्यमानो योऽपांशवः स समहन्यत सा पृथिव्यभवत् शङ्कराचार्यः।

† प्राणीगण औषधि वा उद्भिद्को खाते हैं (इसी लिये श्रुतिमें व्रीही औषधि प्रभृतिको 'अन्न' नामसे अभिहित किया है)। इस खाद्य द्वारा ही प्राणियोंका शरीर रचित व पुष्ट होता है और शरीरमें शुक्र शोणितादिका भी उद्भव होता है।

‡ पुरुषका देहस्थ शुक्र–तेजस्वरूप है। स्त्री देहस्थ शोणित भी तेजरूप है। सुतरां दोनों 'अग्नि' हैं।

+ पाठक देखें श्रुतिने कैसे कौशलसे बतला दिया कि, सभी सृष्ट पदार्थ परस्पर सम्बन्ध विशिष्ट, उपकारक हैं कोई भी निःसम्पर्कित (Isolated) नहीं है। सूर्यादिकी किरणें वायुमण्डलस्थ वाष्पराशिके संयोगको भंग कर देती हैं, इससे उद्भिदादिक ताप (Carbon) प्राप्त कर देहपुष्टि करते हैं।

अग्नियोंके योगसे इन पांच पर्वोंका अवलम्बन कर मर्त्यलोकमें प्रतिदिन जन्म ग्रहण करते हैं *। जीवोंके जन्म ग्रहणका मार्ग कहकर भी, इनको 'अग्नि' (प्रकाशात्मक) कहा जा सकता है। विराट् पुरुषके अखण्डनीय नियमवश उक्त मार्गका अवलम्बन कर सब जीव नित्य ही, जन्म लेते रहते हैं सुतरां यह विराट् पुरुष ही जीव जन्म का कारण है।

इस विराट् पुरुषसे ही यावत् कर्म, कर्मोंके साधन एवं कर्म फल प्राप्ति के सब लोक उत्पन्न हुए हैं। नियत अक्षर विशिष्ट (पद्यात्मक) सब ऋक् मन्त्र वा गायत्री आदि विविध छन्द बद्ध सब मन्त्र एवं पञ्चावयव वा सप्तावयव स्तोमादि गीति युक्त † सब साम मन्त्र और अनियत अक्षर विशिष्ट (गद्यात्मक) सब यजु मन्त्र—ये तीन प्रकारके मन्त्र उससे ही अभिव्यक्त हुए हैं ‡। दीक्षा (मौञ्जी बन्धनादि नियम) अग्निहोत्रादि यज्ञ क्रतु यज्ञों

और हम उद्भिदोंसे उनके परित्यक्त 'अम्लजात, (Oxygen) को लेकर, देहरक्षा करते हैं। सबके साथकी सुदृढ़ घनिष्ठताकी बातको श्रुतिने जीवके इस सृष्टि तत्वमें बड़े कौशलसे बतला दिया है।

* हम समझते हैं, श्रुतिने इस पञ्चाग्नि विद्याके उपलक्षमें क्रम विकाशवाद का तत्व ही दिखलाया है। सूर्यचन्द्रादि विशिष्ट सौर जगत्की सृष्टि के पश्चात् पृथिवी हुई फिर उद्भिद् राज्यका विकाश हुआ, अनन्तर रेतोयुक्त प्राणियोंकी अभिव्यक्ति हुई है। पाठक यह क्रम विकाशका तत्व क्या यहां नहीं मिलता?

† अर्थ शून्य वर्णोंका नाम 'स्तोम, है। जैसे हाऊ, हाई अथ, ई, ऊ, ए, ओ, होई, हिं, हुम् इत्यादि वर्ण हैं। छान्दोग्य उपनिषद् १।३।१३।४ तक देखो। सामगानके कई अवयव हैं। उद्गाता पुरुष जो गान करते हैं उसका नाम है "उद्गीथ„ गान। प्रतिहर्त्ता जो गान उच्चारण करते हैं उस का नाम 'प्रतिहार, गान है। इसी प्रकार ५ वा ७ प्रकारका गान होता है छान्दोग्य देखो।

‡ ओंकार सभी मन्त्रोंका मूल है। ओंकार सब शब्दोंका बीज है। सृष्टिकालमें अव्यक्त शक्ति पहिले स्पन्दनाकारसे कम्पन रूपसे शब्द रूपसे अभिव्यक्त होती है। अकार ही आदिम शब्द है दे + ऊ + म अकारके ही मौलिक विकार हैं। अन्य सब स्वर और व्यञ्जन इस मूल ओंकार के ही विकार हैं।

की दक्षिणा दान पद्धति यज्ञका काल यज्ञकर्ता यजमान, यज्ञके फल स्वरूप स्वर्गादिक लोक एवं इन सब लोकोंमें जानेके लिये सूर्य और चन्द्रमाके आलोक द्वारा शासित जो उत्तर तथा दक्षिण मार्ग है * यह सब कुछ उस अक्षर पुरुषका ही विधान है।

इस विराट् पुरुष से ही प्राण एवं अपान व्रीही एवं यव † प्रादुर्भूत हुए हैं। इस विराट् पुरुष के अङ्गभूत आदित्य रुद्र, वसु प्रभृति आधिदैविक पदार्थ, उसीसे उत्पन्न हुए हैं साध्य नामक देवतावर्ग भी उसीसे उद्भूत हुए हैं। ग्रामीण व वनवासी सब पशु पक्षी एवं अन्तमें कर्मके अधिकारी मनुष्य वर्ग उसीसे प्रकट हुए हैं। मनुष्य शरीरमें जीवन धारणके हेतु भूत प्राण व अपान ‡ एवं शरीर स्थितिके कारण व्रीही यवादि अन्न भी उसीकी सृष्टि हैं। यज्ञादि क्रियाओंकी साधन भूत तपश्चर्या एवं सर्वत्र ब्रह्मदर्शनका सहायभूत इन्द्रियादि निग्रहरूप तप यह दो प्रकारकी (कर्मी और ज्ञानीके भेद से) तपस्या, पुरुषार्थ साधन की हेतुभूत आस्तिक्य बुद्धि, सत्यपरायणता, परपीड़ावर्जन और ब्रह्मचर्यपालन ये तीन ब्रह्मविद्यानुशीलनके सहायक + ये सब उसीके बनाये हुए हैं।

---

* ये ही देवयान मार्ग और पितृयान मार्ग नामसे प्रसिद्ध हैं। प्रथम खण्डकी अवतरणिका में इनका विवरण किया गया है।

† अन्यत्र श्रुतिमें व्रीही और यव 'अन्न, शब्दसे अभिहित किये गये हैं। क्रिया विकाशित होते ही वह करण रूपसे (प्राणशक्ति रूपसे) एवं कार्यरूपसे (अन्नरूपसे) विकाशित होती है। इस स्थलमें प्राण और अपान शब्द द्वारा करणात्मक अंश एवं व्रीहि यव शब्द द्वारा कार्यात्मक अंशकी बात कही गई है। इन दोनों अंशोंने ही पहले सूर्य चन्द्रादि आधिदैविक पदार्थों फिर पशु पक्षियों अन्तमें मनुष्योंको अभिव्यक्त किया है, यह बात कही गई है।

‡ प्राणापानवृत्तिर्जीवनम् ऐतरेय आरण्यक भाष्य, २।३। श्रुतिने कैसे चातुर्यके साथ एक ही श्लोकमें क्रम विकाश वादका निर्देश कर दिया है, इस बातको पाठक भली भांति लक्ष्य करें।

+ मनुष्य सृष्टिकी बात कह कर, कर्मी और ज्ञानी भेदसे मनुष्यके आचरित कर्मोंका विवरण भी साथ ही साथ संक्षेपसे कह दिया गया है।

इस विराट् पुरुष से ही मनुष्य के दो कान, दो आंख, दो नासिका और वाणी—ये प्रधान सात इन्द्रियां * प्रादुर्भूत हुई हैं। निज निज विषय की उपलब्ध करने वाली इनकी सात प्रकार की दीप्ति है। शब्द स्पर्श रूप रसादि सात प्रकार का विषय ही इनके लिये समिधा वा काष्ठ स्वरूप है। सप्त प्रकार के विषयरूपी इंधन के संयोग से उक्त सप्त प्रकारकी इन्द्रियां प्रदीप्त हो उठती हैं। इन्द्रियां जब विषयों की अनुभूति का लाभ करती हैं तब मानों ये होम क्रिया करने लगती हैं ऐसा भी कहा जाता है यह सात भांति की इन्द्रिय शक्ति देहस्थ चक्षु कर्णादि गोलकों में † सर्वदा घूमती रहती है और अपने अपने स्थानमें रहकर विषय विज्ञान का लाभ उठाती है। परन्तु सुषुप्ति के समय सब इन्द्रियां अपने विषयों से निवृत्त होकर बुद्धि गुहा में ‡ लीन हो रहती हैं। इन की भी प्राणी देह में स्थाप. ना उस विराट् पुरुष ने ही की है। जो लोग संसार में मग्न हैं इन्द्रिय परायण हैं वे सब इन्द्रिय और विषयों के सद्व्यवहार को नहीं जानते। उन के लिये तो ये इन्द्रियां शब्दस्पर्शादि विषयों का सम्वाद देने वाले यन्त्र मात्र ही हैं। परन्तु जो आत्मयोजी हैं विद्वान् और मुमुक्षु हैं जो विवेकी सर्वदा सब पदार्थों में केवल ब्रह्म का ही अनुभव ब्रह्म दर्शन का ही अभ्यास करते हैं उन के पक्ष में ये इन्द्रियां अन्य प्रकार का समाचार लाती हैं। विषय योग से प्रदीप्त इन्द्रियां क्या जाग्रत् में क्या निद्रावस्था में निरन्तर मानो विषयानुभूतिरूप होम क्रिया व ब्रह्मयज्ञ का सम्पादन कर

---

* पूर्व मन्त्र में मनुष्योत्पत्ति की बात कही गई है किन्तु मनुष्य देहमें इन्द्रियोत्पत्ति की चर्चा नहीं की गई वह बात इस मन्त्र में पूरी की गई और साथ ही यह सूचना हो गई कि किस प्रकार से इन्द्रियों का प्रयोग करके मनुष्य ब्रह्म के उद्देश्य से कर्म करता हुआ सद्गति को प्राप्त कर सकता है। ऐसा मधुर सृष्टि तत्व वेद से अलग अन्यत्र कहां मिलता है!।

† गोलक—स्थान sites of organs

‡ बुद्धि गुहा प्राणशक्ति। सुषुप्ति काल में शब्द स्पर्शादिक विज्ञान मन में विलीन हो जाते हैं। और मन विविध विज्ञानों समेत प्राणशक्ति में विलीन हो जाता है। इसी कारण तब कोई विशेष विज्ञान नहीं रहता। सभी कुछ अव्यक्त रूप से प्राण में निवास करता है। फिर जाग्रत काल में इस प्राणशक्ति से ही विविध विज्ञान और इन्द्रियोंकी क्रियाएं विषययोगसे प्रबुद्ध हो जाती हैं। इसको क्या Sub-Conscious region कह सकते हैं।

रही हैं वे महात्मा ऐसा ही अनुभव करते हैं * जीव की सुषुप्ति अवस्था में विषय और इन्द्रियवर्ग जब सुप्त हैं—तब भी प्राणशक्ति शरीर में जागती हुई उस आत्म यज्ञ वा ब्रह्म होम का सम्पादन कर रही है † ऐसे आत्म याजियों को इन्द्रियां और उनके विषय कदापि लिप्त नहीं कर सकते। विधाता का सृष्टि रहस्य ऐसा हीं है। ग्रहण वा भावना के तारतम्यसे एक ही वस्तु कभी अमृत की भांति हितकर होती है कभी विषवत् प्राण नाश करती है।

इस अक्षर पुरुष से ही लवण समुद्र उत्पन्न हुआ है। सब पर्वत भी उसी की सृष्टि हैं। नाना दिशाओं में दौड़ने वाली नदियां भी उसी से निकली हैं। विविध औषधादि उद्भिज्जों की भी उत्पत्ति वहीं से हुई है एवं ये सब उद्भिज्ज जिस रसादि को ग्रहण कर जीवित व पुष्ट रहते हैं उस रसादि का स्रष्टा भी अक्षर पुरुष ही है ‡ ये जो सूक्ष्म शरीर स्थूल भूतोंके

* इस भांति इन्द्रिय और विषय की अनुभूति में यज्ञ भावना करने से विषयाच्छन्नता दूर हो जाती है। उपदेश साहस्री ग्रन्थ में भी यह तत्व है "व्यवहार काले विषयग्रहणस्य होम भावना तत्फलञ्च विषयेषु आसक्ति निवृत्तिः" १५। २२

† प्रश्नोपनिषद् में भी जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिकाल में इस होम की भावना की बात है। "यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समंनयतीति" इत्यादि (४। २। ११) देखो। वहां शङ्कर कहते हैं "विद्वान् मुमुक्षु पुरुष सर्वदा ही ब्रह्मार्थ कर्म करते हैं, कभी भी कर्म से हीन नहीं रहते स्वप्न काल में भी ये होम सम्पादन में लगे रहते हैं"। "विदुषः स्वापोऽपिअग्निहोत्र हवनमेव। तस्मात् विद्वान् नाकर्मीति मन्तव्य इत्यभिप्रायः"। शङ्कर ने मुमुक्षु के पक्ष में सकाम यज्ञ क्रियादि त्यागने की ही व्यवस्था दी है। इन गूढ रहस्यों को न जानने वाले ही समझते हैं कि शङ्कर ने निष्कर्मा संन्यासियों का दल बढ़ा दिया है। प्रथम खंड की अवतरणिका में इस कर्म त्याग की समालोचना की गई है।

‡ पूर्व में सूर्यादि आधिदैविक सृष्टि के पश्चात् पशु पक्षी और मनुष्यों की उत्पत्ति कही गई है। यहां पर्वत नदी एवं उद्भिज्ज सृष्टि का भी वर्णन श्रुति ने कर दिया। सृष्टि पूर्ण हो गई। इस अध्याय के सब मन्त्रों को साथ पढ़ने से सृष्टि के एक क्रम उन्नत स्तर की बात जानी जा सकती है।

आश्रय में वर्त्तमान रहते हैं * यह भी उसी विराट् का विधान है। वही सूक्ष्म शरीरों का अन्तर्यामी आत्म चैतन्य है।

अतःसमुद्रागिरयश्चसर्वेऽस्मात्स्यन्दतेसिन्धवःसर्वरूपाः।

इस प्रकार पुरुष से ही सर्व विध पदार्थ सृष्ट हुए हैं। पुरुष ही इस अ-गतरूप से स्थित है और वही सब कुछ है। उस से स्वतन्त्र वा पृथक् कोई वस्तु नहीं उसी की सत्ता में सब पदार्थों की सत्ता है। सुतरां जिसकी परमार्थतः स्वतन्त्र सत्ता नहीं वही 'असत्य, माना जाता है। अतएव एक मात्र सत्य पुरुष ही है †। पुरुष सत्ता से स्वतन्त्ररूप में स्वाधीनभाव में इस विश्व की सत्ता नहीं ठहर सकती। उसी सत्ता का अवलम्बन कर, यह विश्व विराजमान है। अर्थात् यह पुरुष ही विश्वस्थ यावत् पदार्थों का कारण है, विश्व इस कारण का कार्य है। कार्य,—कारण का ही रूपान्तर, अवस्था—भेद मात्र होता है। सुतरां कार्य,—कारण से वास्तवमें एकान्त 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं। कार्य यदि कारण—सत्ता का ही रूपान्तर मात्र है, कार्य यदि कारण—सत्ता से परमार्थतः कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं,—तब तो कारण को विशेषरूप से जान लेने से ही सब काम बन जायगा। कारण का ज्ञान होते ही साथ हीमें कार्य का ज्ञान आप ही आ जायगा। अत एव परमकारण स्वरूप ब्रह्म वस्तु को ही जानना चाहिये, उसके ज्ञान से सभी पदार्थ ज्ञात हो जायंगे। तप और ज्ञान उसी से उत्पन्न हुए हैं। ज्ञान विहीन केवल कर्मी जनों का साधन तप है और ज्ञानी महोदयों का साधन ज्ञान है—यह भी उसी का विधान है। जो भाग्यवान् सज्जन हृदयगुहामें जीवात्मा के सहित अभिन्नभाव से परम अमृतस्वरूप इस ब्रह्म पदार्थ का अनुभवकर सकते हैं, उनकी अविद्याग्रन्थि ‡ खुल जाती है। हे सौम्य! इस संसार में ही वह ज्ञानी व्यक्ति सब बन्धनों से छूट कर मुक्त हो जाता है।

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ॥
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सौम्य ॥

---

* सूक्ष्म शरीर स्थूल भूत के आश्रय बिना नहीं ठहर सकता यह बात अङ्गिराने यहां कह दी है। विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्यदर्शनमें ऐसाही कहा है।

† All objects are for him and through hime—Paulsen. " विकारोऽनुगतं जगत् कारणं ब्रह्म निर्दिष्टं, 'तदिदं सर्वम्, इत्युच्यते, यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, इति। कार्यञ्च कारणादव्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः,,—वेदान्तभाष्य १।१।२५

‡ विषयदर्शन, विषय—कामना, एवं विषय—सुखकी प्राप्तिके निमित्त कर्म इन तीनों को ही भाष्यकारने ,अविद्या ग्रन्थि कहा है। प्रथम खण्ड देखिये।

चतुर्थ परिच्छेद ।
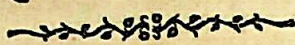
(ब्रह्म साधन)

महात्मा अङ्गिरा शौनक जी से फिर कहने लगे—

" ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया, एवं किस प्रकार ब्रह्म जगत् का कारण होता है, सो भी कह चुका हूं । भूतयोनि अक्षर पुरुष के तत्त्वकी बात आप सुन चुके कि, किस प्रकार वह अक्षर पुरुष सूक्ष्मरूप और स्थूल रूप से अभिव्यक्त होता है । इस समय उस अक्षर ब्रह्म पदार्थ की साधन प्रणाली पर कुछ विचार कर लेना परमावश्यक है । आप मन लगाकर इस साधनप्रणाली और उपासना पद्धति को श्रवण करें ।

१—उत्तम साधक नित्य ही ब्रह्म पदार्थके स्वरूपादि के विचार में प्रवृत्त रहेंगे, तो इस कार्य से उनका ज्ञान पूर्ण हो जायगा, तब मुक्ति ही मुक्ति है ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के विषय में वार वार भावना एवं तद्विषयक युक्तियों का प्रतिक्षण मनन व अनुसन्धान करना मुख्य कर्त्तव्य होना चाहिये । यही विचार के सुदृढ़ होने का एक मात्र उपाय है ।

ब्रह्म पदार्थ स्वरूपतः परोक्ष होते भी यह बुद्धि के नानाविध विज्ञानों के साथ २ प्रकाशित होता है । दर्शन, श्रवण, मनन विज्ञानादि द्वारा, इसी का स्वरूप (अखण्ड ज्ञान) प्रकाशित हुआ करता है * इसीलिये इस का नाम हृदयगुहाशायी है । बुद्धिरूप गुहा में यह आत्म चैतन्य बुद्धियों की विविध वृत्तियोंके संसग से ज्ञानाकारमें प्रकाशित हो रहा है । इसीके प्रकाश से विश्व प्रकाश होता है, नहीं तो विश्व का प्रकाश असम्भव है । सब के आश्रय व अधिष्ठान रूपसे इस ब्रह्म चैतन्य की भावना करना चाहिये । इसके अधिष्ठानमें अधिष्ठित रहकर ही सब पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं

---

* बुद्धि की वृत्तियां वा परिणाम जड़ हैं, शब्दस्पर्शादि भी जड़ हैं, इनमें 'ज्ञान, नहीं रह सकता । तब इनकी जो उपलब्धि होती है, सो इस प्रकाश स्वरूप परमात्म चैतन्य के ही कारण होती है । अर्थात् जड़ विकारों के संसर्ग में एक अखण्ड आत्म चैतन्य की ही भिन्न अवस्था प्रतीत होती है । सुतरां 'ज्ञानस्वरूप, कहकर उसका आभास पाया जाता है । " ब्रह्म विश्वोपलब्ध्यात्मना प्रकाशमानमेवमदेति भावयेदित्यर्थः „ । आनन्दगिरि ।

समस्त पदार्थों का मूल उपादान जो मायातत्व है, वह भी इसी अधि-ष्ठान में अधिष्ठित रहकर, विविध परिणामोंको प्राप्त होता है एवं उन प-रिणामों के संसर्ग से इसके भी ज्ञान स्वरूप का आभास हमें प्राप्त होता है * यह सर्वास्पद सबका अधिष्ठान है, इसी से इसका नाम 'महत्पद, है। जैसे आरे रथ की नाभि में † प्रविष्ट रहते हैं, वैसे ही समस्त पदार्थ इस में समर्पित—प्रविष्ट—हो रहे हैं। उड़नेवाले पक्षी, प्राणनक्रियाशील पशु व मनुष्यादिक, क्रियाशील और अक्रियाशील ‡ स्थावर जङ्गम—सभी वस्तु ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। जगत् में अभिव्यक्त सत् और असत्—सूक्ष्म और स्थूल—मूर्त और अमूर्त— समस्त वस्तु ही ब्रह्म के बिना सत्ताविहीन है, वस्तु की सत्ता व स्फूर्त्ति—उस ब्रह्म की ही सत्ता व स्फूर्त्ति के ऊपर सर्वथा निर्भर है। यह ब्रह्म ही सबका वरणीय और प्रार्थनीय है। यह सब पदार्थों से स्वतन्त्र है, किन्तु अन्य कोई भी पदार्थ इससे पृथक् अपनी स्वतन्त्रता नहीं रखता। स्वतन्त्र होने से ही, यह ब्रह्म लौकिक विज्ञान के अगोचर है। यह ब्रह्म सब दोषों से रहित है, अत एव परम श्रेष्ठ है।

जगत् में जितने सब दीप्तिमान् सूर्यादि पदार्थ दीख पड़ते हैं, ये उसी की दीप्ति से दीप्ति पा रहे हैं, उसी के प्रकाश से ये सब प्रकाशित हो रहे हैं। इसी की शक्ति पहले तेजरूप से + आविर्भूत हुई थी,—उस तेज के द्वारा ही सूर्यचन्द्रादिक परिदीपित होते हैं। परमाणु से भी यह महासूक्ष्म है, और स्थूल से भी यह महास्थूल है। भू आदि सब लोक एवं इन लोकों के निवासी मनुष्यादि जीवगण उसी में अवस्थित हैं। अर्थात् सब के ही अभ्यन्तर में वह ब्रह्मचैतन्य वर्त्तमान है चेतन का अधिष्ठान होने से ही प्राणादिकों

---

* सर्वास्पदं यत् तदेव मायास्पदमाहमभूतमिति युक्त्यनुसन्धानमाह— आनन्दगिरि।

† रथनाभि—Navel आरे—Shokes

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः॥

‡ वास्तव में क्रियाशील सब ही है, केवल जड़त्व के कारण अक्रियाशी-ल कहा गया है।

+ अवतरणिका में सृष्टितत्व देखो। गीता में भी यह बात है। "यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्.,—१६। १२।

की प्रवृत्ति हुआ करती है, अचेतन जड़ की स्वतः स्फूर्ति वा क्रिया असम्भव है। चेतन के प्रकाश एवं शक्तिवश ही सब जड़ पदार्थ प्रकाशित और क्रियाशील हुआ करते हैं। उसकी सत्ता और स्फूर्ति के विना किसी की स्वतन्त्र सत्ता और स्फूर्त्ति नहीं, इस लिये उसी को एक मात्र 'सत्य, वस्तु कहते हैं। उस के विना अन्य सभी कुछ असत्य है। अन्य पदार्थों की सत्यता आपेक्षिक मात्र है, स्वतः सिद्ध नहीं। केवल उसीकी सत्यता स्वतः सिद्ध है *। सबका अधिष्ठान यह सत्स्वरूप आत्मा अविनाशी है इस आत्माका ही निरन्तर अनुसन्धान करना चाहिये, इस प्रकार पुरुषमें ही सर्वदा चित्तका समाधान करना चाहिये ॥

जीवात्माके भी यथार्थ स्वरूप का विचार कर लेना अति आवश्यक है †। ऐसा करने से भी ब्रह्म सम्बन्धी बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होगा और ब्रह्म का प्रत्यक्ष रूपेण अनुभव होने लगेगा। इस शरीर रूपी वृक्षमें विचित्र पक्षवाले ‡ दो पक्षी सर्वदा मिलकर मित्र भावसे निवास करते हैं। इस वृक्ष का मूल अधिष्ठान ब्रह्म ही है, यह मूल ऊपर की ओर है। प्राणादिक ही इस वृक्षके शाखा स्वरूप हैं और ये शाखाएं नीचे की ओर स्थित हैं। यह वृक्ष अव्यक्त नामक बीजसे उत्पन्न हुआ है और यह अव्यक्त बीज शक्ति ही इस वृक्षमें अनुस्यूत अनुगत हो रही है ×। देह वृक्षकी शाखाओंमें बैठे हुए उक्त दोनों पक्षियोंमें एक पक्षी विचित्र रस पूर्ण सुख दुःख रूपी फलोंका

---

* इस विषयकी विस्तृत समालोचना अवतरणिका में की गई है।

† इस स्थलमें हमने श्रुतिके कतिपय श्लोकोंका पौर्वापर्य भंग करदिया है।

‡ जीव अज्ञ होनेसे नियम्य है परमात्मा सर्वज्ञ होनेसे उसका नियामक है। नियम्य और नियामक दो शक्तियां ही पक्ष रूपसे कल्पित हुई हैं। आनन्द गिरि। शरीर ही शब्द स्पर्शादि उपलब्धिका आश्रय है। शरीरमें ही सब प्रकारके ज्ञानकी उपलब्धि होती है एवं इस शरीरमें ही ब्रह्मके ज्ञान स्वरूपका आभास पाया जाता है। शङ्कराचार्य।

× यह अव्यक्त शक्ति सत्व प्रधान है, यही परमात्माकी उपाधि है। और यही जब रज तथा तम प्रधान होकर मलीन होती है, वह मलीन उपाधि जीवकी है। जीवकी कर्मवासना और देहादिकी उत्पत्ति इस मलीन बीज शक्तिसे ही हुई है। और उक्त विशुद्ध शक्तिके योगसे परमात्मा जगत् सृष्टि करता है। आनन्दगिरि।

सर्वदा स्वाद चखता है *। और दूसरा पक्षी किसीभी फलका ग्रहण नहीं करता, केवल देखता रहता है। यही पक्षी जीवके कर्म फलोंका विधान करता है, परन्तु आप तो स्वतन्त्र भाव से निर्विकार रूपसे ही स्थित रहताहै †।

द्वासुपर्णासयुजासखाया समानंवृक्षंपरिषस्वजाते।

नदीकी धारमें पड़ा हुआ खाली घड़ा जैसे थोड़ी ही देरमें जलमें डूब जाता है, वैसे ही यह जीव भी अविद्या विषय वासना और कर्म फल आदि के गुरु भारसे समाक्रान्त होकर संसारमें निमग्न हो पड़ा है। जड़ देह के साथ अपनपो बढ़ा कर देहके सुखमें तथा दुःखमें, जन्म जरामें अपनेको भी सुखी दुःखी और रोगी वृद्ध मान रहा है। कहता है कि मैं असमर्थ हूं हाय हमारी प्रियतमा स्त्री और प्राण प्यारा पुत्र मुझे छोड़कर संसारसे उठगए। अब मैं कैसे जीवित रह सकूंगा? इसी प्रकार जब देखो तब हाय हाय मचाया करता है। अविवेक के वश नितान्त मोहान्ध होकर अनर्थ जालमें गिरता है और प्रतिक्षण नाना चिन्ताओंमें जलता रहता है?

यह मोहाच्छन्न अविवेकी जीव, पूर्वसञ्चित धर्म प्रभाव के बल से कदाचित् किसी दयालु ब्रह्मज्ञ उपदेशक के बताये साधन मार्ग में प्रवेश कर पाता है सत्यपरायणता, इन्द्रिय शासन, ब्रह्मचर्य पालन एवं सब भूतों में दया व मैत्री स्थापन द्वारा चित्तको परिमार्जित कर डालता है तो फिर अतिशीघ्र आत्मचैतन्य के यथार्थ स्वरूप को समझने लगता है। परमात्मा वास्तव में देहादि से स्वतन्त्र है, यह महातत्त्व क्रमशः जीव की समझ में आने लगता है। तब यह समझता है कि आत्मचैतन्य देहादि के दोषों से दूषित नहीं हो सकता। आत्म चैतन्य- क्षुधा तृष्णा सुख दुःख से परे है, शोक मोह, जरा मृत्यु के अतीत है, वह सब जगह का नियन्ता है। यह विश्व उसकी विभूति है, यह विश्व उसकी महिमा है। यही जीवात्मा का सत्य स्वरूप है। तब जीवात्मा अपने स्वरूप का तत्व हृदयङ्गम कर सकता है और संसार रूपी शोक सागर से पार हो जाता है।

---

* अविवेक वश सुख दुःखादिमें अहं बोधका अर्पण अर्थात् अभिमान की स्थापना करता है यह अभिमान स्थापन ही 'भोग, है।

† अर्थात् यह अभिमान स्थापन न कर, स्वतन्त्र निर्विकार रहता है।

समानेवृक्षेपुरुषोनिमग्नोऽनीशयाशोचतिमुह्यमानः।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥

आत्मज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मचैतन्य जो स्वप्रकाश स्वरूप—अलुप्त चैतन्य स्वभाव एवं आत्म चैतन्य जो सब जगत् का नियन्ता एवं बीज स्वरूप है, सो सब बात समझ में आजाती है। ऐसा ज्ञान सुदृढ़ होने पर संसार के बन्धन रज्जुस्वरूप शुभाशुभ कर्म क्षीण होजाते हैं और तब जीव विगत क्लेश होकर अद्वैत ज्ञानरूप परमसाम्य लाभकर परमानन्द में मग्न हो जाता है।

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः।

आनन्दरूपममृतं यद्विभाति। ७। २ मुंडक॥

प्राणोह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड़ आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥

परमात्म चैतन्य ही प्राण का प्राण है सबका नियन्ता है यही विश्व के छोटे से बड़े पर्यन्त नानाविध पदार्थों के रूप से प्रकाशित होता है। यही सब के अन्तरात्मा रूप से अवस्थित है। जो मुमुक्षु सज्जन इस प्रकार अपने आत्मा के साथ अभिन्नभाव से परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर सके हैं उनको 'अतिवादी, * कहा जा सकता है। क्योंकि आत्मा ही सब कुछ है आत्मासे भिन्न स्वतंत्र सत्ता किसीकी भी नहीं। यह ज्ञान सुदृढ़ होने पर उसके सन्मुख स्वतन्त्र भावसे कोई वस्तु नहीं ठहर सकती। अतएव ब्रह्मसे अतिरिक्त ब्रह्म से स्वतंत्र रूप में उस समय किसी भी पदार्थ की बात वे नहीं करते इसीलिये वे अतिवादी कहे जाते हैं। तब वे ही 'आत्मक्रीड़' एवं आत्मरति भी कहलाते हैं। सारांश यह कि उस समय आत्मा में ही उनकी प्रीति सुदृढ़तर हो जाती है आत्मेतर पदार्थों में—पुत्र वनितादि में स्वतंत्रभाव से उनका स्नेह नहीं रहता क्रीड़ा—किसी भी वाह्य साधन की अपेक्षा नहीं करती एवं रति—बाहरी किसी भी पदार्थ का मुहं नहीं ताकती उस समय उस साधकके लिये सर्वत्र सब पदार्थों में केवल आत्मा ही प्रीति

---

* प्रथम खण्डका नारद सनत्कुमार सम्वाद देखो॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्फलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥

की सामग्री बन जाता है। क्योंकि आत्मा की ही प्रीति साधन करनेसे, पदार्थ प्रिय होते हैं। नहीं तो स्वतंत्र रूप से पदार्थों में प्रीति बन ही नहीं सकती * उस समय ध्यान वैराग्य और ज्ञानही उस साधक का एकमात्र कर्म हो जाता है। अन्धकार और प्रकाश जैसे एकत्र नहीं रह सकते वैसे ही बाह्य पदार्थ में (स्वतन्त्रभाव से) प्रीति रहे अथवा आत्मामें प्रीति व अनुरक्ति बढ़े यह बात कभी भी संभव नहीं हो सकती † पूर्वोक्त प्रकार का साधक ही यथार्थ सन्यासी—कर्म सन्यासी—कहा जाता है। ऐसा साधक ही ब्रह्मवेत्ता जनों में सब से श्रेष्ठ है।

---

* प्रथमखण्ड—'मैत्रेयी का उपाख्यान, देखो। इस स्थल में शङ्करने यह भी कहा है कि 'इसके द्वारा ज्ञान और कर्म का समुच्चय निषिद्ध हुआ,। अर्थात् तब बाह्य पदार्थों की प्राप्ति के उद्देश्यसे कोई क्रिया नहीं हो सकती केवल ब्रह्मके उद्देशसे ही सब क्रियायें होने लगती हैं। अर्थात् क्रिया ज्ञानमें परिवर्त्तित करली जाती है। इस बात से क्रिया उड़ नहीं जाती। यहां पर आनन्दगिरि ने कहा है,—'जिनको सम्यक् अद्वय ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ उनके लिये ज्ञान और क्रिया का समुच्चय बना ही रहता है। अर्थात् उस समय भी इनकी स्वतन्त्रता का कुछ ज्ञान रहता ही है, सर्वत्र केवल ब्रह्मानुभूति अब भी सुदृढ़ नहीं हुई। पूर्ण अद्वैत ज्ञान होने पर ब्रह्मसत्ता से स्वतन्त्र किसी भी पदार्थ का बोध नहीं रहता। समस्त कर्म उस समय केवल एक ब्रह्म के उद्देश से सम्पन्न होता है।

† पाठक शङ्कर की बातों का तात्पर्य देखें। शङ्कर के वाक्य बाह्य पदार्थों को एक बार ही उड़ा नहीं देते। ब्रह्मसत्ता से 'स्वतन्त्र, रूपमें बाह्य पदार्थों के ग्रहण व उनकी प्रीति का ही निषेध करते हैं। सब पदार्थों में केवल ब्रह्मसत्ता का ही अनुभव करना चाहिये उस समय पदार्थों का दर्शन केवल पदार्थ रूप से ही करना नहीं बन सकता। पदार्थ ब्रह्मसत्ता का अवलम्बन किये हैं वे ब्रह्म के ही ऐश्वर्य व महिमा मात्र हैं'—इसी प्रकार अनुसन्धान करना होगा। इसका नाम पदार्थों में 'अनुरागमूलक' साधन नहीं। किन्तु यह 'वैराग्य मूलक' साधन है। इस अवस्था में सर्वदा विषयवर्ग के दोषानुसन्धान (वैराग्य) एवं ब्रह्मसत्तानुभव के लिये बारंबार श्रवण मननादि का अनुशीलन (अभ्यास) कर्त्तव्य है। यही शंकरका सिद्धान्त है

२। ब्रह्म—विचार और आत्म—विचार की प्रणाली कही गई। सर्वत्र ब्रह्मानुसंधान और ब्रह्म मनन की बात भी बतला दीगई। किन्तु जो लोग इस प्रकार विचार व अनुसंधान करने में असमर्थ हैं इस समय ऐसे मुमुक्षु व्यक्तियों की ही उपासना प्रणाली का वर्णन किया जायगा। सुनिये—

ओमित्येवं ध्यायथ आत्मनं स्वस्तिवः पाराय तमसः परस्तात्।

ब्रह्मसत्ता से ' स्वतन्त्र , रूप में विषय भावना करने से एवं केवल विषय प्राप्ति के उद्देश्य से उत्तेजित होकर क्रिया करने से ब्रह्म—भावना सिद्ध नहीं होती ब्रह्म की प्राप्ति भी नहीं होती। ऐसे आचरण से ब्रह्म ' आवृत, हो पड़ता है केवल शब्दस्पर्शादिक विषय ही जागते रहते हैं। सुतरां आप ऐसी किसी साधन प्रणाली का अवलम्बन करें जिसके द्वारा विषयों के ब-दले केवल ब्रह्म ही ब्रह्म जान पड़े। शब्दस्पर्शादिकों के प्रकाशक वाक्यों (शब्दों) को परित्याग कर केवल ओंकार का उच्चारण कर समाहित चित्त एकाग्रमन होकर ब्रह्मभावना करते रहने से उस ओंकार के द्वारा ब्रह्म चै-तन्य अभिव्यक्त होता है। इस अभिव्यक्त चैतन्यको हृदय में आत्मा मान कर ही अनुसंधान करना होगा। उपासना और अविरत ध्यान के द्वारा तीक्ष्ण किये उपनिषद् प्रसिद्ध महान् शर द्वारा आत्म वस्तु को लक्ष्य क-रना होगा। चित्त को विषयोंसे खींचकर ब्रह्म भावनारूप सामर्थ्य के प्र-योगसे प्रणवरूप धनुष में * निज आत्मरूपी बाणका संधानकर उस अक्षर पुरुष चैतन्य को लक्ष्य बनाते रहो। इस संधान के सिद्ध होते ही अनायास शर लक्ष्य में प्रवेश कर सकेगा। इस प्रकार ओंकार के अभ्यास से चित्त सं-स्कृत और परिमार्जित होने पर अति सहज में विना बाधा आत्मा में ब्रह्म चैतन्य प्रकट हो जायगा। विषय भावना और विषय तृष्णा एवं सब भांति के प्रमाद से बचकर इन्द्रियों को अच्छी तरह शासन में रख कर एकाग्रचित्त होकर बुद्धि वृत्ति के साक्षी रूप से स्थित आत्मा को लक्ष्य का विषय ब-नाना होगा। इस प्रकार अभ्यास होते होते अनात्मविषयक सब अज्ञान हटकर सर्वत्र एक मात्र परब्रह्म का ही दर्शन होने लगेगा।

---

* प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

प्रणव के अवलम्बन से उपासनाकी रीति वर्णित हो चुकी । इस आत्म चैतन्य को, अपनी हृदय गुहा में बुद्धि वृत्ति के साक्षी रूप से भी नित्य भावना करना उचित है । सब का आश्रय अक्षर पुरुष ही है आकाश अन्तरिक्ष और पृथिवी अक्षर पुरुष में ही ओत प्रोत भावसे प्रविष्ट हो रहे हैं । मन इन्द्रियां और प्राण—इस पुरुष चैतन्यमें ही ओत प्रोत भावसे आश्रित हैं । अनात्म बिषयक चिन्ता और बात छोड़कर केवल ब्रह्मको ही जानना चाहिये । ब्रह्महो अमृतका सेतु मोक्ष प्राप्तिका उपाय है । इससे भिन्न मोक्ष पानेका दूसरा कोई मार्ग नहीं है । रथचक्र की नाभिमें जैसे आरे बिधे रहते हैं वैसे ही सब शरीर में बिस्तृत नाड़ीजाल * हृदय में बंध रहा है । आत्म चैतन्य का निवास इस हृदय में ही है । यह अभ्यन्तरस्थ आत्म चैतन्य ही बुद्धि की नाना विध वृत्तियों का अनुगामी होकर दर्शन श्रवण क्रोध हर्षादि विविध बिज्ञानों द्वारा मानो अनेक भावों और अनेक प्रकारों से प्रतिक्षण प्रकट हो रहा है । बुद्धि के विविध परिणामों वा विकारों के साथ आत्म चैतन्य अनुगत भाव से साथ ही साथ वर्त्तमान रहता है, इसीसे भ्रान्त जन इस अखण्ड ज्ञानका खण्ड खण्ड विज्ञान रूप से व्यवहार करते हैं † एवं आत्मचैतन्यको सुखी दुःखी आनन्दित और पीड़ित मानलेते हैं । वास्तवमें आत्मा, बुद्धिके इन सब प्रत्ययों विज्ञानोंके साक्षी रूपमें विद्यमान है । पूर्वोक्त प्रणव अवलम्बनसे इस परिपूर्ण आत्म चैतन्यकी नियत भावना करना प्रधान कर्तव्य है । इस भावनाके फलसे सब बिघ्न दूर हो जाते हैं । विषयासङ्ग और विषयलाभ की इच्छा ही इस मार्गके प्रधान विघ्न हैं । ऐसे सभी विघ्न दूर हो जाते हैं । इस भावनाके बलसे संसार सागर को पारकर अविद्या निशासे अलग हो जाना सहज बात है इस भावनाके प्रतापसे साधक सभी कल्याणोंका अधिकारी हो जाता है । महाशय ! आशीर्वाद देता हूं आप भी अतिशीघ्र इस आनन्दको प्राप्त करें ।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।

---

* नाड़ीजाल Nerves.

† ज्ञान और क्रियाका तत्त्व अवतरणिकामें आलोचित हुआ है ।

यह सर्वज्ञ, सर्ववित्, अक्षर पुरुष आत्ममहिमा में प्रतिष्ठित है। उसकी 'महिमा, कैसी है? उसीके शासनसे स्वर्ग और भूलोक ठहरे हुए हैं। उसी के शासनसे और नियमसे, सूर्य और चन्द्रमा अपना अपना काम कर रहेहैं। नदियां और सागर, स्थावर और जंगम, सभी इसीके नियमोंसे शासित हो रहे हैं। ऋतु सम्वत्सरादि काल भी इसकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकता। इसीके प्रवर्तित नियमोंमें जगत्की सब क्रिया यथाविधि चल रहीहै। मनुष्यादिकों का कर्त्तव्य, क्रियायें और क्रियाके फल यथानियम सम्पादित होते हैं। यही उस अक्षर पुरुष की महिमा वा विभूति है *। यह परमात्मा सब प्राणियोंकी बुद्धि गुहा में बुद्धि वृत्तिके साक्षी रूपसे वर्तमान है। और बुद्धिके प्रत्येक विज्ञानके साथ वह नित्य चैतन्य अभिव्यक्त होता है। यह आकाशवत् सर्वगत है, सर्वत्र अनुप्रविष्ट एवं अचल निर्विकार रूपसे प्रतिष्ठित है। बुद्धिसे यह स्वतन्त्र है, सुतरां बुद्धि और बुद्धिकी वृत्तियां उस की 'उपाधि, मानी जाती हैं। इन सब उपाधियों के योग से ही, वह नित्य अखण्ड ज्ञान,—खण्ड खण्डरूपसे विविध विज्ञानोंके रूपसे, प्रतिभात हुआ करता है। मन, प्राण प्रभृति उपाधियोंके योगसे ही इसको मनोमय प्राणमय कहते हैं। मुमुक्षु साधकोंको, उक्त सब उपाधियोंका अवलम्बन कर, उपाधियोंके साक्षी रूप आत्माके स्वरूपका अनुसन्धान करना चाहिये। यह आत्म चैतन्य प्राण और शरीरका प्रेरक है। यह शरीर अन्न के विकारसे उत्पन्न एवं अन्न द्वारा ही पुष्ट है, इस शरीरमें बुद्धि अभिव्यक्त होती है और इस बुद्धि का प्रेरक आत्म चैतन्य ही है। शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे, एवं शम दम ध्यान वैराग्यादि द्वारा समुत्पन्न विज्ञानके प्रभाव से धीर व विवेकी जन ऐसे आत्माको जाननेमें समर्थ होते हैं। उस समय आत्माका दुःख रहित आनन्द स्वरूप आप ही खिल पड़ता है।

---

* यह जगत् ब्रह्मकी ही महिमा वा ऐश्वर्य है, सो बात यहां पर शङ्करने स्पष्ट कह दी है। मूल श्रुतिमें केवल महिमा शब्द मात्र है। महिमा उपयुक्त इन उदाहरणोंको भाष्यकारने वृहदारण्यक से उठा लिया है। तावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पुरुषः इत्यादि (छान्दोग्य) देखो। तावान ....सर्वप्रपञ्चः.........ब्रह्मणो महिमा विभूतिः रत्नप्रभा। अवतरणिका भी देख लो।

आत्मविज्ञान होते ही हृदयकी गांठ * खुल जाती है और सब प्रकारके संशय कट जाते हैं। अविद्या तथा वासना का क्षय होने पर, सञ्चित कर्मराशि दग्ध हो जाती है एवं भविष्यत् कर्मों के बीज भी ध्वंस को प्राप्त हो जाते हैं। इस भांति कार्य-कारण से परे परब्रह्म का ज्ञान, यथार्थ ज्ञान होते ही संसार से साधक मुक्त हो जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

बुद्धि ही आत्म स्वरूप की उपलब्धि का स्थान है,—यह बात हम आप को पहले सुना आये हैं। इस, बुद्धि को ही ज्योतिर्मय या विज्ञानमय कोष कहते हैं। इस कोषमें सब प्रत्ययों (विज्ञानों) के साक्षीरूप से आत्मा विराजमान है। इसी स्थानमें ब्रह्मका अनुसन्धान करना चाहिये। जो लोग बाहरी शब्द-स्पर्शादि प्रत्ययों (विज्ञानों) की प्राप्तिसे ही कृतार्थ हैं, उनको इस आत्मा का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। किन्तु इन सब विज्ञानों के साथ साथ अनुगत नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुसन्धान करने में जो साधक समर्थ हैं, वे ही आत्मा को भली भांति जान सकते हैं। यह आत्मा जैसे बुद्धि की वृत्तियों का प्रकाशक है, वैसे ही सूर्य चन्द्रादि ज्योतिष्मान्

---

* विषय दर्शन विषय वासना, और विषय लाभार्थ कर्म इन तीनोंका ही नाम हृदय ग्रन्थि हृदय की गांठ है। प्रथम खण्ड देखो।

इस स्थानमें भाष्यकारने कहा है कि अविद्या व वासनादि आत्माके धर्म नहीं, ये बुद्धिके धर्म बुद्धिमें ही आश्रित रहते हैं। यहां आनन्दगिरि कहते हैं इस अविद्या व वासनादिका उपादान कौन है? यदि कहो बुद्धि, तो इनका ध्वंस करनेके लिये प्रयत्नकी क्या आवश्यकता है? उपादानके नाश होते ही उसका कार्य भी नष्ट हो जाता है। बुद्धिको अनादि नहीं कहते क्योंकि इसकी उत्पत्ति वेदमें लिखी है। प्रलयमें बुद्धि स्वयं नष्ट हो जायगी। सुतरां अविद्या वासनादिके विनाशार्थ ब्रह्मज्ञानानुशीलनका भी क्या प्रयोजन है? क्योंकि अविद्यादिका उपादान यदि बुद्धि है, तो बुद्धि तो प्रलयमें स्वयं नष्ट होनेवाली है, साथ ही अविद्यादिका भी नाश हो जायगा। बुद्धि उत्पन्न होती है, तो इसका भी कोई उपादान होगा? यदि मायाशक्ति

पदार्थों का भी प्रकाशक है। इसीके प्रकाशसे अन्य सब प्रकाशित होते हैं। इसे प्रकाशित करने में कोई भी समर्थ नहीं है। बाह्य वस्तुओं वा बुद्धि के विकारों में या विज्ञानों में व्यस्त रहने वाले जीव इसे कभी नहीं जान सकते इन सब वस्तुओं वा विज्ञानों के अन्तराल में प्रकाशकरूप से वर्तमान आत्मा का अनुसन्धान करने से ही उसे जान सकते हैं *।

आत्मतत्वज्ञ पुरुष इसी प्रकार आत्मस्वरूप को जान सकते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, तारा, विद्युत् और अग्नि—इस में अपना निज का प्रकाश—सामर्थ्य नहीं है। अग्निद्वारा उत्तप्त हुए विना लोह पिंड जैसे दूसरे को जलाने में स्वतः समर्थ नहीं होता वैसे ही सूर्यादिक भी ब्रह्मज्योति द्वारा प्रकाशित होकर ही अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं। इसी लिये

इसका उपादान है, तब तो ज्ञान होने पर अविद्यादि का नाश अवश्य होगा, परन्तु उनके उपादान का नाश सम्भव नहीं। अत एव अविद्या वासनादि को बुद्धि आश्रित कहना कैसे सङ्गत होगा? यदि कहो, बुद्धिगत अविद्या आत्मा में आरोपित होती है, सो भी ठीक नहीं। कारण कि, एक का धर्म दूसरे में किस प्रकार आरोपित होगा। आत्मा भ्रान्तिवश अविद्या को अपने में देखता है, यह बात भी नहीं कही जाती क्योंकि, आत्मा भी अविद्या का आश्रय नहीं जो वह उसको देख सके। बुद्धि आप ही अपने धर्म को देखती है, यह बात भी तो नहीं कही जाती। इन सब कारणों से अविद्या—वासनादि को बुद्धि में आश्रित बतलाना असङ्गत जान पड़ता है। फिर भाष्यकार ने क्यों कहा? इस प्रश्नका उत्तर सुनो चेतन को बुद्धि के साथ अभिन्न मानना ही अविद्या का काम है। यथार्थ ज्ञान में चैतन्य नित्य स्वतन्त्र है। बुद्धि के विकारों से उसकी हानि नहीं होती यही अविद्या का नाश है। भाष्यकार ने अभिमान वृत्ति को लक्ष्य कर ही बुद्धि के आश्रय में रहना कहा है, निर्विकार आत्मा के आश्रय में नहीं।

* पाठक देख रहे हैं कि शङ्कर स्वामी वाह्य वस्तुओं एवं बुद्धि के विज्ञानों को एकवार ही उड़ाते नहीं हैं। न यह कहते हैं कि इनको एक दम परित्याग करने से ही ब्रह्मज्ञान होगा। शङ्कर का अभिप्राय तो यही है कि—इनके साथ २ साक्षीरूपसे ही ब्रह्म जाना जाता है।

तमेवं भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

दीप्तिमान् तेजोमय सूर्यचन्द्रादि पदार्थों का प्रकाश सामर्थ्य देखकर जाना जाता है कि ब्रह्म भी अखण्ड प्रकाश स्वरूप है। सब ज्योतियों का ज्योतिस्वरूप सब कार्यों का कारण स्वरूप यह ब्रह्म पदार्थ ही एकमात्र सत्य, अमृत स्वरूप है। यह ब्रह्म—सत्ता ही नाना विध नाम रूपों में व्यक्त होकर—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, और दक्षिण में नीचे ऊपर सर्वत्र फैली पड़ी है। अधिक क्या कहें यह विश्व ब्रह्म ही है विश्व इस ब्रह्म से वस्तुतः भिन्न या स्वतन्त्र नहीं है। ब्रह्मसत्ता में ही विश्व की सत्ता है। ब्रह्मसत्ता से अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से विश्वकी सत्ता नहीं रह सकती। कारण की सत्ता ही कार्य में अनुप्रविष्ट रहा करती है। परन्तु अज्ञानी लोग कार्यों को स्वतन्त्र स्वतन्त्र वस्तु मान बैठते हैं। जब परमार्थ—दृष्टि का उदय होता है तब यह अज्ञानता दूर हो जाती है। उस समय सर्वत्र एक ब्रह्मसत्ता ही दर्शन देने लगती है।

महाशय! ब्रह्मविषयक साधन प्रणाली की चर्चा हो चुकी। अब ब्रह्म प्राप्ति के सहायक कतिपय उपायों का दिग्दर्शन करा देते हैं। इन से ब्रह्म साधन वा उपासना में सहायता मिलती है *। इन के द्वारा अद्वैत ज्ञान परिपुष्ट हो जाता है। इन सबों के अनुशीलन द्वारा चित्त क्रमशः परिमार्जित होता है एवं इसी लिये ये यथार्थ ज्ञान लाभमें सहायक समझे जातेहैं।

(क)। वचन, भावना और आचरणसे मिथ्याको परित्याग करना चाहिये। सर्वदा सत्य पर ही दृष्टि रहनी चाहिये +। चित्तसे, वाणीसे और व्यवहारसे सर्वदा सत्य परायण होना चाहिये। सत्य परायणता, ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें प्रधान सहायक है। वेदमें इस सत्यकी महिमा गाई गईहै। सत्य की ही सदा जय हुआ करती है। मिथ्याभाषीको कभी भी जीत नहीं

---

* ये ही धर्म-चरित्र—गठन के साधन कहे जाते हैं। कुछ लोग कहा करते हैं कि वेदों में नीति वा धर्म चरित्र लाभ की (Formation of moral and ethical character) कोई बात नहीं है। ऐसा समझना नितान्त भ्रम पूर्ण है। सो पाठक इन साधनों की चर्चासे स्पष्ट समझ सकेंगे।

+ इतना ही नहीं श्रुतिमें स्वयं ब्रह्मका ही 'सत्य, शब्दसे निर्देश किया गया है। छान्दोग्य और वृहदारण्यकमें भी सत्य की प्रशंसा है।

होती इस सत्यके प्रभावसे, देवयानमार्ग * द्वारा, मृत्युके पश्चात् साधक उत्तम गतिको प्राप्त होता है। कुटिलता, शठता, प्रतारणा, दम्भ, अहङ्कार, अनृत छोड़ कर जो साधक नित्य सत्य मार्ग पर चलता है, वह पुरुषार्थके अन्तिम फल ब्रह्मपदको अवश्य प्राप्त हो जाता है॥

सत्यमेवजयतेनानृतंसत्येनपन्थाविततोदेवयानः।
येनाक्रमन्तृषयोह्याप्तकामायत्रतत्सत्यस्यपरमंनिधानम्॥

(ख)। इन्द्रिय और अन्तःकरणकी एकाग्रताका नाम 'तप' है। इस भांति एकाग्रताका अभ्यास भी एक बड़ा साधन है। चित्त और इन्द्रियोंकी चञ्चलता रहनेसे, उनकी विषय लिप्सता दूर नहीं हो सकती। एकाग्रता होनेसे चित्त ब्रह्मदर्शनके नितान्त अनुकूल हो उठता है।

(ग)। अन्य एक सहायक—सम्यक् ज्ञान है। सर्वत्र आत्मदर्शनका अभ्यास निरन्तर कर्तव्य है। इसके फलसे, ब्रह्मसत्ताको छोड़ किसी भी पदार्थकी 'स्वतन्त्र' सत्ता नहीं, यह बोध अत्यन्त दृढ़ हो जाता है। अर्थात् पदार्थोंकी स्वतन्त्रताका ज्ञान धीरे धीरे दूर हो जाता है। उस समय जहां देखो वहां एक आत्मसत्ता ही दिखाई देती है †।

(घ)। ब्रह्मचर्यपालन—ब्रह्मसाधनका दूसरा एक उत्कृष्ट उपाय है। ब्रह्मचर्यकी रक्षासे वीर्यकी वृद्धि होती है एवं ब्रह्मचर्य द्वारा इन्द्रियोंके सहित चित्त जीता जा सकता है ‡ ब्रह्मचर्यकी ओर नित्य दृष्टि रखना साधक मात्रका एकान्त कर्तव्य होना चाहिये। इन सब साधनोंकी सहायतासे चित्तका मल दूर हो जाता है और परिश्रमी साधक क्रमशः देहके मध्य बुद्धि गुहामें ज्योतिः स्वरूप प्रकाशमय ब्रह्मका दर्शनकर कृतार्थ होता है।

सत्येन लभ्यस्तपसाह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

(ङ)। चित्तकी निर्मलता—अन्य एक प्रधान सहायक कहा जाता है। ब्रह्मपदार्थ वृहत्, दिव्य एवं महत् प्रसिद्ध है। यह स्वप्रकाश स्वरूप, इन्द्रि-

---

* यह देवयान मार्ग ज्ञानमार्ग है। इसमें जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता। यह सत्यपरायणता की कितनी प्रशंसा है।

† प्रथमखण्ड की अवतरणिका में सर्वत्र ब्रह्मदर्शन की प्रणाली वर्णित हुई है।

‡ पातञ्जल (योग) दर्शन देखना चाहिये।

योंके अगोचर. सुतरां चिन्ताके भी अतीत है। आकाश सब पदार्थों से अधिक सूक्ष्मतर है, यह आकाश का भी कारण है,—इसलिये यह परम—सूक्ष्म कहा जाता है। सब का कारण यही सूर्यचन्द्रादि विविध कार्यों के आकार में दीप्ति फैला रहा है। यह दूर से भी दूर है—अज्ञानी व्यक्ति इसे कदापि नहीं जान सकते। यह निकट से भी निकट—अर्थात् बहुत ही समीपमें वि· राजमान हो रहा है—ज्ञानी महोदय सबके भीतर इसीका अनुभव करते हैं। चेतन प्राणियोंकी बुद्धि—गुहा में यह निगूढ़—भावसे वर्त्तमान है, योगीगण दर्शन-मननादि अनेक क्रियाओंके द्वारा ही इसकी सत्ताको लक्ष्य करते हैं। परन्तु अविद्याच्छन्न विचारे अज्ञानी केवल दर्शन—मननादि क्रियाओंका ही अनुभव करते हैं,—इनको बुद्धिस्थ समझ कर लक्ष्य नहीं करते। परमात्माका अनुभव केवल विशुद्धचित्तसे ही हो सकता है। आंख से वह देखा नहीं जा सकता, वाणी भी उसे बतलाने में असमर्थ है, अन्य कोई इन्द्रिय भी उसे ज्ञान का विषय नहीं बना सकती। चान्द्रायणादि तपस्या वा अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मोंके द्वारा भी उसका लाभ करना सम्भव नहीं। केवल मलरहित विशुद्ध चित्त के द्वारा ही वह जाना जा सकता है। अतएव चित्त की नि-र्मलता उस की साधना का एक प्रधान सहाय है। संसार की बुद्धि बाहरी विषयों तथा भीतरी वासनाओं से सदा कलुषित रहती है। इस कारण नित्य निकट रहने वाला भी आत्मा जाना नहीं जा सकता। पङ्किल सलिल किम्वा मलीन दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है अवश्य, किन्तु वह प्रतिबिम्ब जैसे स्पष्ट देखा नहीं जाता, वैसे ही मलीन चित्तमें ब्रह्म—चैतन्य का प्रकाश स्पष्ट नहीं जाना जा सकता। कर्दमके दूर होने पर जैसे जल स्वच्छ हो जाता है, क्लेद व मलके हट जाने पर जैसे दर्पण निर्मल हो जाता है वैसे ही वि-षय—वासना एवं विषयाभिमुखीनतारूप मल के निकलते ही चित्त प्रसन्न व शान्त हो जाता है। तब ऐसे शुद्ध चित्तमें, एकाग्रताके प्रभाव एवं ध्यानयोग से विशुद्ध आत्मस्वरूप उद्भासित होने लगता है। तात्पर्य यह कि, उक्त रीति से चित्त शुद्ध होने पर ही, उस के द्वारा आत्मा का ठीक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतएव, चित्तकी निर्मलता, साधन की एक मुख्य सा-मग्री सिद्ध हुई। शरीर के मध्यवर्ती हृदय में (बुद्धि में), आत्म—चैतन्यका अनुभव होता है। हृदय वा बुद्धि ही, आत्म-चैतन्य की अभिव्यक्ति का

स्थान है। काष्ठ जैसे अग्निद्वारा परिव्याप्त है, क्षीर जैसे स्नेहरस द्वारा भली-भांति परिव्याप्त है, * इन्द्रियोंके सहित बुद्धि वा अन्तःकरण भी वैसे ही चैतन्य द्वारा परिव्याप्त हो रहा है। अन्तःकरण के क्लेश बासनादिक मल जब दूर हो जाते हैं, तब उस अन्तःकरणमें आत्म चैतन्य आप ही प्रकाशित हो जाता है।

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

(च)। चित्त में विषय-कामना के बदले. आत्म कामना प्रतिष्ठित होनी चाहिये। वह भी ब्रह्मोपासना का एक परम सहायक उपाय है। जब चित्त में सत्वगुण बढ़ता है तब उस निर्मल चित्त में ब्रह्म से भिन्न किसी भी विषयकी कामना नहीं उठती। उस समय जो २ कामना की जाती है उस उस कामना का एकमात्र उद्देश्य ब्रह्म महिमा का दर्शन ही हो पड़ता है†। इस लिये उस समय साधक चाहे जिस पदार्थ की कामना क्यों न करे, वह बिना किसी विघ्न के तुरंत ही उपस्थित हो जाता है। क्योंकि, उस काल में उसका सङ्कल्प अमोघ वा सत्य हो उठता है। साधक जानता है कि, किसी भी पदार्थ की ब्रह्मसत्ता से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ब्रह्मसत्ता में ही सबकी सत्ता है, ब्रह्मसत्ता ही सब पदार्थों में अनुप्रविष्ट है। इस लिये ब्रह्म ही, सब कामनाओंका स्थान हो जाता है। साधक सङ्कल्पबलसे जिस पदार्थ को बुलाता है, उसमें ब्रह्मसत्ता का दर्शन ही उसका उद्देश्य रहता है। इस

---

* काष्ठ के प्रत्येक अंश में गुप्त रीति से अग्नि स्थिर है, घर्षण करने पर वह अग्नि प्रकाशित हो पड़ता है।

† छान्दोग्य (८। २। १-१०) में शङ्कर कहते हैं-मुक्त पुरुष की भी कामना एकबार ही सहसा नष्ट नहीं हो जाती। हां, उसकी कामना अज्ञानियों की सी नहीं रहती। मुक्त पुरुष ब्रह्म व्यतीत स्वतन्त्र भाव से कोई भी कामना नहीं करता। वह सब लोकों को, पदार्थों को, माता भ्रातादि सब को ब्रह्म की माहिमा वा ऐश्वर्य समझता है। केवल पुत्रादि देखने का सङ्कल्प नहीं करता, किन्तु उन में ब्रह्म का ही माहात्म्य देखता है। तथापि पूरे महाज्ञानी पुरुष किसी प्रकारका सङ्कल्प नहीं करते, किसी लोकविशेष को भी नहीं जाते।

प्रकार मुमुक्षु, आत्मज्ञ साधक सभीका सन्मान करना निज कर्तव्य जानता है। इसी प्रकारका साधक 'पर्याप्तकाम', वा 'अकाम' कहा जा सकता है। इसको इस मृत्युलोकमें फिर जन्म ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं। संसार के आवर्तसे वह मुक्त हो जाता है। परन्तु जो व्यक्ति अज्ञानाच्छन्न हैं वे विषयों या रूप रसादिकी बार बार चिन्ता करके, दृष्ट (कामिनी काञ्चनादि) और अदृष्ट (स्वर्गादि) विषयोंकी प्राप्तिकी ही कामना किया करते हैं वे मरणके पश्चात् भी उन सब विषय कामनाके संस्कारोंको साथ ही ले जाते हैं। वे जीव उन सब संस्कारोंसे खिंचे हुए, जिस स्थानमें विषय भोग की सम्भावना है उसी स्थानमें पुनर्जन्म धारण करते हैं। जिनका एक मात्र लक्ष्य केवल विषय भोग ही है, उनको उस विषयका भोग प्राप्त हो जाता है। इसके विरुद्ध जिन ज्ञानियोंका लक्ष्य आत्मा ही है, उन कृतार्थ व पूर्णकाम पुरुषोंकी वैषयिक कामनाराशि इस जीवनमें ही नष्ट हो जाती है। पुनर्जन्म लाभ के वीज का भी नाश हो जाता है। इसलिये सब लाभों का अपेक्षा परमात्मलाभ ही सबसे श्रेष्ठ है। यह परमात्मा का पाना ही परम पुरुषार्थ है।

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥

(छ)। यह आत्म-लाभ शास्त्राध्ययनादिसे नहीं हो सकता। बड़ी बुद्धि या सब शास्त्रोंके अर्थ को धारण करने वाली शक्ति द्वारा भी आत्म-लाभ नहीं हो सकता बड़े बड़े शास्त्रार्थोंसे भी यह वात नहीं वन सकती, तब किस उपायसे आत्मा की प्राप्ति घट सकती है? वहिर्मुख लोग तो सहस्त्रों वार ब्रह्म-कथा सुनकर भी उस को नहीं जान सकते। ऐसा समझ कर साधक को अन्तर्मुख होकर, आत्मा और परमात्मा के स्वरूपगत अभेद की वात का सर्वदा अनुसन्धान करना चाहिये तभी आत्मलाभ सहज हो जायगा। अविद्यावासना आदि के द्वारा आत्मा का यथार्थ स्वरूप आच्छादित हो पड़ा है। अविद्यावासना आदि को दूर कर दो, फिर आत्मा ही आत्मा है। तुम निरन्तर आत्म-प्राप्तिके लिये ही प्रार्थना करते रहो। प्रार्थना भी ब्रह्मोपासनामें एक प्रधान सहायक उपाय है। अस्तु, आत्मनिष्ठा रूप सामर्थ्य जिन में नहीं है, ऐसे व्यक्तियों को आत्मा का दर्शन कभी न

होगा। जिनका चित्त अपने वश में नहीं, केवल पशु-पुत्रादि विषयों के ही वशीभूत है, उन के पक्ष में भी आत्मा का लाभ असम्भव है, 'सन्यास-रहित ज्ञान, के द्वारा भी आत्मा का मिलना सम्भव नहीं। वाह्य संन्यास ग्रहण ही करना पड़ेगा, ऐसी भी कोई बात नहीं, विषयासक्ति शू-न्यतारूप आन्तर संन्यास होने से ही सब काम ठीक हो जायगा विषया-सक्ति का नाम भी न रहे *।

ब्रह्मसाधन के प्रधान सहायकारी उपायों का वर्णन हो गया। इन सब सहायकों द्वारा जो विद्वान् ब्रह्म प्राप्ति की नित्य चेष्टा करते हैं, वे ही ब्रह्मधाम में प्रविष्ट होने—ब्रह्मलाभ करनेमें—समर्थ होते हैं। ज्ञानवान् ऋ-षिगण, इन्द्रियादिके तृप्ति साधक वाह्य विषयोंकी इच्छा न करके, आत्माके तृप्ति साधक ज्ञानके ही अन्वेषणमें तत्पर रहते हैं। और परमात्माके य-थार्थ स्वरूपका प्रतिक्षण चिन्तन कर सब भांति कृतार्थ एवं विषयोंसे विरक्त वीतराग हो जाते हैं। आकाशकी भांति सर्वगत, सर्वव्यापक ब्रह्मको ही प्राप्त हो जाते हैं। सारांश यह कि, ब्रह्मसत्तासे अलग स्वतन्त्र रूपमें किसी

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्॥

* यह अंश आनन्दगिरि का है। उन्हों ने कहा है—यदि सब छोड़कर बन जाने का ही नाम संन्यास है, तो वेदों में इन्द्र, गार्गी, जनक आदिको आत्म-प्राप्ति के इतिहास क्यों वर्णित हुए? उन्हों ने और भी कहा है— " न लिङ्गं (वाह्यचिन्हधारण) धर्मकारणम्,,। पाठक इन वातोंको लक्ष्य करें। गीतामें भी विषय-कामना के त्यागका नाम संन्यास कहा गया है। जैसे, "ज्ञेयः स नित्य-संन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति,, (५।३) एवं "स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः,,।" काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः,, (१८।२) इत्यादि। अर्थात् जिस में रागद्वेष नहीं वह संन्यासी है। जो कर्मफल की इच्छा न रखके कर्त्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी है। जो काम्य कर्मों का त्याग करता है वह संन्यासी है। वही योगी है। अग्नियोंको छोड़ चुप बैठ जाने मात्र से कोई संन्यासी नहीं हो सकता।

भी उपाधिकी (विकारकी) सत्ता नहीं, ब्रह्मसत्तामें ही उसकी सत्ता है, सुतरां वे ब्रह्मभिन्न किसी भी पदार्थका अनुभव नहीं करते *। उनको सर्वत्र केवल ब्रह्मसत्ताका ही अनुभव हुआ करता है। उनका चित्त सर्वदा अद्वैत रसमें आप्लुत रहता है, शरीर छूटने पर भी उनका ज्ञान नहीं छूटता। वे ज्ञानी महात्मा अविद्याजनित भेद बुद्धिसे विमुक्त होकर, नित्य ब्रह्मानन्द में मग्न रहते हैं।

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानोवीतरागाःप्रशान्ताः।
तेसर्वगं सर्वतःप्राप्यधीरायुक्तात्मानःसर्वमेवाविशन्ति ॥

---

* वेदान्तदर्शन १।१।२५ के भाष्यमें जगद्गुरु शङ्करने स्पष्ट कहा है जगत्के सब विकारोंमें ब्रह्मकी सत्ता अनुप्रविष्ट है। इस लिये ब्रह्म "सर्वात्मक„ है। इसी ब्रह्मबोधसे विकारोंकी उपासना कर्तव्य है। "विकारेऽनुगतं जगत्–कारणं ब्रह्म निर्दिष्टं 'तदिदं सर्वम्' इत्युच्यते। कार्यञ्च कारणाद्-व्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः" । इसी भांति ज्ञानी गण सब पदार्थोंमें ब्रह्मसत्ताका अनुभव या ब्रह्मदर्शन करते रहते हैं। इसी अभिप्रायसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, कहागया है। बिना समझे ही लोग शङ्करको दोष दिया करते हैं?
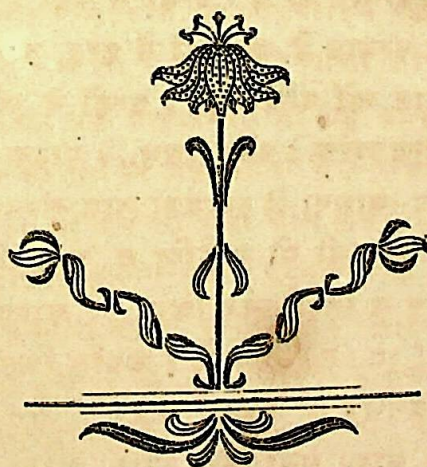
पञ्चम परिच्छेद ।

(मुक्ति ।)

महामति महर्षि अङ्गिरा फिर कहने लगे—

"महाशय ! इस से पहिले आप ब्रह्म की साधन—प्रणाली एवं ब्रह्मसाधन के सहायक उपायों का वर्णन भली भांति सुन चुके हैं। इस प्रकार की साधना से अन्त में जीव को मुक्ति की प्राप्ति किस प्रकार हो जाती है एवं इस मुक्ति का ही स्वरूप कैसा है, । इन विषयों का संक्षेप से वर्णन कर, अब परा विद्या की चर्चा समाप्त करेंगे । आपने जिस प्रकार मन लगा कर महापवित्र एवं महाकल्याणकारी ब्रह्मविद्या का वर्णन सुना है उसी प्रकार मुक्ति का तत्व भी सुन लें ।

पूर्वोक्त प्रणाली का अवलम्बन कर, जो विद्वान् वेदान्त—प्रतिपाद्य ब्रह्म पदार्थ का सुनिश्चितरूप से आत्मा में अनुभव करने में समर्थ हो जाते हैं, उनका चित्त क्रमशः परिमार्जित होता रहता एवं चित्त का सत्वगुण प्रतिक्षण बढ़ता रहता है । ये साधक सर्वदा विषयासक्ति व अभिमानवर्जनरूप सन्यास—योग का अवलम्बन कर, ब्रह्म—साधना में ही लगे रहते हैं। शरीर, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय प्रभृति जड़वर्गमें अहंबुद्धिका (अभिमान का) आरोप करके ही *—आत्मीयता स्थापन व अभिमान अर्पण करके ही जीव, अपने प्रकृत स्वरूप को ढंक डालता है। इस अहंबुद्धि व अभिमान का उच्छेद कर पाते ही, मेघमुक्त दिवाकरकी भांति, आत्मस्वरूप उद्भासित हो उठता है । तब फिर सुख दुःख मोहसे उनके चित्तमें बिन्दुमात्र भी चाञ्चल्य नहीं उपस्थित होता । ब्रह्मसे पृथक् भावमें उनके निकट कोई विज्ञान उपस्थित नहीं होता सर्वत्र ब्रह्मात्मभाव जन्मता है । इस शरीरके रहते ही अविनाशी ब्रह्म तत्व † का अनुभव होने लगता है, संसार छूटने पर भी मरणकालमें भी नित्य, सत्य, व्यापक परमात्म—विषयक ज्ञानकी कोई हानि नहीं होती । मृत्यु के पश्चात् भी आत्मज्ञानी पुरुष ब्रह्मात्मज्ञानसे परिपूर्ण

---

* "यस्य नाहङ्कृतो भावो' बुद्धिर्यस्य न लिप्यते" ।गीता, १८ । १७ । अभिमान – सङ्ग, आसक्ति, देहादि में अहं बोध । रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्"—गीता, २ । ६४ ।

† मूलमें ब्रह्म शब्द बहुवचन है । शङ्कर कहते हैं, साधकों के बहुत्वके कारण, तत्प्राप्य ब्रह्ममें भी बहुत्व दिखाया गया है ।

होकर ही आनन्द लूटते हैं। बत्तीके योगसे प्रज्वलित प्रदीप जब निर्वापित हो जाता (बुझ जाता) है, तब जैसे उस दीपक की विशेष अवस्था चली जाती है. वह प्रकाश सर्वत्र स्थित साधारण तेजके साथ मिल जाता है, घट के फूट जाने पर जैसे उसके भीतरका क्षुद्र सीमाबद्ध आकाश महाकाशके साथ मिल जाता है, वैसे ही इन सब साधकोंकी आत्मा भी, जो अब तक देह प्राणादि द्वारा क्षुद्र, ससीम सी हो रही थी, शरीर त्याग कर अनन्त, पूर्ण ब्रह्मस्वरूपमें मिलकर एक हो जाती है। उस समय आत्मा और ब्रह्मके स्वरूपमें कोई भेद नहीं रहता। इस प्रकार उस समय साधकोंको निर्वाणकी प्राप्ति हो जाती है। मृत्युके पश्चात् ऐसे उन्नत साधकों की किसी लोक विशेषमें गति नहीं होती। जब तक किञ्चित् मात्र द्वैत बोध भेदज्ञान रहता है * तभी तक लोक लोकान्तरोंमें आना जाना पड़ता है। किन्तु अद्वैत ज्ञानकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर किसी भी लोक विशेषमें जानेकी आवश्यकता नहीं †। क्योंकि, आत्मा पूर्ण स्वरूप, परिच्छेद शून्य है। वह स-

---

* पाठक अवश्य ही शङ्कर मत में भेदज्ञान का अर्थ क्या है सो समझ गए हैं। ब्रह्मसत्ताके अतिरिक्त पदार्थोंको स्वतन्त्र समझना ही 'भेदज्ञान' है। अज्ञानी ही जगत्के पदार्थोंको एक एक स्वाधीन वस्तु समझते हैं। ज्ञान होने पर ऐसा नहीं होता। यही शङ्करका अद्वैत ज्ञान है। वृहदारण्यक भाष्य में कहते हैं—"स्वाभाविक्या अविद्यया·········नाम रूपोपाधिदृष्टिरेव भवति स्वाभाविकी, तदा सर्वोऽयं वस्त्वन्तरास्तित्वव्यवहारोऽस्ति। अयंवस्त्वन्तरास्तित्वाभिनिवेशस्तु, विवेकिनां नास्ति„ (२।४ १३-१४) और भी सुनिये "अविद्या·········आत्मनोऽन्यत् वस्त्वन्तरं प्रत्युपस्थापयति, ततस्तद्विषयः कामोभवति, यतोभिद्यते, इत्यादि ४।३।२०-२१। प्रिय पाठक, इस लेखसे क्या जगत्के पदार्थ उड़ा दिए गए? कदापि नहीं।

† तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तमें 'मुक्तिकी, अवस्था वर्णित है। वह मुक्ति एवं मुण्डकोपनिषत् की मुक्ति ठीक एक नहीं। पहली अपेक्षाकृत निम्न श्रेणीकी है। अभी पूर्ण अद्वैत ज्ञान नहीं हुआ एक बार ही कामना का ध्वंस नहीं हुआ ब्रह्मैश्वर्य दर्शन की लालसा बनी ही है। इसीसे साधक परलोकमें जाकर, तत्रत्य वस्तुओंको ब्रह्मके ही महिमा द्योतक रूपसे ऐश्वर्यके परिचायक रूपसे देखता है। और कहता है मैं ही अन्न हूं, मैं ही अन्नाद हूं। मैं ही विश्व को लीन कर लेता हूं इत्यादि। अभी कुछ भेद ज्ञान वर्तमान है। किन्तु मुण्डकवर्णित मुक्तिमें किञ्चित् भी भेद ज्ञान नहीं तब सर्वत्र ही ब्रह्मसत्ताकी अनुभूति होती है। नैव द्वितीयं वस्त्वन्तरमस्ति ·········यतो भिभेति इत्यादि (शङ्कराचार्य)

मस्त देशोंमें व्याप्त—अनन्त है, किसी विशेष देशके आश्रित नहीं है। सुतरां पूर्ण ज्ञानके उदय होने पर किसी देश विशेषमें गति किस प्रकार होगी? आत्मा तो अपरिच्छिन्न, अमूर्त, अनाश्रित और निरवयव है। जो देशपरिच्छेद शून्य है* किस प्रकार उसकी प्राप्ति किसी देश विशेषमें बद्ध रह सकती है?

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्यासयोगाद्यतयःशुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताःपरिमुच्यन्तिसर्वे॥

अविद्या वासनादि ही संसार की बन्धन—रज्जु है। इस बन्धन मोचनका ही नाम मुक्ति है। ब्रह्मज्ञ साधक इस मुक्ति को पाने की ही इच्छा रखते हैं। जिन सब कलाओंने † इस शरीरको गढ़डाला है, वे देह निर्माण करने वाली सब कलायें, मोक्षकाल में, अपने अपने कारण में विलीन हो जाती हैं। इन्द्रिय शक्तियां भी, अपने कारण में एक होकर ठहर जाती हैं। ‡ जिन सब अतीत क्रियाओंके फलसे वर्तमान शरीरकी प्राप्ति हुई है, उनका भोग द्वारा मृत्युपर्यन्त अन्त हो जाता है। और ब्रह्मज्ञानके प्रभाव से, पूर्वसञ्चित क्रियाओं के वीज भी भस्म हो जाते हैं? इस प्रकार साधक के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। जल में प्रविष्ट हुआ सूर्य का विम्ब जैसे स्रोत के वेग से कम्पित जान पड़ता है, वैसे ही शरीरादि में प्रविष्ट

---

* परिच्छेद - Limit, Condition.

† प्रश्नोपनिषद्के छठे प्रश्नमें इन सब कलाओंका विवरण है। कलायें पञ्चदश हैं। अव्यक्तशक्ति पहले सूक्ष्म पञ्चभूत रूपसे व्यक्त होती है। क्रमशः ये सूक्ष्म भूत ही देह और देहावयव एवं देहस्थ प्राण मन, इन्द्रियादि शक्ति रूपसे दर्शन देते हैं। इन सबोंका ही नाम 'कला, है। अवतरणिका में सृष्टितत्व देखो।

‡ जो सूर्य चन्द्रादि का 'करणांश' है, अर्थात् सूर्यादिमें जो तेज, आलोकादिरूप से क्रिया करती है. वह शक्ति ही तो जीवशरीरमें इन्द्रियादि रूपसे दिखाई देती है। हमने अवतरणिका में वेदोक्त इस तत्त्वका विस्तृत विवरण व तात्पर्य लिख दिया है। इसी लिये सूर्यचन्द्रादि को (तेजशक्ति को) इन्द्रियादि की समष्टि वा वीज कारण कहा जाता है। शङ्करने वेदान्तभाष्यमें कहा है कि, मृत्युकालमें ये सूर्यादि देव (आधिदैविक पदार्थ) चक्षु आदि इन्द्रियों के ऊपर क्रिया नहीं करते। इस से तब इन्द्रियां बहिर्व्यक्त नहीं हो सकतीं। सुतरां इन्द्रिय शक्तियां अन्तर प्राणश-

आत्मा—जीवात्मा भी देह इन्द्रियादि की क्रियाओं में आत्मीयता अभिमान व अहंबुद्धि—स्थापन कर संसार में बंधा पड़ा था—सुख दुःख में हर्ष-पीड़ा में कम्पित होता था। परन्तु अब मिथ्या अभिमान का ध्वंस हो जाने पर मोक्षकाल में उक्त देह इन्द्रिय आदिकों की प्रवृत्ति पुनः पूर्व जैसी उपस्थित नहीं हो सकती। इन्द्रियादि की शक्तियां प्राणशक्ति में एकीभूत हो जाती हैं। जल हटा देने पर सूर्यबिम्ब की भांति घटका ध्वंस होते ही घटाकाश की भांति, उस समय यह प्राणशक्ति युक्त जीवात्मा-उस आकाशकल्प, अव्यय, अक्षर, अनन्त, अमर, अजर, अभय, वाह्याभ्यन्तरशून्य अद्वय, शिव, शान्त ब्रह्मचैतन्य में अविशेष भावसे एकता को प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार गङ्गा सिन्धु यमुना आदि विशेष नदियां महासागर में गिरकर उसके साथ एक हो जातीं—अपना निजी विशेषत्व छोड़ बैठती हैं। उसी प्रकार यह जीवात्मा भी अविद्याजनित नाम रूप से विमुक्त होकर सबके कारण रूप अक्षर प्रकृति के भी अतीत परब्रह्म में एक स्वरूपता को प्राप्त हो जाता है। यही मुक्ति है यही परम पद है और यही पराविद्याका अन्तिम लक्ष्य है।

यथानद्यःस्यन्दमानाःसमुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथाविद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यम् ॥

दूसरा कोई भी इस मुक्ति-प्राप्ति के पथ में विघ्न नहीं डाल सकता। एक अविद्या ही—भेदज्ञान ही मुक्तिमार्ग का महाविघ्न है। जब यह विघ्न टल जाता—अविद्या नष्ट होजाती है—तब आत्म—स्वरूप—प्राप्ति स्वयं हो जाती है। साधनों के प्रभाव से दृढ अभ्यास के बल से जो विवेकी अद्वय आत्मतत्व का बोध प्राप्त कर सकते हैं उनको अनायास बिना विघ्न बाधा के ब्रह्मप्राप्ति ही हुआ करती है उनकी फिर और कोई गति नहीं होती। ऐसे साधक के मार्ग में देवगण भी विघ्नाचरण नहीं कर सकते। साधक ब्रह्म को ही प्राप्त—ब्रह्मभूत हो जाता है। इसके कुल में जन्म पाने वाले भी ब्रह्मवेत्ता होते हैं। इस भांति साधक जीवित दशा में ही सब मानसिक संतापों—सब शोकों से मुक्त हो जाता है। कर्मपाशसे छूट जाता है। गुहाग्रन्थि

क्ति में—एकीभूत हो जाती हैं। इस प्राणशक्ति के सहित ही जीव की मृत्यु होती है। परन्तु मुक्त पुरुष के निकट यह प्राण शक्ति फिर शब्दस्पर्शादि के ग्राहक रूप से अभिव्यक्त नहीं होती क्योंकि वैसा संस्कार लुप्त हो गया है। केवल ब्रह्मदर्शन के आकार से प्रकट होती है।

से—अविद्या—काम—कर्मों के बन्धन से—विमुक्त होकर, अमृतपद लाभ कर कृतार्थ हो जाता है ।

स योह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुलेभवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥

महाशय, चरम-फल के सहित पराविद्या का तत्व विस्तार से कहा गया है । इसी का नाम ब्रह्म—विद्या है । यह परम कल्याणकारी ब्रह्मविद्या जिस तिस को—अयोग्य जन को—नहीं सुनाई जाती । यथोक्त—कर्मानुष्ठान द्वारा जिन महाशयोंने निज चित्त को ब्रह्मविद्यालाभके योग्य बना लियाहै, सगुण ब्रह्मकी भावनासे जिनकी बुद्धि परिमार्जित है, जो निर्गुण ब्रह्म लाभकी कामनामें नितान्त उद्यमशील हैं, जो एकर्षि,, नामक अग्निकी * उपासना में नित्य अनुरक्त हैं,—ऐसे विशुद्ध चित्त, मार्जितमति, उपयुक्त व्यक्तियोंको ही इस ब्रह्मविद्या का उपदेश देना चाहिये । यह ब्रह्मविद्या ही अन्य सब विद्याओंका परम आश्रय है । अन्य विद्याओं द्वारा जो वेदितव्य—विज्ञेय—है सो सब इस ब्रह्मविद्यासे ही ज्ञात हो सकता है । सृष्टि के आदि काल में यह विद्या हिरण्यगर्भ के चित्त में प्रकट हुई थी । तत्सृष्ट मनुष्यों के बीच यह विद्या सबसे पहिले मृत्युलोक में अथर्वा के हृदय में आविर्भूत हुई । इस प्र-

* कठोपनिषद् में इस अग्नि को 'हिरण्यगर्भ, नाम से व्याख्या की गई है । यहां उस व्याख्या को लिखने से कोई हानि नहीं । भाष्यकार ने इस स्थल में कोई स्पष्ट बात कही नहीं । तब प्रश्नोपनिषद् में उन्होंने प्राणको ही एक प्रकार से 'ऋषि, शब्द से व्यवहार किया है । प्राण ही हिरण्यगर्भ है । हम ने इसी साहस से इस स्थान में एकर्षि नामक अग्नि को 'हिरण्यगर्भ' नाम से अभिहित किया है । सर्वात्मा हिरण्यगर्भ का 'अग्नि, नाम से निर्देश करने का एक अन्य भी कारण है । पञ्चाग्नि विद्या में हम देखते हैं कि अभिव्यक्त आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक सब पदार्थोंको ही श्रुति ने 'अग्नि, कहा है । अब सोचिये, इन सब पदार्थों के रूप से हिरण्यगर्भ ही तो अभिव्यक्त हुआ है । सुतरां सर्वात्मक और समस्त पदार्थों (अग्नियों) के कारण स्वरूप हिरण्यगर्भ को भी 'अग्नि, कहना उचित ही है । कठोपनिषद् भी देखना चाहिये ।

क्रियावन्तःश्रोत्रियाब्रह्मनिष्ठा स्वयंजुह्वतएकर्षिंश्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैतांब्रह्मविद्यांवदेत शिरोव्रतंविधिवद्यैस्तुचीर्णम् ॥

कार सम्प्रदाय परम्परासे यह विद्या मुझे प्राप्त हुई। आज उसी का कीर्त्तन हमने आपके सन्मुख किया है। आप का मङ्गल हो इस ब्रह्मविद्याका अनुशीलनकर आप मुक्ति—पथ के पथिक बनें,।

तदेतत्सत्यं ऋषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।
नमःपरमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥

इस भांति महर्षि अङ्गिरा से सदुपदेश पाकर शौनक महोदय कृतार्थ हो गये। और मन ही मन ब्रह्मविद्या का आन्दोलन करते हुए अपने घर को सानन्द लौट गए। ओम् तत्सत्।

हमको इस लम्बे उपाख्यान से कौन कौन उपदेश मिले इस स्थान में उनका सार संग्रह कर देते हैं:—

१। अपरा विद्या का विवरण।

(क) जो लोग संसार परायण और इन्द्रिय—तृप्ति कामी हैं उन के चित्त में परलोक और ब्रह्म का तत्त्व प्रस्फुटित कर देने के उद्देश्य से ही सकाम यज्ञकर्म की विधि बतलाई गई है।

(ख) यज्ञों का संक्षिप्त विवरण।

(ग) किन्तु जो साधक अपेक्षाकृत शुद्ध या मार्जितचित्त हैं वे इस सकाम यज्ञकरण के नश्वरफल से तृप्त नहीं हो सकते। उनके लिये पराविद्या अति आवश्यक है।

२। परा विद्या का व्याख्यान।

(क) निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन।

(ख) किस प्रकार ब्रह्म जगत्का कारण होता है।

(।)सृष्टिके प्राक्काल में अनन्त पूर्ण शक्ति का ही सर्गोन्मुख 'परिणाम, हुआ करता है। यह जगत् परिणामी है सुतरां इस की उपादानभूत परिणामिनी शक्ति स्वीकार ही करनी पड़ती है। इस शक्ति का ही नाम 'माया, वा 'अव्यक्त, या 'प्राणशक्ति, है वास्तव में यह उस पूर्णशक्ति से व्यतीत स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है।

(।।) इस परिणामोन्मुखिनी शक्ति द्वारा ही ब्रह्म सद्ब्रह्म वा कारण ब्रह्म या 'ईश्वर, कहा जाता है। परमार्थ में ईश्वर भी निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न स्वतन्त्र कोई तत्त्व नहीं है।

(!!!) मायाशक्ति ही जगत् में प्रकट सब क्रियाओं और विज्ञानोंका बीज है।

३। किस प्रकार अव्यक्त शक्ति प्रकट होती है?

(क) अव्यक्त शक्ति की पहली सूक्ष्म अभिव्यक्तिका नाम 'हिरण्य-गर्भ' वा सूत्र या प्राण है। यह चैतन्य वर्जित नहीं यह ब्रह्मसे अलग कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।

(ख) किस प्रकार हिरण्यगर्भ वा स्पन्दन स्थूल आकार धारण करता है? सूक्ष्म स्पन्दनकी इस स्थूल अभिव्यक्तिका नाम विराट् है। यह भी चैतन्यसे पृथक् नहीं है, अर्थात् ब्रह्मसे पृथक् स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है॥

४। ब्रह्म की उपासना प्रणालीका वर्णन।

(क) उत्तम साधकके लिये, ब्रह्मका विचार एवं बाहर और भीतर सर्वत्र सर्वातीत ब्रह्मका अनुसन्धान करना ही ब्रह्मोपासना है।

(ख) तदपेक्षा अमार्जितचित्त साधकोंके लिये ओङ्कारादिका अवलम्बन कर सर्वप्रेरक ब्रह्मका चिन्तन कर्तव्य है।

(ग) हृदय गुहामें बुद्धिके प्रेरक और प्रकाशक रूपसे ब्रह्मकी भावना।

५। उपासनाके सहायक साधनोंका वर्णन।

(क) सत्यपरायणता। वाणी, भावना, आचरणसे सत्यशीलता।

(ख) इन्द्रियों को जीतना। तपश्चर्या।

(ग) चित्तकी निर्मलता, ज्ञान की प्रसन्नता। चित्त जिससे सत्वप्रधान हो, तदर्थ तत्परता।

(घ) ब्रह्मचर्य पालन।

(ङ) विषय कामनाके बदले आत्मप्राप्ति कामनाके लिये निरन्तर उद्योग।

(च) नित्य प्रार्थना। सगुण निर्गुण दोनों प्रकार की प्रार्थना।

६। मुक्तिके स्वरूप का निर्णय और मुक्ति प्राप्तिके उपायोंका निर्देश।

७। ब्रह्मविद्या के उपदेशार्थ योग्य पात्रका निर्वाचन।

ओम्भद्रं कर्णेभिःशृणुयामदेवाः भद्रंपश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहिदेवहितंयदायुः॥
स्वस्तिनइन्द्रोवृद्धश्रवाः स्वस्तिनःपूषाविश्ववेदाः।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्योअरिष्टनेमिः स्वस्तिनोबृहस्पतिर्दधातु॥

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

नन्दकिशोर शुक्ल स्थान—टेढ़ा।

ब्रह्मयन्त्रालय इटावा की

हिन्दी और संस्कृत पुस्तकोंका

सूचीपत्र ।

धर्म और ज्ञान संबन्धी पुस्तकें ।

१—अष्टादशस्मृति ।

अत्रि, विष्णु, हारीत, उशना, अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब संवर्त्त, कात्यायन, बृहस्पति, पाराशर, व्यास, शंख लिखित दक्ष, गौतम, शातातप, और वशिष्ठ इन अठारह महर्षियोंके नाम प्राचीन कालसे चले आते हैं, इन ऋषियोंने धर्म मर्यादा और लोकव्यवहार के अनुसार स्थापित रखनेके लिये अपने २ नामसे एक २ स्मृतिकी रचनाकी है। इनमें सनातन वैदिक धर्मकी महिमा और विधि अनेक प्रकारसे ऐसी उत्तमोत्तम लिखी है कि जिसके देखने तथा कथा श्रवण करनेसे भी श्रद्धालु मनुष्योंके पापोंकी निवृत्ति पूर्वक कल्याण होता है तब लिखे अनुसार काम करनेसे परम कल्याण अवश्यमेव होगा। इस लिये जो लोग अपना कल्याण चाहते हैं उनको धर्मशास्त्रोंका अवलोकन वा श्रवण अवश्य करना चाहिये। बहुत उत्तम भाषाटीका सहित मोटे चिकने कागज पर शुद्ध छपा ८०० पेजका पुस्तक है। मूल्य प्रति पु० ३) है।

२—याज्ञवल्क्यस्मृति भाषाटीका ।

मनुष्यके कल्याणकारी २० धर्मशास्त्रोंमें याज्ञवल्क्य स्मृति अन्यतम है स्मृतियोंमें इसका कैसा उच्चासन है और इसकी कैसी प्रतिष्ठा है यह किसी से छिपा नहीं है इस पर मिताक्षरा नामक संस्कृतमें एक बड़ी ही उत्तम टीका है पर संस्कृतमें होनेसे वह सर्वसाधारणके उपयोगी नहीं है। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इसी मिताक्षराके अनुसार हिन्दुओंके दायविभाग आदि कानून बनाये हैं। ऐसी उपयोगी पुस्तककी हिन्दु सन्तानोंको कितनी बड़ी आ-

वश्यकता है पर दुःखकी बात है कि इस पर हिन्दीमें कोई उपयोगी भाष्य नहीं, यद्यपि दो एक प्रेसोंमें इसका भाषानुवाद छपा भी है पर वह अल्पज्ञोंका बनाया होनेसे मूलके यथार्थ भावको व्यक्त नहीं करता इसके सिवाय उन टीकाओंमें आवश्यक स्थलों पर न तो नोट हैं और न सन्देहास्पद शङ्काओंका समाधान है और मूल्य भी इतना अधिक है कि सर्वसाधारण खरीद नहीं सकते इन्हीं सब कारणोंको विचार कर श्रीयुत पं० भीमसेन शर्माजीने इसका स्वयं भाषानुवाद किया है। प्रत्येक श्लोकका स्पष्ट और विशद भाषानुवाद किया गया है आवश्यक स्थलों पर टिप्पणियां दी गई हैं शङ्कास्पद विषयोंका समाधान किया गया है पुष्ट सफेद कागज पर उत्तम टाइप में पुस्तक छापी गयी है इतने पर भी मूल्य केवल १) ही है।

३–भगवद्गीता भाषाटीका।

यद्यपि भगवद्गीताकी भाषाटीकायें अब तक बहुत प्रकारकी बहुत स्थानों में बनी और छपी हैं तथापि यह हरिदासकृत भाषाटीका ऐसी विस्तृत बनी है कि जिससे भगवद्गीताका गूढ़ाशय सर्वोपरि खुलजाता है। प्रत्येक श्लोककी उत्थानिका लिखी है, श्लोकके नीचे मूलके पदोंको कोष्ठकमें रख २ के अन्वित भावार्थ लिखकर पश्चात् तात्पर्य रूप टीका लिखी है। जहां कहीं कुछ सन्देह वा पूर्वपक्ष हो सकता है वहां वैसा प्रश्न उठाकर समाधान भी लिखा है। कई जगह इतिहासादिके दृष्टान्त भी दिये गये हैं। जहां कहीं पूर्वापर विरोध दीखा उसका भी समाधान किया है। प० भीमसेन शर्माने अनेक श्लोकों पर नोट देकर गूढ़ाशय खोला है। यह टीका अद्वैत सिद्धान्त पोषक है इसमें सगुण भगवान्‌की उपासना मुख्य रक्खी है। चिकने उत्तम सफेद कागज पर शुद्ध और साफ छपा अठपेजा डेमी साइज ७०० पृष्ठका पुस्तक है। मू० २॥) है।

४–वाजसनेयोपनिषद्भाष्य।

यह वाजसनेयी संहितोपनिषत् शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेयीसंहिताका चालीसवां अध्याय है। संहिता के ३९ अध्यायोंमें कहा विधियज्ञ रूप कर्मकाण्डका अनुष्ठान जिस पुरुषने बहुत काल तक निरन्तर श्रद्धासे किया हो उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे वह इस चालीसवें अध्यायमें कहे ज्ञानका अधिकारी है। यह पुस्तक भी डिमाई साइज अठपेजा छपा है॥

५-तलवकारोपनिषद् भाष्य ।

यह पुस्तक भी ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी है । सामवेदीय तलवकार शाखाके नौ अध्यायोंमें से यह नववां अध्याय तलवकार वा केन उपनिषद् कहाता है। इसमें यक्षरूपसे प्रकट होके ब्रह्म परमात्माने अग्नि आदि देवोंसे संवाद किया उसका भी वर्णन है । परमात्मतत्वका इसमें अच्छे प्रकार विवेचन किया गया है । अठपेजा डिमाई चिकने कागज पर बढ़िया टायपमें संस्कृत तथा भाषा दोनों प्रकारके टीका सहित छपा है मू० ≡)

६—प्रश्नोपनिषद्भाष्य ।

मूलवेदान्त [वेद के सार सिद्धान्त] में से एक यह प्रश्नोपनिषद् है । अनन्त महागम्भीर वेदका सारांश इन उपनिषदों में दिखाया है । महर्षि पिप्पलादके पास आकर ब्रह्मविद्या विषयमें छः महर्षियोंने छः प्रश्न किये उनके छः प्रकारके उत्तर ही पुस्तकमें छः प्रकरण हैं । आत्मज्ञान वा ब्रह्मज्ञानके सब साधनोंमें यह उपनिषद् ही मूल तथा मुख्य है । और ज्ञान ही सबसे अधिक कल्याणकारी है इससे इन उपनिषदोंका लेना देखना सबको उचित है । अठपेजा डिमाईमें छपा १९ फारम का पु० संस्कृत भाषा टीका युक्त है मू० ॥)

७—उपनिषद् का उपदेश ।

प्रथम खण्ड

(अनुवादक पं० नन्दकिशोर शुक्ल)

इस समय संसारके सभी शिक्षित इस बातको सहर्ष स्वीकार करते हैं कि भारतदेशके अमूल्य धन उपनिषद् ग्रन्थोंमें जितनी तत्वपूर्ण बातें लिखी हुई हैं वे सब विशाल ज्ञानका अटूट भण्डार हैं हमारी प्यारी भाषामें उपनिषदोंको कई विद्वानोंने सटीक छापा है इनके द्वारा हिन्दीका बहुत कुछ उपकार हुआ है किसी २ ने शङ्करभाष्यका भी कुछ २ अनुवाद किया है तथापि सत्यके अनुरोधसे हमें कहना ही पड़ता है कि इन पुस्तकोंसे तत्वपिपासु व्यक्तियोंको जैसा चाहिये वैसा लाभ नहीं पहुंचा है क्योंकि किसी भी संस्करणमें शङ्करभाष्यका न तो मर्म ही खोला गया है और न श्रुतिके दार्शनिक एवं धर्ममतकी धाराप्रवाह समालोचना ही की गयी है, उसी कमीको दूर करनेके लिये हमने यह ग्रन्थ रत्न प्रकाशित किया है, पं० कोकिलेश्वर भट्टाचार्य विद्यारत्न एम० ए० कूचविहार दर्शन शास्त्रोंके बड़े अच्छे ज्ञाता

हैं, इन्होंने बङ्गलामें उपनिषदेंर उपदेश नामका एक महत्व पूर्ण ग्रन्थ कई खण्डोंमें लिखा है यह पुस्तक उसीके प्रथम खण्डका अनुवाद है. पं० नन्द-किशोर जी शुक्ल वाणीभूषणने इसका अनुवाद किया है इसमें छान्दोग्य और वृहदारण्यक इन दो उपनिषदोंकी सब आख्यायिकायें बड़ी ही मनोरम और प्राञ्जल भाषामें लिखी गयी हैं, साथ ही शंकर भाष्यका भावार्थ भी दिया गया है पुस्तकारम्भमें एक विस्तृत भूमिका भी है जिसमें दर्शनशास्त्र सम्ब-न्धी अनेकानेक बातोंकी आलोचनाकी गयी है और शङ्कर बुद्ध और हर्बर्ट स्पेन्सर इन फिलासफरोंकी उपनिषदोंके सम्बन्धमें मौलिक एकता का वि-वेचन किया गया है हिन्दीमें इस विषयका यह बहुत ही अच्छा ग्रन्थ है मू० १।) जिल्द वाली का १॥)

८—षोडशसंस्कारविधिः ।

(ले० पं० भीमसेन शर्मा)

हिन्दी भाषा में अब तक संस्कारों के विषयमें सांगोपांग पुस्तक कोई नहीं छपी द्विजातियों के लिये संस्कार बड़ी प्यारी वस्तु हैं और वर्त्तमानमें संस्कारों की दशा प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के यहां बड़ी शोचनीय हो रही है। शायद ही किसी भाग्यवान् के यहां पूरे २ सोलह संस्कार होते हों नहीं तो ४-६ मुख्य २ संस्कारों का कर लेना ही आजकल मुख्य कर्त्तव्य समझा जाता है इस में एक कारण यह भी है कि संस्कारों की अब तक पूर्ण पुस्तक कोई नहीं छपी संस्कार भास्कर आदि जो पुस्तकें बम्बई आदि में छपी हैं वे संस्कृत में होने से सर्वसाधारणके उपयोगी नहीं ऐसी कठिनताओं को देख कर पं० भीमसेन जी शर्मा ने इस पुस्तक की रचना की है ऊपर मूल संस्कृत और नीचे भाषा में उन के करने की पूर्ण विधि लिखी गयी है जिस के स-हारे थोड़े लिखे पढ़े भी संस्कार करा सकते हैं बड़ी पुस्तक है मू० १॥)

९—देवीमाहात्म्य ।

श्रुतिस्मृति पुराणोंका अभिप्राय लेकर एक ऐसे नये ढंग से देवी का स्व-रूप तथा महत्त्वादि वर्णन किया है कि जो सब किसी को लाभकारी जान पड़ेगा। देवी के उपासकों को तो विशेषकर देखने योग्य है ही परन्तु जो लोग देवीके उपासक नहीं हैं उनको भी देखना चाहिये कि कैसा उत्तम वि-चार लिखा गया है देश हितैषी लोगों के बड़े काम का है क्योंकि इस में बुद्धिरूपा देवीकी जागृति तथा देवी की महिमा भी दिखा दी है। इस में मूल वेदादि के प्रमाणों का अर्थ वा आशय नागरी में दिखाया है । सोलह पेजी रायल में छपा है मू० ।)

१०—सतीधर्मसंग्रह ।

इस में महाभारत तथा अनेक स्मृतियों से छांट २ कर स्त्रियों के करने योग्य सब कर्मों का वर्णन है यह पुस्तक स्त्री शिक्षा के लिये अपूर्व है यदि इसे स्त्रियों को पढ़ाया जावे तो वे अवश्य अपने आचरणों को सुधार सक्ती हैं तथा इस पुस्तक में लिखे आचरणों को यथावत् बर्त्तने से बड़े धीर वीर सन्तानों को पैदाकर इस लोक में अपनी कीर्त्तिपताका को फैलाकर परलोकमें भी पुण्यभागिनी हो सकती हैं । इस पुस्तक की एक २ प्रति प्रत्येक मनुष्य को खरीद करनी चाहिये ऊपर मूल में श्लोक तथा नीचे भाषा टीका है और उस के भी नीचे नोट में भावार्थरूप उपदेश दिया है । मू० ।)

११—पतिव्रता माहात्म्य ।

इस पुस्तक में महाभारत का एक बड़ा अच्छा उपाख्यान है पतिव्रता स्त्री का ऐसा रोचक इतिहास है कि जब तक समाप्त न कर लो तब तक भूख प्यास आदि सब जाते रहेंगे यदि इसको स्त्रियां पढ़ेंगीं वा सुनेंगी तो उनको पति में असीम भक्ति प्रकट होगी कन्या वा पुत्री पाठशालाओंके लिये इसे पाठ्य पुस्तकों में रखना चाहिये जो लोग खराब उपन्यासों को देखते हैं उन्हें उचित है कि ऐसे शिक्षा सम्बन्धी रोचक इतिहासों को देखें हम कहते हैं कि यदि ऐसी २ पुस्तकें कन्या वा स्त्रियों को पढ़ायी जाया करें तो भारतवर्ष की अभिलाषा शीघ्र सिद्ध हो । मूल्य ≡)॥ है

१२—भर्तृहरिनीतिशतक भाषाटीका ।

यद्यपि भर्तृहरि कृत तीनों शतक भाषाटीका सहित अन्यत्र भी छपे हैं तथापि इनको देखने वाले अन्य टीकाओं को रद्दी समझेंगे । अन्य छापोंके तीनों शतक इकट्ठे बिकते हैं उनका मूल्य भी अधिक है इसमें मूलके नीचे भाषामें अर्थ लिखकर उनके नीचे प्रत्येक श्लोक का सुगम भावार्थ लिखा है जिस से सब कोई लाभ उठा सकते हैं इस भावार्थ में सम्पादक ब्रा० स० के शुद्धान्तःकरण का अनुभव विशेषकर देखने योग्य है । बाल्यावस्था से बालकों को नीतिशतक चाणक्य नीतिसारसंग्रह और विदुरनीति पढ़ायी कण्ठस्थ करायी जावें तो बालकों का बड़ा सुधार हो सकता है । और यह नीति सब की विशेष हितसाधक होने से सभी के लिये महोपकारिणी देखने योग्य है । मूल्य ≡)

१३—शृङ्गारशतक भाषाटीका ।

यद्यपि नीति और वैराग्य के समान शृङ्गार विषय संसार का विशेष उपकारी नहीं है तथापि अन्य शृङ्गारों के तुल्य महाराजा भर्तृहरिजीका शृङ्गार विषय नहीं है किन्तु इस शृंगार विषयके भीतरभी ज्ञान वैराग्यादि विशेष उपकारी अंश कूट २ के भरे गये हैं इस से यह मनुष्यों का बड़ा उपकारी है। इसमें भी नागरी में स्पष्ट अक्षरार्थ लिखने के बाद गूढ़ भावार्थ सरल तथा सुगम भाषामें लिखा गया है। मूल्य प्रति पुस्तक ≡)

१४—वैराग्यशतक भाषाटीका ।

इस पुस्तक में श्लोकोंका सरल सुगम भावार्थ तदनन्तर मनुष्यों का अपने कर्त्तव्य में झुकाने सचेत करने अर्थात् चिताने वाला उत्तम भावार्थ भाषा में छपा है। भूल में पड़े वा मार्ग भूले मनुष्यों को जगाने वाला है आजकल प्रायः लोगों को नाटक नाविल उपन्यास विषयों की ऐसी ऐसी खराब पुस्तकें जिन से प्रति दिन विषयासक्ति बढ़ती जाती है उन में रुचि है। यदि ऐसे पुस्तक को एकबार भी जी लगाके पढ़ें तो दीन और दुनियां दोनों ही के लिये उपकार हो विशेषतः व्याख्यान देने उपदेश करने कथा बांचने तथा किसी विषय के लेख लिखनेमें अत्यन्त उपयोगी है। व्याख्यान तथा लेख को तो प्रभावशाली कर देता है। मू० ≡) तीनों शतक एक साथ लेने पर मू० ॥) है।

१५—गीतासंग्रह ।

यह पुस्तक भगवद्गीता से पृथक् है महाभारत रूपी समुद्र में से भगवद्गीता रूपी जैसा रत्न निकल चुका है वह किसी से छिपा नहीं है। भगवद्गीता ही के समान महाभारत में से छांट २ कर १२ गीतायें निकाल कर मूल और भाषाटीका सहित यह संग्रह तैयार किया गया है ज्ञान वैराग्य और नीति की तरफ रुचि रखने वालों के लिये यह गीतासंग्रह पुस्तक बड़ा ही उपकारी है इस में १ पुत्रगीता २ मङ्किगीता ३ बोध्यगीता ४ पिङ्गलागीता ५ शम्पाकगीता ६ अजगरगीता ७ शृगालगीता ८ षड्जगीता ९ हारीतगीता १० हंसगीता ११ व्यासगीता १२ नारदगीता इतनी गीतायें हैं मूल्य ।=)

१६—मानवगृह्यसूत्र ।

वेदके छः अंगोंमेंसे गृह्यसूत्र भी एक प्रधान अंग है। वैदिकधर्मावलम्बी हिन्दूमात्रको यह ग्रन्थ लेना चाहिये। जितनी कर्मकाण्डकी पद्धतियां बनती हैं, सबके मूल ग्रन्थ श्रौत तथा गृह्यसूत्र हैं। चार वेदोंकी ११३१ शाखायें हैं और प्रत्येक शाखाके भिन्न २ गृह्यसूत्र हैं। यह मानवगृह्यसूत्र कृष्ण यजुर्वेद की ८६ शाखाओंमें से मैत्रायणी शाखाका सूत्र है। यह पुस्तक अबतक हिन्दुस्तानमें नहीं छपा था हमने इसको सेण्टपिटर्सबर्ग (रूसकी राजधानी) से मंगवा कर भाषानुवाद कर सर्व साधारणके उपकारार्थ छपाकर बहुत कम दाम अर्थात् मूल्य ।।) रक्खा है डाकव्यय भिन्न है। यह आर्ष प्राचीन ग्रन्थ है हमने इस पर भाषा टीका करके छपाया है। यदि ग्राहक लोग ऐसे प्राचीन ग्रन्थोंकी अधिक अधिक प्रतिष्ठा करेंगे मंगावेंगे देखेंगे तो हम आगे आगे अन्य दुर्लभ प्राचीन ग्रन्थोंको प्रकाशित करनेकी चेष्टा और भी अधिक करेंगे। इस मानवगृह्यसूत्रके अन्तमें पुत्रेष्टिका विधान अत्युत्तम है॥

१७—आपस्तम्बीयगृह्यसूत्र ।

वेदके छः अंगोंमें से एक कल्प भी है। जिसके अन्तर्गत गृह्यसूत्र हैं। वेदकी बहुत सी शाखायें हैं और प्रत्येक शाखाओं वाले द्विजोंके लिये भिन्न२ ग्रन्थ हैं साङ्ग वेद पढ़नेकी परम्परा छूट जानेके कारणसे किस शाखाका कौन गृह्य व श्रौतसूत्र है यह बात सब किसीको ज्ञात नहीं रही है। इससे अधिकांश द्विज लोग शुक्ल यजुर्वेदीय पारस्कर गृह्यसूत्रानुसार संस्कार क्रिया कराया करते हैं। अतएव हमने सर्व साधारणके उपकारार्थ क्रमशः वेदोंके प्रत्येक शाखाके ग्रन्थोंका भाषानुवाद प्रकाशित करना आरम्भ किया है। यदि हमारे भाइयोंने ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंको ले २ कर सहायता दी तो शीघ्र ही अन्यान्य आर्ष ग्रन्थ सानुवाद प्रकाशित होंगे। यह आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र—कृष्ण यजुर्वेदकी आपस्तम्बीय शाखाका गृह्यसूत्र है। इसके प्रत्येक सूत्रोंका सरलभाषामें सुगम अर्थ सबके समझने योग्य किया गया है। पुस्तक देखने योग्य है तिसपर कागज वा छपाई अत्युत्तम होने पर भी दाम केवल ।) है॥

इसमें विवाहके समय कन्याकी परीक्षा ऐसी उत्तम लिखी है जिससे विवाहके बाद उसके विधवा होने वा सन्तान न होनेकी शंका सर्वथा मिट

जाती है अर्थात् कन्याकी ठीक परीक्षा करके विवाह किया जाय तो कदापि बीचमें विधवा नहीं होगी। और चिरायु पुत्रादि भी अवश्य होंगे॥

१८—पञ्चमहायज्ञविधि।

इसको आप दयानन्दीय पञ्चमहायज्ञविधि न समझें यह पुस्तक पारस्करादि गृह्यसूत्रानुसार सम्यक् विचारके साथ नागरी भाषाके विवरण सहित सब सनातनधर्मावलम्बी द्विजोंके उपकारार्थ ब्राह्मणसर्वस्वके सम्पादकने रचा है यद्यपि पञ्चमहायज्ञविधि अति प्राचीन है। पर कुछ कालसे इसका प्रचार अत्यन्त घट गया था। आर्यसमाजियोंने मनमाने शास्त्रविरुद्ध पञ्चमहायज्ञ चला दिये थे अब इस ठीक शास्त्रोक्त पञ्चमहायज्ञविधिके साथ मिलानेसे आ० समाजी पञ्चमहायज्ञविधि रद्दी जान पड़ेगी। इस पुस्तकमें मन्त्र ब्राह्मण गृह्यसूत्र और स्मृतियोंके प्रमाणोंसे पूरा पूरा विचार संस्कृत तथा नागरी भाषामें पञ्चमहायज्ञोंका लिखा गया है। पुस्तक अत्युत्तम देखने योग्य है। मूल्य =)

१९—यज्ञपरिभाषासूत्रसंग्रह।

साम्प्रतमें यद्यपि स्मार्त्तकर्म तो कहीं कहीं होते भी हैं पर श्रौत कर्मोंका इस समय अभाव सा हो गया है दाक्षिणात्य लोग अब भी यज्ञविषय जाननेमें प्रवीण हैं एतद्देशमें तो होम को ही यज्ञ मानने लगे हैं सर्वसाधारण भी यज्ञविषयको जानें इस लिये हमने सब यज्ञपरिभाषाओंको एकत्रित कर ऊपर सूत्र तथा संस्कृत टीका और भाषा टीका सहित छपाया है इस एक पुस्तकको ही देखनेसे संस्कृतज्ञ मनुष्य यज्ञविषयमें अच्छा जानकार हो सकता है यज्ञ करनेका अधिकार, देश काल, तथा पात्र, सामग्री ऋत्विज्, तथा देवताओंका वर्णन इत्यादि इसमें यज्ञ सम्बन्धी बातें बड़े समारोहसे दिखाई हैं। मूल्य ॥)

१—इन सब पुस्तकोंका डाकव्यय पृथक् होगा।

२—विशेष हाल जाननेके लिये)॥ का टिकट भेज बड़ा सूचीपत्र मंगालें।

मिलनेका पता—

मैनेजर, ब्रह्मप्रेस—इटावा

ब्रह्मप्रेस इटावाकी सर्वोत्तम पुस्तकें ।

आर्यमतनिराकरण प्रश्नावली ।

सनातनधर्मी सज्जनों को विपच्चियों से शास्त्रार्थ और शंकासमाधान करने के लिये जैसी पुस्तक की आवश्यकता है, यह वैसीही पुस्तक है, इसका प्रथम संस्करण छपते ही छूमन्तर हो गया था। मांगों की भरमार देखकर, इसका द्वितीय संस्करण छपाना पड़ा। अब इस में प्रश्नों की संख्या भी अधिक बढ़ा दी गई है। प्रश्नों की संख्या अब ४०० सौ से ऊपर पहुँच गई है। इस पुस्तक को हाथ में लेकर आप आर्यसमाजियों के कट्टर से कट्टर पण्डित को बात की बात में पछाड़ सकते हैं। इस में जो प्रश्न छापे गये हैं उनका जवाब आर्य्य समाजी एक जन्म में तो क्या सात जन्मों में भी नहीं दे सकते। मूल्य सिर्फ ।) आना।

भास्कराभासनिवारण ।

आर्यसमाजियोंके मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाशका खण्डन जिस खूबसूरती के साथ मुरादाबाद-निवासी पं० ज्वालाप्रसाद जी मिश्र ने किया है वह किसी से छिपा नहीं है; पर यह देखकर किसे शोक न होगा कि ऐसी उपयोगी पुस्तक का खण्डन भी मेरठ के समाजी पं० तुलसीराम जी ने करने का दुस्साहस किया है। इस में स्वामी तुलसीराम के बनाये उसी भास्करप्रकाश की आलोचना की गयी है। यद्यपि इस में पूरे भास्करप्रकाश का खण्डन नहीं है तथापि जितना लिखा गया है उतने से यह बात पाठकों को विदित हो जायगी कि पं० तुलसीराम ने अपनी पुस्तक में किस चालाकी से काम लिया है और किस तरह की परस्पर विरुद्ध बातें लिखी हैं। हम भास्करप्रकाश के पूरे पूरे खण्डन की एक पुस्तक शीघ्र छपाने के उद्योगमें हैं तब तक पाठकों को इसी से सन्तोष करना चाहिये। मूल्य ।)